कर्म की गति न्यारी

पं. अरुणविजय म.

कोंकण के शत्रुंजय समान
थाणा नगरे दो जिनालय
मुनिसुव्रतस्वामी भ.
भ.श्री आदिनाथ दादा

कर्म की गति न्यारी

भाग - १

-: लेखक :-

पंन्यास अरुणविजय गणिवर्य महाराज

राष्ट्रभाषा रत्न, साहित्य रत्न, जैन-न्याय-दर्शनाचार्य

प्रकाशक

श्री महावीर रिसर्च फाउन्डेशन

वीरालयम् - पुना

पुस्तक का नाम :- कर्म की गति न्यारी भाग - १

लेखक - प.पू. गच्छाधिपति आ.भ. श्री प्रेमसुरि म.सा.
के वडील बंधु एवं गुरुभ्राता
प.पू.आचार्य देव श्रीमद्विजय सुबोधसूरीश्वरजी म. के M.A.Ph.D.
हुए विद्वान शिष्य रत्न

प.पू.पंन्यास डॉ. श्री अरुणविजयजी गणिवर्य म.

प्रूफ संशोधक - मुनि श्री हेमन्तविजय महाराज

चतुर्थ आवृत्ति
प्रति - १००० वि.सं.२०६८, वीर सं.२५३८ इ.सं.२०१२
(पूज्य साधु साध्वीजी महाराजों को सप्रेम)
पडतर किंमत ९०/-

✱ प्राप्ति स्थान ✱

वीरालयम् जैन तीर्थ
N.H.4 कात्रज बायपास,
मुंबई - बेंगलोर,आंबेगांव(खुर्द)
पो. जांभुलवाडी
पुना -४११०४६

गुलाबचंदजी जे. जैन
B-1,3rd मातृआशीष सोसायटी
३९, नेपियन्सी रोड,
मुंबई --४०००३६

वीरालयम् जैन तीर्थ
A-3 ज्ञात विक्रान्त,
17- B पोद्दार स्ट्रीट,
एस. वी. रोड
सान्ताक्रुज (प.) मुंबई - ५४

समर्पण

उपकारीओं के उपकार का स्मरण
समग्र विश्वमें...अजोड एवं अद्वितीय महान उपकारी
ऐसे जिनेश्वर परमात्मा के शासन में जिन्होने जन्म दिया
उच्च संस्कारों से सिंचन किया ऐसे जन्मदाता जननी जनक
१२ व्रतधारी तपस्विनी सुश्राविका

श्रीमति शान्तिदेवी गुलाबचन्दजी जैन

तथा

भवोदधि तारक... सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र
भगवती प्रवृज्या देकर आत्मा को मोक्षमार्ग के
सोपानों पर आरुढ करनेवाले
प.पू.गच्छाधिपति आचार्य देव

श्रीमद्विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराज सा.

के वडील बंधु एवं गुरुभ्राता

प.पू.आचार्य देव

श्रीमद्विजय सुबोधसूरीश्वरजी म.सा.

उभय उपकारीओं के उपकार स्मृति करते हुए पूज्यों के
चरणारविंद में सादर समर्पण...

अरुणविजय

प्रस्तावना

बेडी में या जेल में बंधा हुआ कैदी अपने आपको बन्धनग्रस्त न मानकर यदि मुक्त माने, तो यह कितनी बडी अज्ञानता सिद्ध होगी? ठीक इसी तरह समग्र संसार के छोटे-बडे सभी संसारी जीव कर्म के बंधन से जो बंधे हुए हैं, वे यदि अपने आपको मुक्त माने तो यह कितनी बडी अज्ञानता सिद्ध होगी? जो संसारी हो और कर्मग्रस्त न हो ऐसा एक भी जीव नहीं है, और न ही हो सकता है। संसारी होना यही सिद्ध करता है कि- किसी ने किसी प्रकरार के कर्मो से बंधन ग्रस्त है ही। जिस दिन संसार से मुक्त हो जाएगा, संसार का बंधन ही नहीं रहेगा, बस उसी दिन जीव कर्म जंजीरे से भी सदा के लिए मुक्त होगा। यदि इस भाषा को इस तरह कहें कि जिस दिन कर्म बंधन से मुक्त होगा, उसी दिन संसार के बंधन से मुक्त होगा। क्योंकि संसार का आधार कर्मों पर ही है। कर्म जन्य संसार और पुनः संसार जन्य कर्म, इस तरह दोनों ही एक दूसरों के कार्य-कारण बनकर जन्य-जनक होते हैं। कर्म से संसार बनता है, संसार से पुनः कर्म बंधते ही जाते है। जैसे अंडे से मूर्गी और मूर्गी से अंडा, अंडे से मूर्गी और मूर्गी से अंडा यह क्रम चलता ही रहता है, उसी तरह कर्म द्वारा संसार और फिर संसार द्वारा कर्म, यह क्रम अनन्त काल तक चलता ही रहता है। शायद यह पढकर आप ऐसा सोचेंगे कि तो फिर इस कर्मचक्र से कभी छुटकारा हो ही नहीं सकता है? नही, ऐसी बात नहीं है। जैसे यदि कहीं अंडा फुट जाय तो मूर्गी पैदा नही होगी और यदि कहीं मूर्गी जल्दी ही मर जाय तो अंडा ही पैदा नहीं होगा तो आगे क्रम नहीं चल सकेगा। ठीक उसी तरह यदि नए कर्म बांधने ही बंद कर दिये जाय, और साथ ही भूतकाल के समस्त पूराने कर्मो का क्षय (निर्जरा) कर दी जाय तो यह जीव कर्मबंधन से सर्वथा मुक्त हो जाएगा। तो संसार का चक्र सदाकाल के लिए रुक जाएगा।

कर्ममुक्ति किल मुक्तिरेव बस, यही कर्ममुक्ति ही सच्ची मोक्ष है। जो मुक्त हो चूका हो उसका संसार से छुटकारा हो ही गया हो, क्योंकि संसार का कारण कर्म था और कर्म के कारण ही संसार चल रहा था, अतः मूलभूत कारण स्वरुप कर्मो का ही क्षय हो जाता है। सर्वथा समूल साद्यन्त नष्ट हो जाने के पश्चात् संसार ही कहां से रहेगा? ऐसी अवस्था में जीव संसार से उपर उठ जाएगा, संसार रहित असंसारी-मुक्त बन जाएगा। मुक्त और संसारी यही दो मूलभूत अवस्था जीवों की है। अतः मुक्त जीव सभी सर्वथा सर्व कर्म रहित होते हैं।

जब जीव मुक्त हो गया तब अशरीरी भी बन गया है। मोक्ष में अब इस शरीर के बंधन की भी आवश्यकता नहीं है। बस, मुक्त तो मुक्त ही है। हर तरह से - सब दृष्टि से मुक्त ही है। संसार के बंधन से मुक्त है, राग - द्वेष से मुक्त, शरीर संबंध से मुक्त, जन्म-मरण के चक्र से मुक्त बस, हर तरह से सब दृष्टि से मुक्त वहि सच्चा मुक्त है। सदा के लिए मुक्त है वहि मुक्ति-मोक्ष है। उस मुक्तात्मा को न तो वापिस संसार में आना है, न हि कर्म बांधने है, नहि जन्म-मरण धारण करने है। न ही शरीर बनाना है और न हि संसार बसाना है। नही कुछभी नहीं, कभी भी नहीं न सुख, न दुःख। कभी भी नहीं, कदापि नहीं। सदा अनन्त काल के लिए अशरीरी, असंसारी, अकर्मी, अजन्मा ही रहेगा। बस, स्वस्वरुपमें मुक्तात्मा सदा आनन्द ही आनन्द सच्चिदानंद की अनुभूति करती ही रहेगी। भले अनन्त काल बीत जाय फिर भी क्या? अब मुक्तात्मा काल निरपेक्ष-काल से परे अकाल बन गई है। काल से जो परे उपर उठ गयी है, उसके लिए काल का बंधन रहा ही नहीं है। अतः वह संसार

की कालगणना के व्यवहार में भी नहीं आनेवाली है। वह अनन्तकाल तक मुक्तात्मा के स्वरुप में ही स्थिर रहेगी। जिस ने संसार में कर्मग्रस्तावस्था में अनन्तकाल बिताया है और सुख-दुःख भोगा है,वह अब ऐसे संसार से सदा के लिए मुक्त हो जाने के बाद वापिस क्यों संसार में आए? मुक्त जीव चाहे तो भी संसार में पुनः नहीं आ सकता क्योंकि संसार में आने के लिए पुनः कर्म करने पडते हैं। जबकि मोक्ष में गई मुक्तात्मा को किसी भी प्रकार के कर्मों को बांधने की कोई संभावना ही नहीं है। वहां मुक्तात्मा सर्वथा क्रिया रहित अक्रिय है-निष्क्रिय है, न मन है, न वचन हैष न काया है, न इन्द्रिया है, न कुछ है अतः अक्रिय, अमनस्क, अशरीरी, अनिन्द्रिय बनी हुई आत्मा जब किसी भी प्रकार की कोई इच्छा ही नहीं करेगी तो क्रिया कहां से होगी ?, और मन, वचन, काय-इन्द्रिया आदि की क्रिया के बिना कर्मो का बंध कहां से होगा? और जब कर्म बंध ही नहीं नहीं होगा तो संसारमें कहां से आएगी? जब संसार में ही नहीं आएगी तो शरीर कहां से बनाएगी? फिर तो जन्म-मरण, सुख-दुःख आदि होगा ही कहां से? बस, कारण ही नहीं है तो कार्य कहां से बनेगा? ब मिट्टी ही नहीं है तो घडा बनेगा ही कहां से ? ठीक वैसे ही कर्म न होतो फिर संसार बनेगा कैसे? यही मोक्ष है। छुटकारा बंधन से संबंधित है। किससे? कर्म के बंधन से छुटकारा। सदा से जिस बंधन से बंधा हुआ था अर्थात् र्म के बंधन से जो बंधा हुआ था, उससे सदा के लिए छुटकारा ही सदा मुक्ति है। अब मोक्ष भी सदा के लिए ही है।

संसारी अवस्था में यही जीव के लिए साध्य है। इसी साध्य के लिए जीवात्मा ने साधना की और कर्मो के सामने सदा झूझता रहा, तब जाकर एक दिन कर्मक्षय की साधना में सिद्धि सफलता पाई और जीव कर्म रहित बन पाया। बस, इस सिद्धिने ही जीव को सिद्ध बना दिया है। अब यह जीव सिद्ध, मुक्तात्मा, सिद्धात्मा । अकर्मी, असंसारी, अकाल, अजन्मा होना ही मोक्ष है। यही हमारा अन्तिम साध्य है। साध्य की भी एक अन्तम अवस्था आती है और वह भी यहीं आकर रुक जाता है। बस, इसके आगे अब साध्य नहीं है। अतः अन्तिम साध्य ही मोक्ष है। जिससे छुटकारा पाना है उसे भी पहचानना अत्यन्त आवश्यक होता है। दुःख जिस किसी भी कारण जन्य क्यों न हो? दुःख सबके लिए ही अप्रिय होता है। अतः त्याज्य होता है। अतः दुःख को छोडने के लिए, दुःख के स्वरुप और प्रकार आदि को सुखई-दुःखी लोक अच्छी तरह जानते, पहचानते है उसे पहचानने की दिशा में प्रवृत्तिशील रहते हैं। ठीक उसी तरह दुःखादि सबकी मूल जड तो कर्म ही है। समस्त कर्म को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

मैं ज्ञान दर्शनादि चेतनवान् आत्मा हु। ज्ञान-दर्शनादि गुणों को ढकनेवाले आवरक कर्म ही है। अतः कर्म आत्मा के रिपु-शत्रु है। इस अरि का हनन (नाश) करना ही साधना है। यह साधना करने पर ही सिद्धि प्राप्त होगी। ऐसी सिद्धि को पाए हुए को अर्थात् कर्मरुप आत्म अरियों(शत्रुओं) का हनन करनेवाले ही सर्वथा कर्मावरण रहित अकर्मी, अशरीरी, अजन्मा, अकाल अवस्था प्राप्त हो जाय यही सिद्धावस्था है। वे ही सिद्ध कहलाते है। अरिहंत सदेह मुक्त ईश्वर (परमात्मा) है और सिद्ध विदेह मुक्त परमात्मा ईश्वर है।

ये आत्मशत्रु कर्म कहां से आए? क्या किसी अन्य द्वारा आए हैं ? नही. मेरे कर्मों का कर्ता मैं स्वयं हु। न कोई अन्य। मैंने ही राग-द्वेषादि द्वारा जो पाप प्रवृत्ति की है उसी पाप के बने हुए पिंड को कर्म कहते है। मैंने ही कर्म को बनाया है। मेरे ही बनाए हुए है। मकडी जैसे स्वयं की बनाई जाल में फस जाती है वैसे ही मैं भी कर्म रुपी जाल में फस चूका हु। अब इस कर्म की बिछाई हुई जाल को भेदने हेतु दुश्मन की ताकात का परचा प्राप्त कर ही लेना चाहिए। यह कर्म शत्रु कौन है? कैसे है ?ये किस तरह बने है? क्या करने इसका निमार्ण हुआ है? इनके मुख्य भेद-प्रभेद कितने

है? कर्म का घटक द्रव्य क्या है? बंधने के बाद कितने विभग में विभक्त होते ह? काल समय गणना के साथ कर्म का तालमेल कितना है? कैसा है? बंधने के बाद कर्मों की बंध स्थिति कितनी कम ज्यादा है? ये कितने काल तक टिकते हैं? कब क्षीण होते हैं? कर्मो का विपाक-विपाकोदय कैसा होता है। क्या कर्म का फल कोई दूसरा देता है? या स्वयं ही मिलता है? कर्म जड है यै चेतन? कर्म बलवान है कि आत्मा बलवान है? कर्म का बन्ध, उदय, उदीरणा तथा सत्ता कितनी प्रबल और विशाल है? ऐसे सेंकडो प्रश्नो के उत्तर की खोज कराई गई है। पाठक गण गोताखोर बनकर इस पुस्तक की गहराई तक पहुंच पाएंगे तो जरूर कुछ रत्न हाथ लगेंगे। कर्म शत्रु की सेना कितनी लम्बी चौडी है? इस सेना का नायक राजा कौन है? मंत्री सेनाधिपति कौन है? इसके साथ युद्ध छेडने साथ युद्धि छेटने में व्युहरचना करने में(आत्मा को) कैसी नाक़ाबंदी और रचना करनी पडेगी? कैसे इन कर्मो को म्हात कर पाउंगा?

चेतनात्मा है, जो ज्ञान, दर्शनादि गुणवान है। ज्ञान,दर्शनादि गुण कर्मग्रस्त है। कर्म भार से दबे हुए है। कोई हरकत नहीं, जितने भी दबे हुए हैं, ठीक है, अभी भी मौका है। ये कर्म कितनी ही शक्ति प्रदर्शन करे, अख़िर तो सभी जड है। अजीव है। कार्मण वर्गणा के जड पुद्गल परमाणुओं द्वारा बने हुए पिंड स्वरुप है, और मैं तो अनन्त शक्तिशाली चेतनात्मा हुं। क्या मैं सिर्फ जड कर्मो को परास्त नहीं कर पाउंगा? क्यों नहीं? सव्वपावप्पणासणो सर्व पाप कर्मो का नाश करना ही सिद्ध करने योग्य साधना कर रहा हुं। फिर क्यों नहीं कर्मक्षय कर पाउंगा?

भूतकालमें मेरे जैसी अनन्त आत्माए हुई है जिन्होने समस्त कर्मो का सर्वथा क्षय किया है, और सदा के लिए बंधन से मुक्त बनी है।

प्रस्तुत पुस्तक साधकों-आराधकों को कर्म विषयक जानकारी प्रदान करने में सहायक है। यद्यपि जैन शासन का कर्मविज्ञान महासागर से भी ज्यादा अत्यन्त गहन एवं अगाध है। लेकिन यह तो प्राथमिक प्रवेश करनेवालों के लिए सिर्फ परिचयात्मक ज्ञान प्राप्त करानेवाला प्राथमिक सामान्य संस्करण है। इससे जैन कर्मविज्ञान का प्राथमिक बोध ही प्राप्त होगा। विशेष गहराई में पहुंचने की जिज्ञासावालों को अन्य गहनतम कठिन ग्रन्थों का दोहन करना चाहिए।

जैन कर्मशास्त्रों में आठ कर्म मुख्य बताए गए है। इनमें से सिर्फ एक ज्ञानवरणीय कर्म का विवेचन प्रस्तुत प्रथम भाग में उपलब्ध है। अतः पाठक वर्ग को चाहिए कि आठों कर्म का साद्यन्त सांगोपांग व्यवस्थित अध्ययन पद्धति से अभ्यास करने हेतु बाकि के दो भाग भी अवश्य बसा लें।

यह कथा-नॉवेल की पुस्तक नहीं है कि जिसे एकबार शिघ्र ही पढकर एक तरफ रख दी। यदि आप जैन शास्त्र के अगाध कर्मविज्ञान की अतल गहराई में प्रवेश करना चाहते हो तो प्रथम इस ग्रन्थ को अभ्यास की दृष्टि से अच्छी तरह पढने का प्रयत्न करें। व्याख्याएं समझकर पदार्थों को स्पष्ट करीए। ताकि आगे आसान लगने लगे।

आशा है, पाठक वर्ग इस पुरुषार्थ को न्याय देगा। हिन्दी वाङ्मय क्षेत्र में ऐसे ग्रन्थों की कमी महसूस हो रही थी अतः हिन्दी भाषी वर्ग से प्रेरणा पाकर प्रस्तुत हिन्दी संस्करण तैयार करके जैन शासन के चरणों में समर्पित करते हुए धन्यता का अनुभव कर रहा हुं। वाचक गण इस संस्करण के माध्यम से कर्मविज्ञान का सही स्वरुप समजकर कर्मक्षय की दिशा में अग्रसर होकर अन्तिम धाम मुक्तिपुरी में यथाशिघ्र स्थान प्राप्त करें इसी शुभेच्छा सह.....

- पंन्यास अरुणविजय गणिवर्य महाराज

पुस्तक प्रवेश द्वार

प्रस्तावना..............................

१) संसार चक्र एवं आत्म परिभ्रमण................१

२) संसार की विचित्रता के कारण की शोध......३९

३) कर्म सत्ता का अस्तित्व...................... ९०

४) जैन दर्शन में ज्ञान का विशिष्ट स्वरुप.........१५९

संसार चक्र एवं आत्म परिभ्रमण

परमपिता परमात्मा चरम तीर्थपति श्रमण भगवान श्री महावीरस्वामी को नमस्कार पूर्वक.

न सा जाइ, न तत् जोणी, न तत् कुलं न तत् ठाणं।
जत्थ जीवो अणंतसो, न जम्मा न मुआ ।।

ऐसी कोई जाति नहीं है, ऐसी कोई योनि नहीं है, ऐसा कोई कुल नहीं है, ऐसा कोई स्थान(क्षेत्र) नहीं है, जहां पर जीव अनंतबार न जन्मा न हो और न मरा हो, अर्थात् समस्त ब्रह्मांड की एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक की सभी जातियों में, ८४ लाख जीव योनिंयों में, सभी कुलों में, सभी स्थानों (क्षेत्रो) में यह जीव अनंत बार जन्म-मरण धारण कर चुका है।

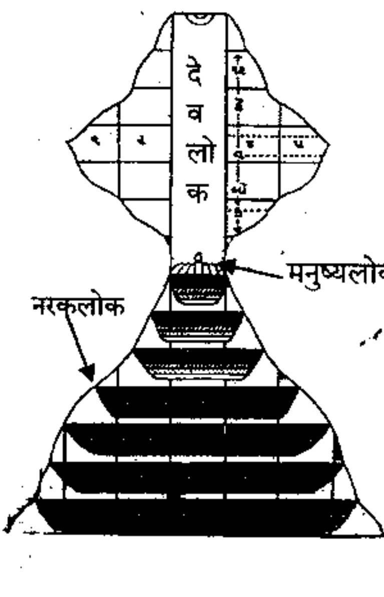

अविरत परिभ्रमण :-

इस ब्रह्मांड में तीन लोक हैं(१) देवलोक, जिसे ऊर्ध्व लोक (स्वर्ग) भी कहते है। (२) मनुष्य लोक (मृत्यु लोक) या तिर्च्छा लोक (३) अधोलोक - पाताल या नरक लोक। इन तीनों लोकों में जीवसृष्टी है। देवलोक जिसे स्वर्ग कहते हैं वहां स्वर्गीय देवी-देवता रहते हैं। तिर्यक् लोक में मनुष्य और तिर्यक् अर्थात् पशु-पक्षी रहते हैं। अधोलोक में सात नरकों में नारकी जीव रहते हैं। इन तीनों लोकों में जीव का गमनागमन अविरत चलता रहता है। इन्हीं तीनों लोक के जीवों का चार गति में विभाजन जैन शास्त्रों में किया गया है। मृत्यु के बाद जीव जिस क्षेत्र में जाकर जन्म लेता है वह उसकी गति कहलाती है। इन्ही चारों गतियों में जीव अविरत परिभ्रमण करता है। चारों गतियों में जाता हुआ जीव तीन लोक को अपना क्षेत्र बनाता है। उस-उस क्षेत्र में-लोक में जीव रहता है।

हथूंडी तीर्थ मंडन मूलनायक श्री राता महावीरस्वामी भगवान

ग्र विश्वमें महावीर प्रभु की यह एक मात्र अद्वितीय-अलभ्य मूर्ति है। जो रेती, चूने एवं मिट्टि के संमिश्रण से सं. ३६० की साल में बनी हुई राता (लाल)रंग के वज्रलेपवाली १७०० वर्ष प्राचीन ऐतिहासिक अलौकिक मत्कारिक अद्भूत महाप्रभावक भव्य प्रतिमा है। एक बार हथूंडी तीर्थ की यात्रा का लाभ अवश्य लिजिए।

श्री हथूंडी राता महावीर तीर्थ

पो. बिजापुर, वाया बाली, स्टे. फालना, जिला-पाली (राज.) ३०६७०७

गुरुराज को सदा मोरी वंदना

प. पू. आचार्य देव श्रीमद्विजय
धर्मसूरीश्वरजी म. सा.

प. पू. आचार्य देव श्रीमद्विजय
भक्तिसूरीश्वरजी म. सा.

प. पू. आचार्य देव श्रीमद्विजय
प्रेमसूरीश्वरजी म. सा.

प. पू. आचार्य देव श्रीमद्विजय
सुबोधसूरीश्वरजी म. सा.

तत्त्व चिंतक-तात्विक-सात्विक साहित्य के सर्जक, सचित्र शैली की पुस्तकें लिखनेवाले सिद्ध हस्त लेखक, सैद्धान्तिक सत्त्वसभर सचित्र शैली के प्रवचनकार, दार्शनिक पद्धति से तर्क युक्ति पूर्वक समझानेवाले, अनेक शिबीरों द्वारा युवावर्ग को सीखानेवाले, ध्यान योग साधना शिबिर के प्रणेता, वीरालयम् के स्वप्न दृष्टा, साधर्मिकों के राहबर, श्री हथूंडी तीर्थ के जीर्णोद्धारकारक, श्री महावीर रिसर्च फाउन्डेशन के आद्य प्रणेता, श्री महावीर विद्यार्थी कल्याण केन्द्र के प्रेरणास्त्रोत, जैन श्रमण संघ के **M. A., Ph.D.** सुप्रसिद्ध विद्वान,

संशोधनात्मक महाप्रबंध के लेखक

प. पू. पंन्यास प्रवर डॉ. श्री अरुणविजयजी गणिवर्य महाराज

(राष्ट्र भाषा रत्न, साहित्य रत्न **M.A.**, दर्शन शास्त्री **B.A.**, जैन-न्याय दर्शनाचार्य **M.A., Ph.D.**)

जहां महावीर प्रभु की राता (लाल) रंग के वज्र लेपवाली समग्र विश्व की एक मात्र अलभ्य मूर्ति है ऐसे राजस्थान राज्य की मरुभूमि पर गोडवाड प्रान्त के गौरव समान श्री हथूंडी तीर्थ है। जो नदी के किनारे प्राकृतिक सौंदर्य से सुशोभित प्रदूषण रहित-शान्त वातावरण में स्थित है। जैन श्रमण संघ के डबल M. A., Ph.D. हुए सुप्रसिद्ध विद्वान पू. पंन्यास डॉ. श्री अरुणविजयजी म.सा. की प्रेरणा-सदुपदेश एवं मार्गदर्शनानुसार नवनिर्मित ३ गढ, १२ चोकियां, १२ प्रवेश द्वार, अशोक वृक्षात्मक सामरण युक्त श्री महावीर वाणी समवसरण मंदिर बना है। अंदर आगम मंदिर व गणधर मंदिर है, चौमुखजी प्रभुजी की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। भ. महावीर की देशनात्मक वाणी विविध भाषाओं में लिखि गई है। इस तीर्थ में ठहरने हेतु उत्तम धर्मशाला तथा भोजनशाला आदि की सुंदर व्यवस्था है। आइए... पधारिए.... एक बार इस तीर्थ की यात्रा करने अवश्य पधारिए।

श्री पार्श्वनाथ भगवान की नौं फीट की श्यामवर्णी विशाल प्रतिमा गादी - परिकरादि सह वीरालयम् में नवनिर्माणाधीन ''श्री वर्धमान समवसरण ध्यानालयम्'' में बिराजमान होगी ।

वीरालयम्
कात्रज, पुणे.
VEERALAYAM
Katraj, Pune.

श्री वर्धमान समवसरण ध्यानालयम्   वीरालयम्, कात्रज, पुणे.

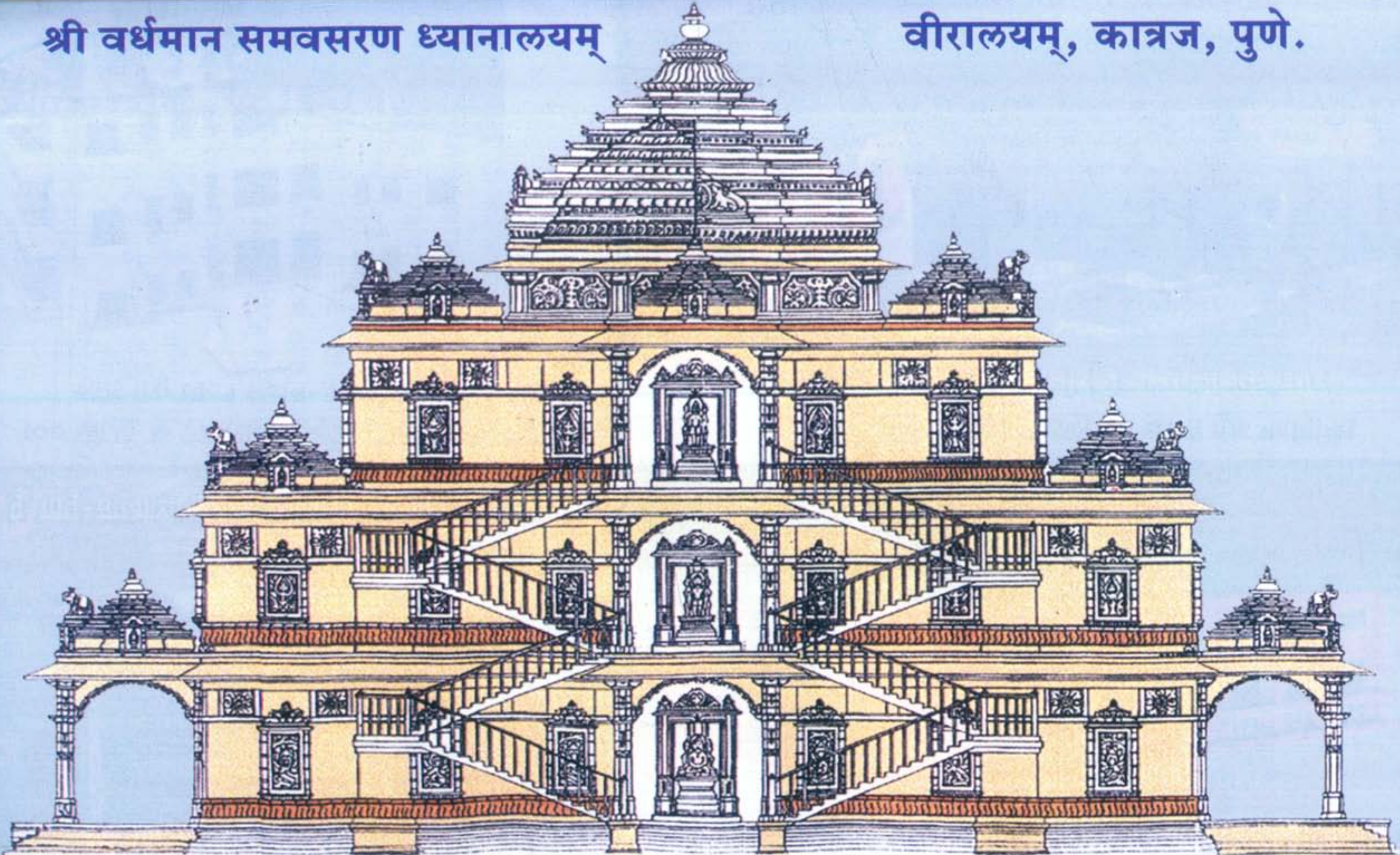

पू. साधु-साध्वीजी महाराजों की आराधना के लिए सुंदर उपाश्रय

दो डायनिंग हॉल एवं दो किचन युक्त
विशाल भोजनालयम्

५०० स्क्वे.फू. के एक ऐसे १० ब्लॉक, जिसमें हॉल, शयनकक्ष,
रसोई घर, स्वतंत्र संडास-बाथरूमादि सुविधा युक्त
सुंदर धर्मशाला

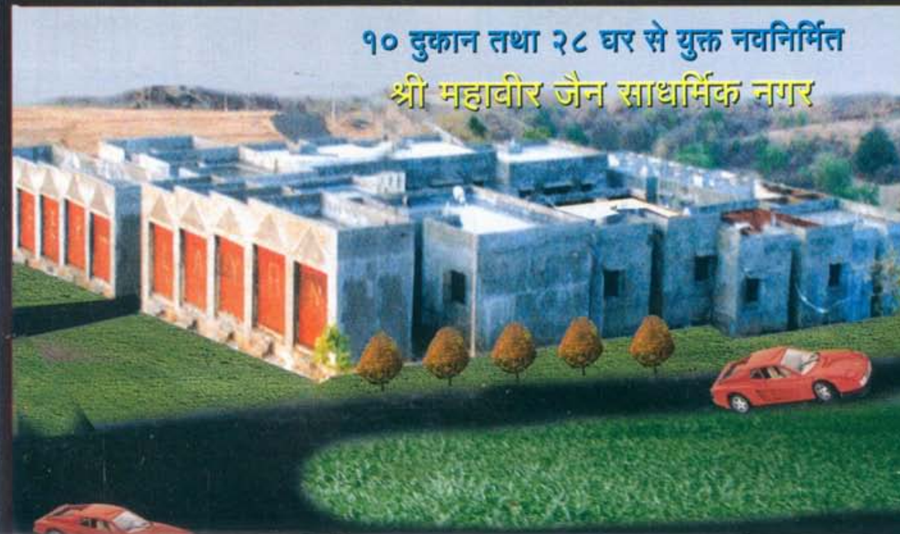
१० दुकान तथा २८ घर से युक्त नवनिर्मित
श्री महावीर जैन साधर्मिक नगर

चार गति में गमनागमन :–

जैन धर्म में स्वस्तिक एक मंगल चिह्न के रुप में माना गया है। अष्ट मंगल में वह पहला मंगल है। मंदिर में, अष्ट प्रकारी पूजा में स्वस्तिक बनाकर प्रभु के समक्ष प्रार्थना की जाती है कि हे प्रभु ! मैं इस चार गतिरूप संसार के परिभ्रमण से कैसे बचुं? मृत्यु के बाद देह छोड़कर जीव एक गति से दूसरी गति में जाता है। ऐसी ४ गतियां है (१) मनुष्य गति (२) देव गति (३) नरक गति और (४) तिर्यंच गति। इन चारों गति के जीवों के निवास स्थान के क्षेत्र रूप में तीन लोक है। तीन लोक स्वरूप इस समस्त ब्रह्मांड का परिमाण १४ रज्जु लोक प्रमाण होने से इसे चौदह राजलोक कहते हैं, इसी में समस्त जीव राशि सन्निहित है।

संसार चक्र :–

संसार क्या है? क्या संसार किसी वस्तु या पदार्थ विशेष का नाम है? या क्या किसी चिडिया का नाम है? क्या हाथ में लाकर हम वस्तु दिखाकर कह सकते हैं कि इसका नाम संसार है? नहीं, संसार जीव के परिभ्रमण को कहा जाता है। चार गतिरूप यह संसार है जिसमें जीवों का परिभ्रमण सतत होता रहता है। जिस तरह एक तैली के यहां कोल्हू का बैल घूमता रहता है, आंख पर पट्टी बंधी हुई और गोल–गोल घूमता रहता है। उसी तरह जीव एक गति से दूसरी, दूसरी से तीसरी, तीसरी से चौथी इन चारों गति में घूमता रहता है। यही जीव का संसार है।अतः संसारी जीव का लक्षण करते हुए पू. हरिभद्रसूरि महाराज ने 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' ग्रंथ में कहा है कि ––

यः कर्ता कर्मभेदानां भोक्ता कर्म फलस्य च।
संसर्ता – परिनिर्वाता सह्यात्मा नान्यलक्षणः ।।

जो कर्म का कर्ता है और किए हुए कर्म के फल को भोगने वाला है, संसार में सतत जो घूमता रहता है, वही जीव है। यही आत्मा का लक्षण है, सृ–गतौ धातु से संसार शब्द निष्पन्न हुआ है, अर्थात् सतत गतिशील जो है वह संसार है। संसरणशील संसार है। बहती हुई नदी का प्रवाह भी सतत गतिशील है उसे संसार नहीं कहा, परन्तु जहां सतत जीवों का संसरण होता है वह संसरणशील संसार है। सर्पाकार वक्रगति से जीव ऊंची–नीची गतियों में सतत भटक रहा है। न तो कोई उद्देश है और न कोई लक्ष्य। लक्ष्यहीन रूप में कोल्हू के बैल की तरह सिर्फ चारों गति में घूमता है।

एक गति से दूसरी गति में :–

स्वस्तिक के केन्द्र में जीव है। जैन दर्शन में जीव और आत्मा ये दोनों ही पर्यायवाची शब्द है। जीव को ही आत्मा और आत्मा को ही जीव कहा गया है। जीव

और आत्मा में कोई भेद नहीं है। जीव के परिभ्रमण के लिए संसार में चार गतियां है। जिनको स्वस्तिक से सूचित की गई है। बताए हुए चित्र के अनुसार स्वर्गीय देव गति का जीव अपनी मृत्यु के बाद वहां से च्युत होकर सिर्फ २ ही गति में जाता है एक तो तिर्यंच गति में घोड़ा, गधा, हाथी, ऊंट, बैल, बकरी आदि के जन्म धारण करता है। स्वर्ग अत्यन्त सुखरुप होते हुए भी वह मोक्षस्वरुप नहीं है। जैन दर्शन में स्वर्ग को भी संसार में ही गिना है। स्वर्ग प्राप्त करना कोई बड़ी बात नहीं है। वही सर्वोपरि या सब कुछ नहीं हैं। पशु-पक्षी भी मृत्यु पाकर देवगति में-स्वर्ग में जाते हैं। देव बनते हैं। भगवान महावीरस्वामी ने जिस चंडकौशिक सर्प को 'बुझ-बुझ-चंड़कौशिक!' शब्दों से संबोधित किया वह सांप जागृत हुआ। अंतस्थ चेतना जागृत हो गई, उहा-पोह से पूर्व जन्म की जाति स्मृति का ज्ञान प्रगट हुआ। अपने ही भूतकाल को देखने लगा। पूर्व जन्मों को देखने लगा। उसे अपने किए हुए पााप कर्म आंखो के सामने दिखाई देने लगे, मनुष्य जन्म में से गिरकर मैं आज यहां पशु गति में आया हूं। पापों का पश्चाताप शुरू हुआ है, पश्चाताप की अग्नि में १५ दिन उपवास (पासक्षमण) अनशन करके अशुभ पापकर्म क्षय करके आठवें सहस्त्रार स्वर्ग में गया।

भगवान पार्श्वनाथ जब गृहस्थाश्रम में थे तब घोडे पर बैठकर नगर के बाहर गए हुए थे। कमठ तापस पंचाग्नि तप कर रहा था उसके जलाए हुए काष्ठों में एक सर्प जल रहा था। अपने ज्ञान से देखकर पार्श्वकुमार ने आज्ञा देकर सैनिक के व्दारा एक जलता हुआ बांस निकलवाया और उसमें से साँप को बाहर निकाला, जो अर्धा तो जल चुका था अर्धदग्ध देहवाले उस सर्प को नमस्कार महामंत्र सुनाया। सांप की चेतना ने शान्ति का अनुभव किया। मृत्यु पाकर देव गति में जाकर नागराज धरनेन्द्र देव बना।

अतः स्वर्ग प्राप्त करना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जैन धर्म ने देवगति-स्वर्ग को इतना ज्यादा महत्त्व नहीं दिया है जितना वैदिक परम्परा ने दिया है। अतः देवगति भी संसार चक्र की चार गतियों में से एक है। वहां भी जन्म-मरण आदि सतत है। देवगति से अक्सर मृत्यु पा कर ९०% देवताओं के जीव तिर्यंच-पशु-पक्षी की गति में जाकर जन्म लेते हैं।

एक स्वर्गीय देव जो मनुष्य लोक में तीर्थ-यात्रा करने निकला था, कि उसने पर्वतमाला की गुफा में एक ज्ञानी मुनि महात्मा को देखा। वहाँ जाकर वंदन-नमस्कार कर बैठा। तपस्वी मुनिराज अपनी ध्यान साधना समाप्त करके बैठे थे। देव ने पूछा- "हे भगवन् ! कृपा करके मेरी आगामी गति क्या होगी? वह बताइए।" महात्मा ने अपने ज्ञान के उपयोग पूर्वक देख कर बताया कि "हे देव! देव भव से मृत्यु के बाद तुम्हारी तिर्यंच गति होगी। तुम तिर्यंच गति में जाकर बन्दर की योनि में

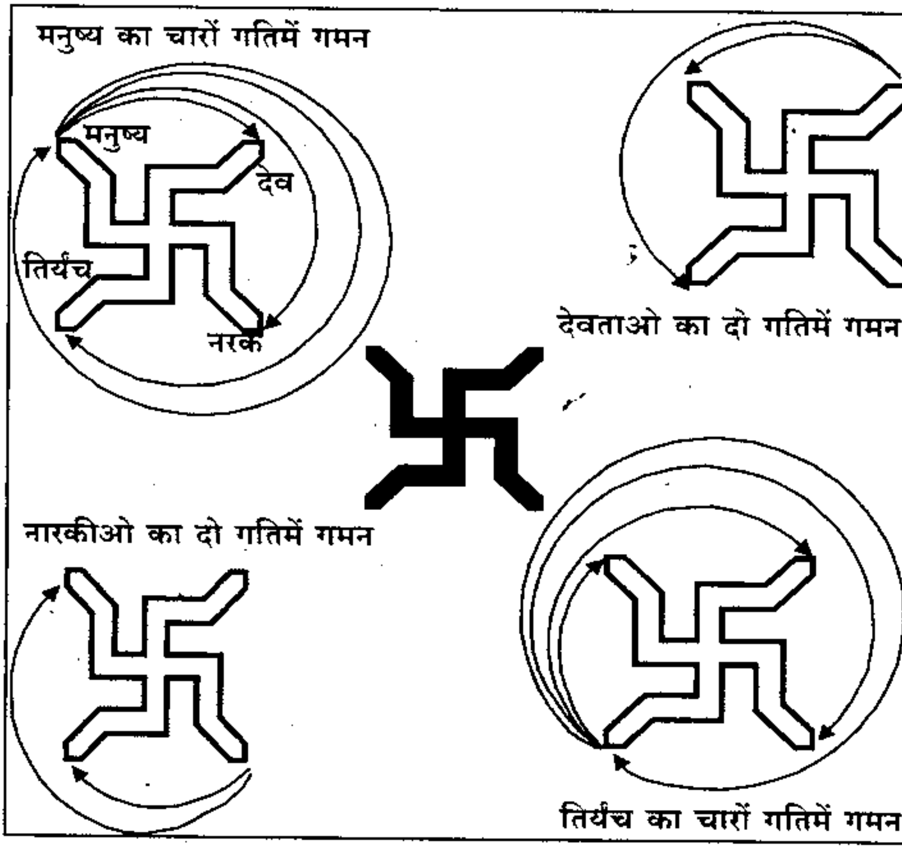

जन्म लोगे। बन्दर बनकर पर्वतमाला के वृक्षों पर कूदते रहोगे।" बन्दर का भव सुनते ही देव बडा दुःखी हुआ। अ रे रे....! इतना सुन्दर देव का जन्म, और यह स्वर्गीय सुख-भोग सब कुछ छोड़कर, मृत्यु पा कर तिर्यंच गति में बन्दर बनना पडेगा। उसके लिए असह्य हो गया।

देव गति से हीरे-सोने में जन्म :-

देव गति से मृत्यु पा कर पशु-पक्षी बनना पड़े यह तो फिर भी अच्छा है। चूंकि पंचेन्द्रिय पर्याय में तो हैं। लेकिन शास्त्रकार महर्षि यहां तक कहते हैं कि देव गति का जीव देव जन्म से मृत्यु पा कर एकेन्द्रिय पर्याय में हीरे-मोती-सोने-चांदी आदि में भी जन्म लेता है। ये भी तिर्यंच गति में ही कहलाते हैं। गति तिर्यंच की ही है, लेकिन जाति एकेन्द्रीय की है। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ये पाँचो इन्द्रियवाले जीव तिर्यंच गति में गिने जाते हैं। अब आप सोचिए देव गति का पंचेन्द्रिय देव गिर कर एकेन्द्रिय पर्याय में हीरे-मोती-सोने-चांदी में

जाकर जन्म लेता है तो यह कितना भारी पतन हुआ? कितने ऊपर से कितना नीचे गिरा? क्या इतना नीचे गिरकर वापिस इतना ऊपर चढ़कर देव बन सकेगा? नहीं, सम्भव नहीं है। ऊपर से नीचे गिरना आसान है परन्तु नीचे से ऊपर चढ़ना आसान नहीं है। पंचेन्द्रिय पर्याय से सीधा गिरकर एकेन्द्रिय में जीव गया, परन्तु एकेन्द्रिय पर्याय से सीधे पंचेन्द्रिय पर्याय में जाना बड़ा मुश्किल है। इस तरह देवगति के देवता का एकेन्द्रिय पर्याय में, पृथ्वीकाय में हीरे, सोने-चांदी आदि में जाकर जन्म लेना, कितना भारी सजा है?

देव गति से सीधे नरक में नहीं जाते :-

देवगति भी संसार में ही गिनी जाती है। मान लो कि देव गति का कोई देव बहुत ज्यादा पाप करता है तो वह मृत्यु पा कर क्या नरक में जाएगा? नहीं! जैन शास्त्रों में ऐसे शाश्वत नियम बताए गये हैं कि (१) देव गति से मृत्यु पा कर सीधा कोई भी देवता का जीव कभी भी नरक गति में नहीं जाता। हां! जन्म तिर्यंच या मनुष्य गति में करके फिर वहाँ से नरक में जा सकता है। परन्तु सीधा देव मृत्यु पा कर नारकी नहीं बनता। (२) उसी तरह देव गति का देव मृत्यु पा कर तुरन्त पुनः देव नहीं बनता, पुनः देव गति में जन्म नहीं लेता। एक जन्म मनुष्य या तिर्यंच की गति में करके वहां से वापिस देव गति से मृत्यु पा कर च्युत होकर देव सिर्फ मनुष्य और तिर्यंच की दो ही गतियों में जा सकता है। अन्य दो गतियां देव के लिए बन्द है।

नारकी जीव के नियम :-

ठीक वैसे ही दोनों नरक गति के नारकी जीव के लिए हैं। एक तो यह कि नरक गति का नारकी जीव मृत्यु के बाद सीधा देव गति में नहीं जा सकता। चूँकि नरक गति में पुण्योपार्जन करने का ऐसा साधन नहीं है कि नारकी जीव उस पुण्य से सीधा स्वर्ग में जा सके। नरक में नारकी जीव चाहे जो भी कुछ करे, कितनी भी वेदना सहन करे लेकिन वह देव गति उपार्जन नहीं करता। (२) उसी तरह से दूसरा शाश्वत नियम यह भी है कि नरक गति का नारकी जीव मृत्यु पा कर तुरन्त सीधा पुनः नारकी नहीं बनता। पुनः नरक में सीधा ही जन्म नहीं लेता। हाँ! जन्म मनुष्य या तिर्यंच गति में करके आए और फिर नरक में जन्म ले यह सम्भव है। उदाहरण के लिए भगवान महावीर की ही २७ जन्मों की परम्परा में देखिए। १८ वें त्रिपृष्ट वासुदेव के जन्म में शय्यापालक अंगरक्षकों के कान में गरम-गरम तपाया हुआ शीशा डलवाना, एवं सिंह को फाड़कर मार देना आदि महा पापों से उपार्जित कर्म के कारण १९ वें जन्म में वे सीधे सातवीं नरक में गये। उस नरक का आयुष्य समाप्त होते ही सीधे तिर्यंच गति में गये जहां वे सिंह बने। यह भगवान महावीर का २० वां भव था। यहाँ से मृत्यु पा

कर २१ वें जन्म में वे पुनः ४ थी नरक में गए । पुनः ४ थी नरक से कालावधि समाप्त करके २२ वें जन्म में मनुष्य गति में आए ।

भगवान महावीर के दृष्टांत से यह अच्छी तरह देख सकते हैं कि दोनों बार नरक गति से निकलकर सीधे नारकी नहीं बने परन्तु तिर्यंच और मनुष्य गति में गए हैं । अतः यह शाश्वात नियम है कि नरक गति का नारकी जीव मृत्यु के पश्चात सिर्फ मनुष्य और तिर्यंच की दो गति में ही जाता है । उसी तरह देव भी मृत्यु के पश्चात् तिर्यंच और मनुष्य की इन दो ही गति में आता है । देव और नारक इन दोनों के लिए तो ये दो गतियां हुई । सिर्फ मनुष्य और तिर्यंच । इसमें भी ऐसा नियम है कि ९८ % जीव तो तिर्यंच गति में ही जाते हैं । चूं कि तिर्यंच गति बड़ी लम्बी चौड़ी है। एकेन्द्रिय से लगाकर पंचेन्द्रिय तक के सभी इन्द्रियों वाले जीव तिर्यंच गति में है । अतः तिर्यंच गति में अनंत की संख्या में जीव राशि है। एकेन्द्रिय के पांचों स्थावर पृथ्वीकाय, अप्काय (पानी के जीव), तेउकाय (अग्नि के जीव), वायुकाय एवं वनस्पतिकाय ये सभी एवं दो इन्द्रिय वाले कृमि, कीड़े, आदि तथा तेइन्द्रिय में चींटी, मकोड़े आदि चउरिन्द्रिय में मक्खी, मच्छर आदि पंचेन्द्रिय में जलचर मछलियां आदि, स्थलचर में हाथी, घोड़े, बैल–बकरियां आदि एवं खेचर में कौआ,तोता, मैंनादि इन सबकी गिनती गति के दृष्टिकोण से तिर्यंच गति में ही होती है । अतः संख्या की दृष्टि से यह तिर्यंच गति बहुत बड़ी है। इसमें अनंत की संख्या में ही जीव राशि है। जबकि संख्याकी दृष्टि से मनुष्य की गति में चारों गति की तुलना में बहुत ही कम संख्या है। अतः मनुष्य गति में सबसे छोटी है। तिर्यंच गति में जीवों की संख्या अनंत है। देवगति और नरक गति में जीवों की संख्या असंख्य की है। जबकि मनुष्य गति में जीवों की संख्या बहुत ही कम सिर्फ संख्यात है। वह भी समस्त वर्तमान विश्व ही नहीं अपितु ढ़ाई व्द्वीप के सम्पूर्ण क्षेत्र के सभी मनुष्यों की संख्या भी देखी जाय तो सर्वज्ञ भगवंतो ने बताया कि सर्वोत्कृष्ट मनुष्यों की संख्या $(२)^{९६}$ ही हो सकती है। $(२)^{९६}$ अर्थात् २९ अंक वाली संख्या यही उत्कृष्ट संख्या मनुष्य गति के समस्त मनुष्यों की हो सकती है। यह केवल संख्यात की गिनती में आती है जबकि इतनी भी संख्या कभी पूरी हो नहीं पाई है। अतः मनुष्य गति में तो बहुत ही सीमित मनुष्य जीवों की संख्या है। इसीलिए मनुष्य का जन्म कीमती जन्म है। अतः देव–नरक या तिर्यंच की गति से २% या ५०% जीव ही मनुष्य गति में आते होंगे।

मनुष्य का चारों गति में गमन :–

मनुष्य गति और तिर्यंच गति के जीवों के लिए उपरोक्त नियम नहीं लागू होता। ये चारों गति में जाते हैं। मनुष्य मृत्यु के बाद देवगति में जाकर देव बनता है।

नरक गति में जाकर नारकी बनता है। तिर्यंच गति में जाकर पशु-पक्षी के जन्म धारण करता है। उदाहरण के लिए एक राजा की बात देखें। राजा शिकार के लिए घोड़े पर तेज रफ्तार से जा रहा था। दूर एक वृक्ष पर पके हुए मीठे बेर के फल दिखाई दिए। राजा को बेर बहुत ज्यादा प्रिय थे। अतः देखते ही मन ललचा गया। योगानुयोग रास्ता भी उसी वृक्ष के नीचे से जा रहा था। राजा ने सोचा वृक्ष के नीचे से पसार होते समय तोड़ लूँगा। ज्योंही घोड़ा वृक्ष के नीचे से पसार हुआ कि दूसरी ड़ाल पर लटक रहा रस्सी का फांसा राजा के गले में लग गया। तेज रफ्तार से घोड़ा पसार हो गया और राजा के गले में फांसी लग गई। देखते ही देखते राजा के प्राण पंखेरु उड़ गए। उसी समय किसी पोपट ने उस पके हुए मीठे बेर फल में चांच मारी, झूठा किया, नीचे गिराया, राजा का जीव अन्तिम इच्छानुसार उसी बेर में जाकर कीड़े का जन्म धारण करता है। सोचिए, मनुष्य गति में से तिर्यंच गति के तेइन्द्रिय पर्याय के कीड़े के रूप में कैसा जन्म मिला। मनुष्य के लिए एक सबसे अच्छी सुविधा यह है कि यदि मनुष्य चाहे और तदनुसार पुरुषार्थ करे तो पुनः मनुष्य भी बन सकता है। एक बार प्राप्त हुई मनुष्यगति के बाद भी तुरन्त मनुष्य बन सकता है। जो सुविधा देवगति में नहीं थी वह मनुष्य गति में है। परन्तु इसके लिए पूरा पुरुषार्थ करें तो ही यह सम्भव है। उदाहरणार्थ भगवान महावीर स्वामी ने अपनी २७ भव की परम्परा में २२ वां भव मनुष्य गति में विमल राजकुमार का किया और पुनः सीधे ही २३ वां जन्म भी मनुष्य गति में प्राप्त किया। जहां वे प्रियमित्र चक्रवर्ती बने। इस तरह मनुष्य से मृत्यु पा कर पुनः मनुष्य बनने का सौभाग्य प्राप्त किया। ऐसा सौभाग्य बहुत वीरले जीव प्राप्त करते हैं। अतः मनुष्य का जीव-मनुष्य गति से चारों गति में जा सकता है। चारों गति में कहीं भी जन्म ले सकता है।

तिर्यंच का चारों गति में गमन :-

मनुष्य की तरह तिर्यंच गति का जीव भी चारों गति में जा सकता है। जन्म-मरण धारण कर सकता है। तिर्यंच गति का जीव पशु-पक्षी मृत्यु पा कर देवगति में स्वर्ग में देव भी बन सकता है। जैसा कि पहले बताया है कि उसी तरह पशु-पक्षी मृत्यु पा कर नरक गति में नारकी के रुप में भी जन्म लेते हैं। सिंह मृत्यु पा कर मनुष्य गति में भी आते हैं मनुष्य बनते हैं। वैसे ही तिर्यंच गति के जीव मृत्यु पा कर पुनः तिर्यंच गति में भी जन्म लेते हैं। जैसे घोड़ा मृत्यु पा कर गधा बने, गधा मृत्यु पा कर हाथी बने, ऊँट-बकरी बने, बकरी-सूअर बने, या सूअर मछली बने, या मछली-कछुआ बने या कछुआ-कौवा बने, कौवा-गीदड़ बने, इस तरह तिर्यंच गति के जीव अन्दर ही अन्दर जन्म-मरण धारण करते हैं। उत्पत्ती क्षेत्र भी काफी लम्बा-चौड़ा असंख्य द्वीप समुद्रों का है । एक समुद्र में ही कितनी मछलियां है ? या

कितने प्रकार की मछलियां हैं ? यही कोई नहीं गिन पा रहा है तो समस्त तिर्यंच गति के जीवों की संख्या और प्रकार गिनने की तो बात ही कहां सम्भव है ? सिर्फ स्थलचर में भी देखें तो हाथी-घोड़ा, ऊंट-बैल, गधा-बकरी, बन्दर-सुअर, शेर-चिता-सिंह आदि न मालुम कितने प्रकार के जीव हैं ? कितनी बड़ी संख्या है ? तिर्यंच गति में ही जीव के अनन्त जन्म हो जाय इतनी लम्बी-चौड़ी संख्या है ।

चारों गति में जीवों का परिभ्रमण :-

इस तरह हमने चारों गति में जीवों का सतत परिभ्रमण देखा । यह गमना-गमन अविरत सतत चालू रहता है। जन्म-मरण,जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद पुनः जन्म ; फिर से जन्म और फिर से मरण यह चक्र सतत चल रहा है । इस जन्म-मरण के चक्र के लिए धरातल इस चार गति का है। जैसे घाणीसे बंधा हुआ कोल्हू का बैल दिन-रात चलता रहता है। आंख पर पट्टी बंधी हुई है। बाहर देख तो सकता नहीं है कि मैं कितना दूर निकला गया? परन्तु सोचता है कि दिन-रात चलते-चलते मैं ५०-१०० माइल चला? या कितना चला? एक गांव से दूसरे गांव पहुंचा कि नहीं? परंतु जब उसे छोड़ा जाता है तब पता चलता है कि अरे...रे...! मैं जहां था वहीं हूँ।एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सका। ठीक वही स्थिति हमारी भी है। चार गति के इस संसार चक्र में हम सतत घूमते रहते हैं। एक जन्म से दूसरे जन्म में जाते हैं, एक जाति से दूसरी जाति में जाते हैं। एक गति से दूसरी गति में जाते हैं, जन्म लेते हैं, मरते हैं, फिर जन्म लेते हैं, फिर मरते हैं। इस तरह यह चक्र चलता रहता है। सभी जीवों की यही दशा है और मेरी भी यही दशा है। इस तरह अनंत काल बीत गया। चारों गति में घूमता हूँ, भटकता हूँ, सतत परिभ्रमण कर रहा हूँ। परन्तु आज भी ज्ञान योग से देखूँ, या ज्ञानी भगवंत से पूछूँ तो पता चलेगा कि जहाँ था वहीं हूँ। इसी चार गति के चक्र में घूमता जा रहा हूँ। चार गति के संसार चक्र से बाहर नहीं निकल पा रहा हूं। न मालूम एक-एक गति में मेरे कितने जन्म-मरण होतें गए और आज दिन तक कितने जन्म बीत गए? यह कैसे पता चले? चार गति का यह संसार चक्र अभिमन्यु के कोठे की तरह बड़ा ही गहना है।

संसार चक्र का चक्रव्यूह :-

एक सीधा स्वस्तिक है और दूसरा गोल स्वस्तिक है। आकृति भेद हैं परन्तु बात वही है। ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि स्वस्तिक की चारों पंखुडियां कितनी लंबी है। एक एक गति की दिशा देखिए, चारों दिशा में घूमती हुई पूरा गोल चक्र काट रही है। एक ही गति में जीव ने कितने जन्म धारण किए है ? यही बताना असम्भव सा लगता है। अभिमन्यु के गूढ़ कोठे की तरह इस संसार चक्र में फंसा

हुआ जीव बाहर ही नहीं निकल पा रहा है। अनंत काल बीत गया। कब से प्रारम्भ हुआ इसका पता नहीं है, अत: वह भी अनादि कहा जाता है। इस तरह अनादि-अनंत काल से जीव इन चार गति के संसार में सतत अविरत परिभ्रमण कर रहा है। उदाहरणार्थ गाडी का चक्का ऊपर से नीचे; नीचे से ऊपर गोल गोल घूमता जाता है। ठीक वैसे ही हम सभी जीव इस चार गति के गोल चक्र-संसार चक्र में घूम रहा है। जन्म-मरण धारण करते हुए भटक रहे हैं। कभी सद्‌गति में तो कभी दुर्गति में इस तरह परिभ्रमण चलता रहता है। न मालूम कब छूटकारा होगा?

सद्‌गति और दुर्गति :-

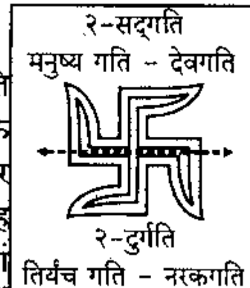

इसी स्वस्तिक में बताई गई ४ गतियों में २ सद्‌गति है और २ दुर्गति है। स्वस्तिक के दानों तरफ़ जहां -तीर के नीशान दिए हैं वहाँ से स्वस्तिक को आधा कीजिए। ऊपर का आधा स्वस्तिक और नीचे का आधा स्वस्तिक इस तरह दो भाग हो जाएंगे। ऊपर के आधे स्वस्तिक में रही २ गतियां (१) देव गति और (१ और ४) मनुष्य गति ये सद्‌गति में गिनी जाती है। जबकि नीचे के आधे हिस्से में २ गतियां (२-३) नरक गति और तिर्यंच गति ये दुर्गति में गिनी जाती है। स्वर्गीय देव भव एवं मनुष्य जन्म शुभ माने गए हैं अतः सद्‌गति के अन्तर्गत है। सद् का अर्थ भी शुभ ही है। दुर् का अर्थ खराब है। दुर्गति अर्थात् खराब गति। जीव ने न करने योग्य खराब पाप कर्म किए हो तो फल-स्वरूप खराब गति-दुर्गति प्राप्त होती है। जहां जीव अपने किए हुए पाप कर्म का फल दुःखरूप में भुगतता है। ठीक इसके विपरीत जीव शुभ पुण्योपार्जन करके सद्‌गति में जाता है जहाँ सुख भी पाता है।

'स्वर्गवास' का लोक-व्यवहार :-

हम अक्सर देखते हैं कि किसी भी मृत्यु के पीछे सभी स्वर्गवास ही लिखते हैं। सभी के लिए 'इनकी सद्‌गति हो गई' ऐसा ही लिखते हैं। स्वर्ग=देव गति में या देव लोक में वास=निवास-गमन। पिता की मृत्यु के पीछे बेटा 'पिताजी का स्वर्गवास हुआ है ऐसा हीं लिखता हैं।' वैसे ही पिता भी पुत्र की मृत्यु के पीछे 'पुत्र का स्वर्गवास हुआ है ऐसा ही लिखते हैं।' उसी तरह पुत्री की, पत्नी की, दादा-दादी की, भाई-भाभी की, किसी की भी मृत्यु के पीछे स्वर्गवास ही लिखा जाता है। तो क्या सभी मृत्यु पा कर स्वर्ग में ही जाते होंगे? क्या कोई नरक में, तिर्यंच गति में जाता ही नहीं होगा? जब कि शास्त्रकार महर्षि तो कहते हैं कि अपने-अपने किए हुए कर्मानुसार जीव चारों गति में जाता है, तो क्या सभी कोई खराब पाप कार्य करते ही

नहीं है? जो कि सभी स्वर्ग में ही जाते हैं। नरकादि अन्य गति में कोई जाता ही नहीं है। और यदि जाता होता तो कोई किसी की मृत्यु के पीछे नरकवास या तिर्यंचवास लिखते। लेकिन आज दिन तक तो ऐसा नरकवास आदि शब्द किसी ने लिखा हो यह देखा नहीं गया। अतः क्या समझना?

कोई कहता है कि जीव कहां गया इसका हमको पता नहीं चलता। हम कोई ज्ञानी तो है नहीं। अतः नरकवास या तिर्यंचवास कैसे लिखें? बात तो सही है। परन्तु मैं पुछता हूं कि जब ज्ञानी नहीं है, पता नहीं चलता है, अतः नरकवास या तिर्यंचवास नहीं लिखते हैं तो फिर स्वर्गवास लिखना क्यों प्रारंभ कर दिया है? क्या जीव स्वर्ग में जाता है यह पता आपको मिल गया? क्या आपको एक सिर्फ स्वर्ग में जाने का ही पता लगता है? आज तो मानों स्वर्गवास लिखने का प्रचलित व्यवहार हो गया है। आए दिन अक्सर सभी स्वर्गवास ही लिखते हैं। तो क्या सभी मरने वाले स्वर्ग में ही जाते होंगे? अन्य गति में कोई जाता ही नहीं है?

अच्छा अपने अपने पिता की मृत्यु के पीछे "मेरे पिताजी का स्वर्गवास हो गया है।" इस तरह से पत्र लिखकर सभी सगे-सम्बन्धी-रिश्तेदारों को भेजा। लोकव्यवहार से पत्र का प्रत्युत्तर देते समय सामने वाले ने पत्र में लिखा कि 'आपका पत्र मिला...आपके पिताजी का स्वर्गवास हुआ यह जानकर बहुत दुःख हुआ है। वास्तव में बहुत बुरा हुआ, बहुत ही खराब हुआ है।' ये और ऐसे शब्द सामने वाले लिखते हैं। आप इन शब्दों पर अच्छी तरह से ध्यान दीजीए। मेरा यह कहना है कि जब आपने स्वर्गवास हुआ, ऐसा अच्छा शब्द लिखा है फिर भी सामने वाला बहुत खराब हुआ,.... बूरा हुआ ऐसा क्यों लिखता है? क्या आपके पिता का स्वर्ग में वास हुआ है उसमें उसे विश्वास नहीं है? या वह यह कह सकता है कि आपके पिता का स्वर्गवास हो ही नहीं सकता? उसके शब्दों का भावार्थ क्या है? हां यदि आपने नरकवास या तिर्यंचवास लिखा होता और उसने प्रत्युत्तर में 'बहुत खराब हुआ, बुरा हुआ' लिखा हो तो फिर भी उचित था। लेकिन आपके स्वर्गवास (स्वर्ग में वास) लिखने के बाद भी वह लिखता कि 'बहुत बुरा हुआ....खराब हुआ'। इसका भावार्थ क्या?

मैंने भावार्थ का स्पष्ट अर्थ जानने के लिए एक बार एक प्रसंग पर एक सज्जन से पूछा कि-इसका क्या तात्पर्य है? तो उसने जवाब में कहा-अजी महाराज वह तो आज-कल का लड़का है। बिचारा अपने बाप के बारे में वह क्या जानता है? मैं और उसका बाप पक्के मित्र थे। हम साथ घूमते-जाते-आते-मिलते थे। उसके बाप ने क्या किया है? कैसा काम किया है? कहां क्या किया है? किसके साथ क्या किया है ? आदि सब मैं अच्छी तरह जानता हूं। आज यह लड़का स्वर्गवास हुआ

लिखता है तो पढ़कर मैं भी आश्चर्य चकित रह गया कि ऐसे आदमी का स्वर्ग में वास कैसे हो गया? उसको स्वर्ग में जगह मिल ही नहीं सकती। कैसे स्वर्ग में चला गया? मुझे तो विश्वास ही नहीं होता। इसलिए मैंने प्रत्युत्तर में पत्र लिखते हुए लिखा कि 'तुम्हारे पिताजी का स्वर्गवास हुआ है यह जानकर बड़ा भारी दुःख हुआ है, बहुत खराब हुआ है। बहुत ही बुरा हुआ।' उनका तो नरक में वास होना चाहिए था, स्वर्गवास कहां से हो गया? यह तात्पर्य और भावार्थ सुनकर मैं भी आश्चर्यचकित रह गया। यह लो, आपने जिसको मित्र सगे-सम्बन्धी रिश्तेदार माना है वे ही आपको स्पष्ट जवाब दे देते हैं। किसी को भी आपके व्दारा लिखा हुआ स्वर्गवास शब्द मान्य नहीं है, पसंद नहीं है। इस तरह सभी के व्दारा लिखा जाय और सभी का स्वर्गमें ही वास होता हो तो फिर नरक आदि गतियां खाली ही पड़ी रहती! लेकिन नहीं, वहाँ की संख्या भी बड़ी लम्बी चौड़ी है।

मनुष्य गतिमें संख्यात जीव — देवगति में असंख्य जीव

तिर्यंच गतिमें अनन्त जीव — नरकगति असंख्य जीव

चार गति में जीवों की संख्या :-

इस तरह तीन प्रकार की संख्या मानी गई है (१) जो गिनी जा सके वह संख्यात है (२) जो गिनती के बाहर हो वह असंख्यात है (३) और जिसका कभी अंत ही नहीं आता है वह अनंत है। इन तीन संख्याओं की व्यवस्था चार गति में की गई है। (१) देव गति में असंख्य जीव है (२) नरक गति में भी असंख्य जीव है (३) तिर्यंच गति में अनंत जीव है (४) जबकि मनुष्य गति में सबसे कम संख्यात ही जीव है।

सभी का स्वर्गवास (स्वर्ग में वास) ही होता तो नरक गति में असंख्य जीवों की संख्या कहां से आइ? उसी तरह तिर्यंच गति में अनंत जीवों की संख्या कहां से आइ? जीव तो चारों गति में परिभ्रमण करता है। किसी एक ही गति में स्थिर नहीं रहता है। एक गतिवाद किसी ने भी स्वीकारा नहीं है और स्वीकारा भी हो तो सुसंगत सिध्द नहीं होगा।

एक गतिवाद की विसंगता :-

यह जीव जिस योनि में जन्मा है उसी योनि में ही सदाकाल रहता है। पुनः पुनः मृत्यु पा कर फिर से उसी योनि में उसी स्वरूप में जन्म लेता है। अर्थात् भूतकाल में जैसा जन्म था, मृत्यु के बाद वैसा ही जन्म मिलता है। यदि वह मनुष्य है तो मनुष्य

ही बनेगा, घोडा मृत्यु पा कर घोड़ा ही बनता है। गधा मृत्यु पा कर गधा ही बनता रहेगा। चाहे वह हजार लाख या करोड़ों अरबों जन्म करे तो भी वह बार-बार घोड़ा ही बनता जाएगा। गधा गधा ही बनता रहेगा, ऐसी एक गतिवाद पक्षवालों की मान्यता है। इनका कहना है कि जीव का एक गति से दूसरी गति में गत्यन्तर-जात्यन्तर नहीं होता है।

प्रश्न ऐसा खड़ा होता है कि... यदि घोड़ा मृत्यु पा कर पुनः घोड़ा ही बनता है तो प्रथम घोड़ा बना ही कहां से? अनादि काल से उस जीव का घोड़े के स्वरूप में ही अस्तित्व मानना पड़ेगा। और ऐसा मानेंगे तो वह जीव घोड़े के स्वरूप में कैसे आया? कब आया? उस आत्मा का एकेन्द्रिय पर्याय से पंचेन्द्रिय पर्याय तक विकास हुआ कैसे? फिर तो उत्थान और पतन का सिध्दान्त ही समाप्त हो जाएगा। विकासवाद का भी अस्तित्व नहीं रहेगा। दूसरी तरफ सीधा ही जीव पंचेन्द्रिय पर्याय में स्थलचर के रूप में कहाँ से आ गया? जबकि पंचेन्द्रिय पर्याय में अनन्त जीव नहीं है। अनंत गुनी संख्या एकेन्द्रिय में है। एकेन्द्रिय पर्याय से जीव का धीरे-धीरे विकास होता हुआ जीव अंत में पचेन्द्रिय पर्याय में आता है। आगे पंचेन्द्रिय पर्याय में मनुष्य बनना अन्तिम विकास है। विकासवाद समाप्त हो गया तो फिर किसी का मोक्ष भी नहीं होगा। कुछ भी नहीं! तो फिर धर्म-करना या कर्मक्षय करना सब कुछ निरर्थक हो जाएगा। संसार एक स्थिर स्वरूप में मानना पड़ेगा। फिर तो पाप-पुण्य निष्फल हो जायेंगे। पापकर्मानुसार कोई नरक में जाए और फल भोगे यह भी नहीं रहेगा। उसी तरह किए हुए पुण्यानुसार कोई स्वर्गादि देवगति में जायेगा यह भी नहीं रहेगा। तो फिर क्यों कोई पाप-पुण्य करेगा? स्वर्गवास लिखना भी निरर्थक होगा। मूर्खता होगी। इस तरह सैंकड़ो विसंगतियाँ आयेगी। कर्मवाद भी नहीं रहेगा और ईश्वर कर्तृत्ववाद भी नहीं रहेगा। क्या करेगा ईश्वर? जबकी सृष्टिकर्ता और फलदाता दोनों स्वरूप में ईश्वर को मानने वालों ने माना है। परन्तु ऐसी स्थिति में ईश्वर की कोई उपयोगिता ही नहीं रहेगी। ईश्वर निष्क्रिय-निरर्थक सिध्द हो जायेगा, तो क्या किया जाय? इसका जगत् कर्तृत्ववादी के पास कोई उत्तर नहीं रहेगा। फिर प्रश्न यह उठेगा कि ऐसी नित्यभावनामयी सृष्टि ईश्वर की निरर्थकता और निष्क्रियता में कैसे बनी? कब बनी? क्यों बनी? किसने बनाई? बनाई तो फिर प्रलय का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता! बनाई तो फिर क्यों पहले से किसी को एकेन्द्रिय में रखा और क्यों किसी को पंचेन्द्रिय में रखा? अच्छा जिसको पंचेन्द्रिय मनुष्य में भी रखा उसका भी स्थान वहां निष्फल है। करना-धरना तो कुछ नहीं। चूँकी परिवर्तन तो सम्भव ही नहीं है। फिर क्या करना है? क्यों करना है? ईश्वरोपासना भी करके क्या फायदा? अतः यह पक्ष सम्भव नहीं है। युक्तिसंगत नहीं है।

गणधरवाद में पाँचवे गणधर सुधर्मास्वामी को अपने पूर्व काल में जन्म-जन्मान्तर सादृश्य की धारणा थी। यह उनका पक्ष था। वे वेद वाक्य का अर्थ ऐसा करते थे कि- "पुरूषो मृतः सन् पुरुषत्त्वमेवाश्रुते, पशवः पशुत्वम्" अर्थात पुरुष मृत्यु पा कर परभव में पुरुष ही बनता है। पशु मृत्यु पा कर पशु ही होता है। कारण सदृश्स कार्य को मानने की विचारधारा वाला वह अग्निवेश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण सुधर्मा था। लेकिन सामने दूसरा वेदवाक्य ऐसा आया कि- 'श्रृगालो वै एष जायते यः पुरीषो दह्यते।' जिसको मल सहित जलाया जाता है वह मृत्यु पा कर श्रृगाल रूप में जन्म लेता है। इस तरह परस्पर विरोधी वाक्यों के आने से विरोधाभास खड़ा हुआ है। परंतु ऐसा नहीं है। कारण सदृश भी कार्य सदृश होता है और कारण से कार्य विचित्र भी होता है। कारण रूप में जीव के कर्म है अतः कर्मानुसार कार्य होगा। जन्मानुसार जन्म नहीं अपितु कर्मानुसार जन्म होता है। अतः भवान्तर सादृश्य का पक्ष युक्तिसंगत नहीं ठहरता, यह चर्चा सुदीर्घ है। गणधरवाद में से विशेष जानकारी प्राप्त करना उचित रहेगा।

२४ तीर्थंकरों की भव भ्रमण संख्या भिन्न-भिन्न है। जीव ने सम्यक्त्व प्राप्त किया तब से भव संख्या की गिनती करते हैं और निर्वाण प्राप्त करके मोक्षं में जाते हैं उस चरम भव तक संख्या गिनी जाती है। सम्यक्त्व नहीं पाये उसके पहले की भव संख्या गिनने जायें तो वह अनंत की संख्या गिनने जाएं? इसलिए सम्यक्त्व प्राप्ति के भव से निर्वाण प्राप्ति के चरम भव तक की संख्या गिनी है। २४ तिर्थंकरों में यह भव संख्या भिन्न भिन्न है।

भगवान ऋषभदेव के १३ भव हुए हैं। भगवान शांतीनाथ के १२ भव हुए हैं।
भगवान नेमिनाथ के ९ भव हुए हैं। भगवान पार्श्वनाथ के १० भव हुए हैं।
भगवान महावीर स्वामी के २७ भव हुए हैं।

अधिकांश तीर्थंकरों के तीन-तीन भव हुए हैं। परंतु इन भव संख्याओं में गति परिभ्रमण देखा जाए तो सभी का भिन्न भिन्न है। भगवान ऋषभदेव ने १३ भवों में सिर्फ २ गति में परिभ्रमण किया है। वे मनुष्य से देव और देव से पुनः मनुष्य इस तरह दो ही गति में रहे। १३ जन्मो में तीसरी किसी गति में नहीं गये। भगवान नेमिनाथ के भी ९ भव राजुल के सम्बन्ध में हुए हैं। नौ ही जन्मो में देव-मनुष्य की दो ही गति का आश्रय लिया है। भगवान पार्श्वनाथ ने एक जन्म तिर्यंच गति में किया है।

इस रह संसार में जन्म के बाद मरण, मरण के बाद पुनः जन्म, पुनः मृत्यु, पुनः जन्म पुनः मृत्यु यही क्रम अनादि काल से अनंत काल से सतत् चल रहा है इसी का नाम है संसार। ठीक ही कहा है कि 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं, पुनरपि जननि जठरे शयनम्' फिर से जन्म-फिर से मृत्यु और फिर से माता की कुक्षी में जन्म लेना।

पुनः पुनः वही गर्भवास की काली कोटडी की सजा उल्टे सिर भुगतानी। यह संसार का क्रम चला रहा आ रहा है। संसार है वहा तक तो जन्म-मरण से कोई छुटकारा नहीं है। छुटकारा तो तब होगा जब मृत्यु के बाद पुनः जन्म नही लेना पडे, बस उसी का नाम है - मोक्ष। मोक्ष अर्थात् इस अनादि-अनंत जन्म-मरण के संसार चक्र से छुटकारा। पुनः जन्म लें हीं नहीं तो फिर मृत्यु का (मरने का) प्रश्न ही कहां आएगा? अतः इस जन्म के चक्र से छुटना ही मोक्ष है। आप चाहे मोक्ष शब्द से परिचित हो या न हो, मोक्ष का लक्ष्य रखें या न रखें परन्तु जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिए छूटने का लक्ष्य रखें यही हमारा मोक्षभाव है।

संसार की अनादिता : -

मृत्यु क्यों हुई ?जन्म हुआ था इसलिए, अच्छा, तो जन्म क्यों हुआ? चूं कि मृत्यु हुई थी इसलिए, मृत्यु क्यों हुई चूं कि जन्म हुआ था इसलिए। इस तरह जन्म का कारण पिछले जन्म की मृत्यु और मृत्यु का कारण जन्म। इस तरह हम जन्म - मरण को एक दूसरे का कारण मानते जाएंगे तो अण्ड़े-मुर्गी के जैसी अनादिता सिध्द होगी। हां, बात सही है। जन्म-मरण भी अण्ड़े-मुर्गी की तरह अनादि काल से चलते ही आ रहे हैं। मुर्गी से अण्ड़ा, अण्ड़े से मुर्गी, पुनः मुर्गी से अण्डा, पुनः अण्ड़े से मुर्गी। इस तरह अनादि परम्परा चलती ही जाएगी। इसका तो कहीं भी अंत नहीं हैं। अंत नहीं है इसलिए तो अनंत कहा जाता है। ठीक यही बात जन्म-मरण के बीच है। जन्म के बाद-मृत्यु, मृत्यु के बाद फिर जन्म। पुनः मृत्यु, पुनः जन्म...इस तरह अनादिता सिध्द होगी और इस अनादि परम्परा का कहीं अंत नहीं है अतः अनंत कहा गया है। दोनों शब्द साथ में बोलने पर अनादि-अनंत कहा जाता है। दूसरी तरफ जीव को अनादि काल से जन्म-मरण की इस परम्परा में परिभ्रमण करते-करते काल भी अनंत बीत चुका है, इसलिए भी अनंत कहा जायेगा।

अपेक्षा दृष्टि से अनादि की आदि :-

अण्ड़े-मुर्गी में कौन पहले? इसका इत्तर तो कभी भी नहीं मिल सकता। बीज और वृक्ष में भी वही बात है। उसी तरह जन्म-मरण का भी उत्तर संभव नहीं है। परंतु गत जन्म की स्मृति नहीं है उस अपेक्षा से आज के इस जीवन का जन्म सामने रखें तो जन्म पहले है और मृत्यु बाद में है। एक भव के बारे में सोचने पर पहले जन्म और बाद में मृत्यु स्पष्ट होती है, परंतु परम्परा देखने पर अनंत की गहराई सामने दिखाई देती है,और अनंत का अंत नहीं दिखाई देता इसलिए अनादि पक्ष भी सामने आता है। अब सोचिए ! कि जन्म-मरण क्या है ? किसके आधार पर है ? हम पुनर्जन्म Rebirth शब्द का प्रयोग करते हैं। शब्द है पुनर्जन्म-पुनः जन्म अर्थात्

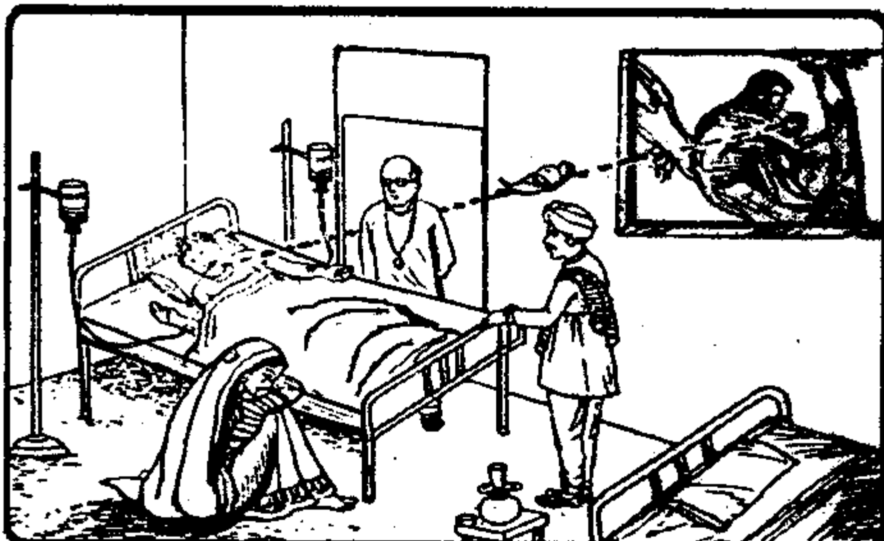

फिर से जन्म । पुनः शब्द 'फिर से' के अर्थ में हैं और जन्म का अर्थ स्पष्ट ही है । फिर से जन्म धारण करना या लेना ! अब बताइए, जन्म लेता कौन है? किसका जन्म होता है? शरीर का कि आत्मा का ? क्या शरीर कभी पुनः जन्म लेता है ? नहीं । संभव ही नहीं है। मृत्यु के बाद हम शरीर को तो अग्नि में जलाकर भस्म कर देते हैं। फिर शरीर के जन्म का प्रश्न ही कहां उठता है ? नहीं जलाने वाले भी कबर बनाकर गाड देते हैं । गाडा हुआ शरीर भी सड-गलकर नष्ट हो जाता है । अब सोचिए, कौन जन्म लेता है ? मृत्यु के समय अस्पताल में खड़े रहतें हैं। जन्म तो किसी का नहीं देखा लेकिन मौत के प्रसंग पर तो खड़े रहे हैं। अंत में मौत के समय क्या व्यवहार करते हैं? कैसी भाषा बोलते हैं? जीव गया। बस, अब जीव जाने वाला है। बस, जीव जाएगा। जीव गया की भाषा अक्सर सुनते हैं। शरीर गया यह कोई नहीं बोलता। चूंकी शरीर तो सामने है। शरीर कहां उड़कर जाने वाला है? उड़ने वाले पक्षियों का भी यही पड़ा रहता है। यद्यपि अदृश्य-अरूपी गुणवाला जीव आंखों से दिखाई नहीं देता फीर भी जिसके शरीर में रहने पर सुख-दुःख-हलन-चलन-बोलना-खाना-पीना आदि सारी क्रियाएं चल रही थी वह सब बन्द हो गई। अब मुरदा रहा है। अब सुख-दुख कुछ भी नहीं सहन कर सकता। इसलिए जला दिया जाता है।

अतः जीव जो गया है वही जन्म धारण करता है। " जीव गया " में गया-गम धातु का प्रयोग हैं। 'गया' शब्द आते ही कहाँ गया यह प्रश्न खड़ा होता है। किसी स्थान-क्षेत्र विशेष का उत्तर सामने आता है। किसी स्थान में गया होगा। किसी देश-नगर में गया होगा 'किसी अन्य गति में गया होगा। बस तो यही बात

सत्य है। जीव स्वकर्मानुसार चार गतियों में से किसी भी गति में गया है। ओर वहां जन्म स्थान में जन्म लेता है। अतः पुनर्जन्म कहा जाता है। जीव ने फिर से किसी गति में जन्म लिया।'

जीव को जाने में कितना समय लगता है ?

पुनर्जन्म–फिर से जन्म जीव का होता है। जीवात्मा अनादि अनंत काल तक स्वस्वरूप में नित्य रहनेवाला द्रव्य है। अविनाशी शाश्वत पदार्थ है। विनाशी और अनित्य रहता तो कब का नष्ट हो चुका होता। लेकिन अनादि–अनंतकाल के बाद भी जीव अपने स्वरूप में, अपने अस्तित्व में जैसा था वैसा ही रहा है। सुवर्ण–एक धातु है। उसके आभूषण बनते हैं। सभी आभूषणों में सोना मूलभूत धातु (द्रव्य) है। चाहे आपने चेन बनाई–नहीं पसंद आई गलाकर, अंगूठी बनवाई फिर गलाकर कंगन बनवाया। इस तरह आप बार–बार आभूषण की पर्याय बदलते ही गए। लेकिन सोना नष्ट हुआ? सोना बदला? सोना मूलभूत धातु–द्रव्य है। वह नष्ट नहीं हुआ। ज्यों का त्यों ही रहा। पर्याय–आकृति बदलती गई। उसी तरह आत्मा मूलभूत द्रव्य है। शाश्वत–अविनाशी द्रव्य है। वही बारबार जन्म लेती है। एक बार घोड़ा बनी, मृत्यु के बाद हाथी बनी, वही पुनः देवगति में जाकर देव बनी, वही पुनः मनुष्य गति में जन्म लेकर मनुष्य के बाद हाथी बनी, वही आत्मा नरक में जाकर नारकी बनी। इस तरह चारों गति में ८४ लक्ष योनियों मे जाती है। जन्म लेती है। इस तरह बार–बार–पुनः जन्म लेती है। शरीर नहीं। शरीर तो आत्मा के लिए रहने का घर मात्र है। आधार स्थान है। शरीर एक आकृति–पर्याय है। जो आभूषण की तरह है। बदलती रहती है।

अब जब निश्चित है कि आत्मा ही जन्म लेती है। एक गति से–दूसरी गति में, एक जाति से दूसरी जाति में, एक जन्म से दूसरे जन्म में, एक भव से दूसरे भव में आना–जाना–आवागमन आत्मा करती है अतः प्रश्न यह है कि मृत्यु के बाद जीव को एक शरीर छोड़कर दूसरी गति में अपने गन्तव्य जन्मस्थान तक पहुँचने में कितना समय लगता है ? घर में कोई मरा–किसी की मृत्यु के बाद शव अभी घर में पड़ा है। अभी श्मशान यात्रा नहीं निकाली है। उसका बेटा कलकत्ता से कल सुबह तक आ जाएगा। अतः एक दिन, डेढ दिन तक शव पड़ा रखा है। अन्त्योष्टि नहीं की है। तो क्या तब तक एक दिन या डेढ दिन आत्मा रुकी रहेगी ? दूसरी गति में नहीं जाएगी ? जन्म नहीं लेगी ? नहीं ! आपकी अपनी धारणा चाहे जो भी हो जैसी भी हो जीव को यह नहीं देखना है। आप श्मशान यात्रा निकालो या न निकालो, जल्दी निकालो या देरी से निकालो। जलाओ या मत जलाओ। आत्मा को कोई संबंध नहीं है। जिस क्षण आत्मा ने देह छोड़ा उसी क्षण आत्मा रवाना हो गई। स्वोपार्जित कर्मानुसार जहां

जन्म लेना है इस गन्तव्य स्थान में पहुँच गई। जाने की इस क्रिया में आत्मा को कितना समय लगता होगा? १-२ मिनीट या १-२ सेकण्ड ? जी नहीं। द्रुतगामी पलक में जानेवाली आत्मा जो कि अदृश्य अरूपी है हम उसके बारे में क्या बतावें ? यह तो सर्वज्ञ केवलज्ञानी भगवान का विषय है। अनन्तज्ञानी महापुरुष फरमाते हैं कि आत्मा को अपने दूसरे जन्मस्थान तक पहुँचने में सिर्फ २-३-४ समय लगते हैं। समय यह काल की अमित इकाई है। परमाणु जैसे पुद्गल पदार्थ का सूक्ष्मतम अछेद्य, अभेद्य-अदाह्य स्वरूप है। 'समय'जो कालाणु की तरह अन्तिम इकाई है - वह समय कहलाता है। सर्वज्ञ भगवन्तों ने इनकी गणना करते हुए कहा है कि आंख की पलक में अर्थात् आंख एक बार टिमटिमाते हैं इतने में असंख्य समय बीत जाते हैं। एक बार की आंख की पलक में जो असंख्य समय बीत जाते हैं इसमें से २, ३ या ४ समय में आत्मा १ शरीर को छोड़कर ४ गति में से किसी १ गति में निश्चित जन्मयोनि में पहुँचकर जन्म धारण कर लेती है। अथात् माता की कुक्षी में जन्म स्थान में स्थित होकर देहरचना आदि का कार्य प्रारम्भ कर देती है। सिर्फ इतने से समय मात्र काल में।

समय की सूक्ष्मता कल्पना किजीए 'उदाहरणार्थ १००० पेज की पुस्तक को मशीन से पीन लगाते हैं। कितना समय लगता है ? मशीन से यह कार्य एक झटके में हो जाता है। उत्तर में १ सेकंड़ समय लगा। ठीक है। अब बताइए कि १ पेज से दुसरे पेज में जाने के लिए उसी पिन को कितना समय लगा ?' १ सेकण्ड़ में १००० पेज में पिन गई तो १ पेज से दूसरे पेज में जाने में १ सेकण्ड़ का हजारवां भाग काल लगा। सेकण्ड़ का हजारवां भाग समय कितना होता है ? इसके लिए हमारे पास कोई एक शब्द नहीं है और न ही 'मापक-यन्त्र'। अतः 'सेकंड़ का हजारवां भाग' उत्तर देना पड़ा। और मानों कि हजार की जगह पर एक लाख की पेज संख्या होती तो क्या उत्तर देते? 'सेकण्ड़ का लाखवां भाग' कहते। इस तरह कहां तक आगे बढ़ेंगे? अन्त में काल की कोई निश्चित इकाई निकालनी पड़ेगी। वह सर्वज्ञ भगवतों ने बताई है। 'समय' को काल की अंतिम इकाई की संज्ञा दी है। जो एक बार आंख की एक पलक में असंख्य समय बीत जाते हैं इन असंख्य समयों में से सिर्फ २-३-४ समय जीव को अपने उपार्जित कर्मानुसार स्थान तक पहुँचने में लगते हैं। अतः कितना सूक्ष्मतम गणित है सर्वज्ञ महापुरुषों का? जहां हमारी बुध्दि के परे की बात है, वहाँ अनंत ज्ञानी का ही प्रमाण असंदिग्ध रहता है। इतना अल्पकाल जीव को जाने में लगता है। इस तरह विचार करने पर यह प्रतीत होगा कि कितने जन्म-मरण जीव ने धारण कर लिए होंगे?

जन्म-मरण क्या है ?

जन्म-मरण क्या है ? यह पूछने का प्रश्न नहीं हैं। सभी अच्छी तरह स्पष्ट जानते हैं। परंतु शास्त्रीय भाषा में इसका उत्तर इस तरह दिया जाता है कि-जीव जिस गति में स्वोत्पत्ति स्थान में गया, वहां उत्पन्न हुआ । आहारादि ग्रहण करके देह निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया। शरीर एवं इन्द्रियां बनाई। श्वासोच्छवास का कार्य प्रारम्भ किया। भाषा-मनादि की छ पर्याप्तियां पूर्ण की इस तरह छ पर्याप्तियां पूर्णकर निश्चित काल अवधि तक वहां विकास पूर्ण कर योग्य समय में जन्म लिया। आत्मा का देह में रहने का काल पूरा होने के बाद देह को छोड़कर चले जाना मृत्यु है। अतः आत्मा का देह संयोग-जन्म और देह वियोग मृत्यु है। जन्म से लेकर मृत्यु तक लम्बी एक रस्सी रखें तो उस रस्सी का पहला किनारा जन्म का है और अंतिम किनारा मृत्यु का है। अतः संसार चक्र में एक दिन जन्म का और एक दिन मृत्यु का है। जन्म से मृत्यु के बीच के काल को जीवन कहते हैं। किस जीव की काल अवधि कितनी है? यह उसके बांधे हुए आयुष्य कर्म पर आधारित है। यह जीवनडोरी है। अत्यन्त अल्प आयुष्य (जीवन काल) है। मृत्यु कब आएगी यह निश्चित नहीं है। 'नित्यं सन्निहितो मृत्यु कर्तव्यो धर्म संचयः'। मौत सिर पर मंडरा रही है, मृत्यु सदा ही पास खड़ी है यह समझकर धर्म कार्य, आत्म कल्याण की साधना जो करनी है वह कर लेनी चाहिए ऐसा महापुरुषों का कथन है।

जीवों की खान-खदान निगोद :-

जन्म-मरण का मुख्य केन्द्र आत्मा है। आत्मा के बिना जन्म-मरण का अस्तित्व भी नहीं रहता। जबकि जन्म-मरण अनादि-अनंत काल से चल रहे हैं तो आत्मा का अस्तित्व भी अनादि-अनंतकाल से हैं यह सिध्द हो गया। भूतकाल की अपेक्षा से जन्म-मरण का अनादित्व सिध्द हुआ है और भूतकाल में भी भव संख्या अनंत हुई है। लेकिन भविष्यकाल की अपेक्षा से विचारें तब मोक्ष में जाने के बाद जन्म-मरण की अनादि परम्परा का अन्त भी आ जाएगा। परंतु आत्मस्वरूप के अस्तित्व में कोई न्यूनता नहीं आएगी। चाहे आत्मा संसार में रहे या मोक्ष में जाय। आत्मा स्वस्वरूप से स्वद्रव्य से नित्य शाश्वत,अजर-अमर, अनादि-अनित्य स्वरूप में ही रहेगी। आत्मा की उत्पत्ति नहीं है अतः अनादित्व है और अन्त (नाश) नहीं है अतः अनंतत्व सिध्द होता है।

जैसे सोना-चांदी-हीरा आदि कहां से आए? कहां थे? कैसे थे? इत्यादि सोचते समय उत्तर मिलता है कि सोना खान से निकला, चांदी, हीरा आदि भी खान से निकला से निकला हैं। खान हीरे का मूल उद्‌गम स्थान है। वैसे ही सोना चांदी भी खान से निकले हैं। उसी तरह जीव कहां से आया? कहां से निकला? ये प्रश्न खड़े होते हैं। इसका उत्तर देते हुए -"जीव निगोद के गोले में से निकला" है ऐसा सर्वज्ञ

प्रभुने कहा है। अतः निगोद जीवों की खान हुई। सभी जीव निगोद के गोले में से निकले हैं। आए हैं, यह शब्द रचना है। ऐसी वाक्य रचना का ही प्रयोग किया जा सकता है। उत्पन्न हुए हैं, ऐसी शब्द रचना का उपयोग नहीं चलेगा, चूंकि नित्य अनादि-अनन्त शाश्वत द्रव्य उत्पन्न नहीं होता है। जो उत्पन्न होता है वह नष्ट होता है। जबकि आत्मद्रव्य नष्ट नहीं होता है अतः अनुत्पन्न द्रव्य है,। अतः अनादित्व सिध्द होता है। और अन्त नहीं है अतः अनन्तत्व सिध्द है।

निगोद स्वरूप :-

ऐसे अनुत्पन्न शाश्वत द्रव्य आत्मा का निगोद के गोले में मूलभूत अस्तित्व स्वीकारा गया है, उत्पत्ति नहीं। इसलिए निगोद को जीवों की खान-खदान कह सकते हैं। समस्त चौदह राज लोक स्वरूप ब्रह्मांड में असंख्य गोले पड़े हैं। जिस तरह बच्चे साबुन के पानी को कागज के गोल रवैये में मुंह से खींचकर फूंक मारकर हवा में उडाते है। उस समय गोल-गोल बुलबुले हवा में उड़ते हैं, तैरते हैं। कई लड़के मिलकर चारों तरफ से सैकड़ों बुलबुले उड़ाने लगे तो वायु मंडल-आकाश भर गया सा प्रतीत होता है। अद्यपि वे टकरा कर फूट जाते है। टूट जाते हैं। हवा होती है वह वायु मंडल में मिल जाती है और अस्तित्व समाप्त हो जाता है। यह तो उदाहरण दिया है समझने के लिए। ठीक इसी तरह शास्त्रों में सर्वज्ञोपदिष्ट निगोद के गोले का स्वरूप बताया गया है।

बुलबुले के जैसे गोल-गोल गोले समस्त चौदह राजलोक के सम्पूर्ण आकाशमें भरे पड़े हैं। इतना लम्बा-चौड़ा असंख्य योजन विस्तार वाला आकाश, और इस आकाश में मानों काजल की डिब्बी में काजल दबा-दबाकर भरी हो वैसे ही ये गोले भरे हुए हैं। इन गोलों की संख्या सर्वज्ञ ने असंख्य बताई है। इन प्रत्येक गोलों में अनन्त जीवों का निवास बताया है। एक-एक गोले में अनंत-अनंत जीव रहते हैं। ऐसे असंख्य गोले और एक गोले में जीवों की संख्या अनंत है, अतः सोचिए कि समस्त निगोद के गोलों में जीवों की संख्या कितनी हुई? असंख्य का अनंत से गुणाकार करिए। असंख्य X अनन्तानन्त=अनंतानंत।

निगोद में जीवों का जीवन :-

जीवाजीवाभिगमसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र, भगवतीसूत्र, जीवविचार प्रकरण एवं निगोद छत्रीशी आदि निगोद जीव विषयक वर्णन करनेवाले प्रमाणभूत ग्रंथ है। काफी विस्तार से इसकी सूक्ष्मतम चर्चा-विचारणा की गई हैं। यहां हम संक्षेप में सामने देखें

जीवों का वर्गीकरण करते हुए सर्व प्रथम मोक्ष में गए हुए मुक्त जीव बताए हैं जिनको सिध्द कहते हैं। दूसरे संसारी जो मोक्ष में नहीं गए हैं संसार चक्र की चारों

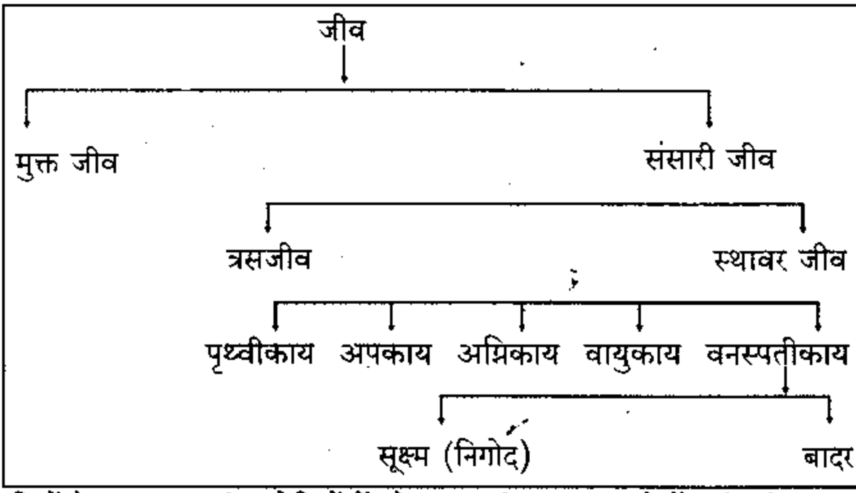

गतियों मे ८४ लाख जीव योनियों में जो सतत परिभ्रमण कर रहे हैं। संसारी त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं। दुखःसे बचने के लिए जो गति आदि प्रयत्न् कर सके वह हलन-चलन करनेवाला त्रस जीव कहलाता है। इससे विपरीत जो स्थिर स्वभावी है वह स्थावर जीव कहलाता है। दुःख से बचने के लिए स्वयं गति आदि प्रयत्न कर नहीं सकता व बच नहीं सकता वह स्थावर है। ये स्थावर जीव पांच प्रकार के हैं - पृथ्वीकाय, अपकाय्, अग्निकाय (तेउकाय), वायुकाय, और वनस्पतिकाय। ये सभी स्थावर जीव एकेन्द्रिय कहलाते है। पहली सिर्फ स्पर्शेन्द्रिय ही मीली है। इनमें वनस्पतिकाय के जीव दो प्रकार के हैं (१) साधारण और (२) प्रत्येक। प्रति+एक = प्रत्येक, प्रति-शरीर में एक जीव, प्रत्येक वनस्पतिकाय कहलाता है। उदाहरणार्थ-आम-केला आदि। साधारण वनस्पतिकायवाले जीव की व्याख्या इस तरह दी है- **'जेसिमणंताणं तणु एगा साहारणा तेउ।'** जहां अनंत जीवों को एक साथ इकट्ठा रहना पड़ता हो और रहने के लिए शरीर एक ही हो वे साधारण जीव कहलाते हैं। साधारण अर्थात् Common सभी के लिए एक समान-एक़ सरीखा हो वह साधारण है। उसे शरीर आहार जो भी मिले-जितना भी मिले वह भी अनन्त जीवों के लिए समान रूप से उपयोग में लेना है। उसी तरह श्वासोच्छ्वास भी सभी को एक साथ लेना छोड़ना है चूंकि सभी के बीच में शरीर एक ही है। सुख दुःख की संवेदना अनंत जीवों को एक साथ ही अनुभव करनी है, चूंकि शरीर एक ही है। एवं जन्म-मरण भी अनंत जीवों का एक साथ ही होता है, चूंकि एक ही शरीर है। अतः ये साधारण कक्षा के वनस्पति कायिक जीव कहलाते हैं। जीवों की संख्या अनंत होने से इन्हें ही अनंतकाय भी नाम दिया है। ये अधिकांश जमीन के नीचे उत्पन्न होते हैं अतः लोक व्यवहार में इन्हें जमीनकन्द (जमी-कंद) के

नाम से भी कहते हैं। बादर अर्थात् स्थूल स्वरूप में आलु, प्याज, लहसून, अदरक, शकरकन्द, गाजर, मूला, थेग की भाजी, पालक की भाजी आदि ३२ मुख्य प्रकारों से पहचानते हैं। इनके भक्षण से, सेवन से अनन्त जीवों की हिंसा होती है अतः शास्त्रकारों ने भक्षण का निषेध किया है। बारिश में दिवारों पर लगी हुई काई शैवाल, हरे वर्ण की लील एवं पांच वर्णों की फूग ये फूलन ये भी अनन्तकाय है। सूक्ष्मतम जीव विज्ञान की वनस्पति-शास्त्र की यह बात है। अब रही बात सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय की। इसी का दूसरा नाम निगोद है। अत्यन्त सूक्ष्म रूप में अदृश्य गोले के रूप में इनका अस्तित्व चौदह राजलोक के समस्त ब्रह्मांड़ के कोने-कोने में स्वीकारा गया है। ये निगोद के गोले ही अनंत जीवों की खान है।

निगोद के गोले का जीवन स्वरूप :-

इस निगोद के असंख्य गोले हैं। जबकि एक गोले में जीवों की संख्या अनंत है। इनका जीवन इसी गोले में ही रहता है। जन्म-मरण सतत एवं अविरत इसी गोले में होता है। निगोद में प्रतिक्षण जन्म लेना और प्रतिक्षण मरना यही सतत चलता रहता है। अनन्तज्ञानी सर्वज्ञ भगवंतों ने बताया है कि एक श्वास परिमित काल-अर्थात् हम सामान्य तौर पर १ बार श्वास लेते हैं-उसमें जितना समय लगता है उतने में गोले में रहे हुए ये निगोद के जीव साडा सत्रह भव करते हैं, अर्थात् १७ बार जन्म लेना और मरना तथा १८ वीं बार जन्म लेना पर मृत्यु होने से पहले श्वास का काल पूरा हो जाता है। इसलिए साडा सत्रह भव कहे जाते हैं। इनका न्यूनतम आयुष्य काल २५६ आवलिका का होता है। असंख्य समयों की एक आवलिका होती हैं। ऐसी २५६ आवलिका का एक लघुतम क्षुल्लक भव होता है। ऐसे साडा सत्रह भव १ श्वास लेने के काल में पूरे होते हैं। २ घड़ी अर्थात् ४८ मिनीट का जो अंतर्मुहुर्त का काल होता है उसमें ६५५३६ भव होते हैं। २५६ आवलिका का १ जन्म। और अंतमुहुर्त अर्थात् ४८ मिनीट (२ घड़ी) में १६७७७२१६ (१ करोड़, ६७ लाख, ७७ हजार, २१६) आवलिकाएं होतीं है। अर्थात् अब विचार कीजीए-सतत-अविरत जन्म-मरण के सिवाय वहां क्या रहा ? जन्म लेना और मरना। जन्म लेना अर्थात् शरीर रचना करना-देह संयोग-फिर जीवन जीना और फिर मरना अर्थात् देह लेना छोड़ना-देह वियोग। फिर वापिस उसी काय में जन्म लेना-फिर मरना...सोचिए, अनंत काल में उस गोले में निगोदिया जीव के कितने जन्म हुए कितने मरण हुए। जबकि काल ही अनंत वर्षों का बीता है तो जन्म-मरण तो अनंत X अनंत हुए हैं। न तो काल का अन्त और न ही भव संख्या का अन्त।

निगोद में भी जीव कर्म युक्त है :-

अब जब जन्म-मरण की बात आई तो यह कर्माधीन है। देह रचना की

शरीर बनाना, आहार, श्वासोछ्वास, इन्द्रियां, सुख-दुःखादि के अनुभव की बात आई तो यह सब कर्म के आधीन है। अतः निगोद की मूलभूत अवस्था में भी जीव कर्म संयुक्त ही पड़ा है। अनंतकाल से जीव निगोद में कर्मयुक्त ही है। जैसे सोना खान में पहले से था तभी से मिट्टी से मिश्रित था। कभी भी खान में मिट्टी से रहित नहीं था। अतः पहले सोना शुध्द मिट्टी से रहित था और बाद में सोना अशुध्द हुआ ऐसा भी नहीं कह सकते। चूंकि सोना कण-कण स्वरूप में मिट्टी के साथ मिश्रित ही था।

ठीक उसी तरह आत्मा निगोदावस्था में पहले से ही कर्म परमाणुओं से लिपटी हुई ही थी कभी प्राथमिक अवस्था में भी जीव कर्म रहित शुध्द था ही नहीं। ऐसा न मानने से जीव को वहीं निगोद में ही मुक्त-सिध्द मानने की आपत्ति आएगी। अतः निगोदावस्था भी ससारी सूक्ष्म स्थावर वनस्पतिकायावस्था ही है। सूक्ष्मपना, स्थावरपना ये स्थावर दशक की नाम कर्म की प्रकृतियां हैं। अतः संसारी जीव मात्र कर्मयुक्त ही है। तथा निगोद के गोले में पड़ा हुआ जीव भी कर्म बांधता है। यह निरीक्षण सर्वज्ञ केवलज्ञानी भगवंतों का है। ऐसी सूक्ष्मतम अदृश्य निगोदावस्था में अनन्त काल उसी गोले में बिताया अनन्त जन्म-मरण धारण किये। अनन्तानन्त भव उसी गोलेमें बिताए। वही अवस्था निगोद के सभी जीवों की समान है।

निगोद से बाहर निकलना :-

निगोदस्थ जीव का शास्त्रीय वर्णन किया गया है, यह देखते हुए यदि विचार करें कि निगोद में से बाहर निकलने के लिए जीव क्या प्रयत्न करता होगा? जीव का अपना कोई प्रयत्न विशेष रहता होगा कि जो जीव को उस निगोद के गोले से बाहर निकाल सके? अच्छा यदि प्रयत्न-पुरुषार्थ करे तो भी क्या करे? कैसा प्रयत्न करे? जब कि निगोद का एकमात्र स्पर्शानुभव कराने वाली एक ही इन्द्रिय प्राप्त हुई है, ऐसी कक्षा का सूक्ष्म साधरण वनस्पतिकाय का स्थावर निकाय का जीव जो अव्यक्त अवस्था में पड़ा है, सिवाय जन्म-मरण करने के उसके सामने और है भी क्या? अतः वह स्वयं कोई ऐसा प्रयत्न नहीं कर सकता। हां, आ पड़े दुःख को सहन करते हुए अकाम निर्जरा के बल पर कुछ अपनी भवितव्यता निर्माण कर सकता है।

अतः शास्त्रों मे बताई हुई सिध्दांत की व्यवस्था इस प्रकार की है कि - चौदह राजलोक स्वरूप अनंत ब्रह्मांड के समस्त संसार में से जब कोई एक जीवात्मा संसार से मुक्त होकर मोक्ष में जाती है, तब एक जीव निगोद से बाहर निकलता है। यह अपरिवर्तनशील शाश्वत नियम है। जगत की व्यवस्था ही इस प्रकार की है। संसार में निगोद एवं मोक्ष के जीवों के बीच में सन्तुलन ही इस प्रकार का व्यवस्थित है कि जब एक जीव पुरुषार्थवश आगे बढ़े...कर्म निर्जरा करते हुए आगे बढे वह तीर्थंकर नामकर्म बांधकर तीर्थंकर बने...धर्म तीर्थ की स्थापना करे और उनके

उपदेश से कोई जीव धर्मोपासना करके मोक्ष में जाय तब उसकी जगह एक जीव निगोद के गोले से निकलकर बाहर संसार के व्यवहार में आता हैं। इसी तरह दूसरा, तीसरा,चौथा.....संख्यातवां, असंख्यातवां तथा अनंतवां जीव मोक्षमें गया तो अनन्त जीव निगोद के गोले में से बाहर आएंगे। एक गोले में अनन्त जीव है और ऐसे असंख्य गोले हैं। अर्थात् निगोद तो कभी समाप्त होने वाली भी नहीं है। भले ही अनंतानंत काल भी बीत जाय। अतः एक बात तो यह सिध्द हो गई कि मोक्ष में कितने जीव गए हैं ? अनंत। निगोद से कितने जीव बाहर निकले हैं ? अनंता और संसार में कितने अभी भी परिभ्रमण कर रहे हैं ? अनंत। ऐसा जरूरी है कि निगोद से बाहर निकले हुए सभी मोक्ष में चले गए हो ? नहीं, निगोद से बाहर निकलकर मोक्ष में जाने के लिए भी अनंत की यात्रा में प्रवास करना होता है। निगोद से बाहर निकला है परन्तु बाहरी संसार में ८४ लक्ष जीव योनियों में परिभ्रमण करता हुआ इसी चार गति के संसार चक्र में जीव भटक गया हैं। अतः निगोद से बाहर निकले हैं। यह वाक्य कहना युक्ति संगत सिध्द होता है।

अरिहंत, सिध्दों का अदृश्य उपकार :-

इसमें एक बात यह सिध्द हो गई कि हम आज निगोद में नहीं हैं। संसार चक्र में परिभ्रमण करते हुए ८४ लक्ष जीव योनियों में आज अन्तिम मनुष्य जन्म में आए है। अतः यह तो निश्चित हो गया कि निगोद से बाहर निकलने के लिए किसी न किसी सिध्दात्मा का उपकार अवश्य है। मेरे समय कोई न कोई तो मोक्ष में जरूर गया ही था तभी तो मैं निगोद से बाहर निकल सका। अन्यथा अभी तक भी पड़ा ही रहा होता। मानों कि किसीका मोक्ष ही नहीं होता ? या कोई मोक्ष में गया ही नहीं होता तो कोई निगोद से बाहर भी नहीं निकला होता। अतः प्रत्यक्ष नहीं परोक्ष रूप से ही सही मुझे और सभी को सिध्द भगवंतों का उपकार अवश्य ही स्वीकारना पड़ेगा। हां, मेरे समय कौन सिध्द बने थे ? मुझे नाम मालुम नहीं है। भले ही नाम मालुम न हो। परन्तु सिध्द हुए थे इसमें तो संदेह नहीं है। इसिलिए नमस्कार महामंत्र में किसी सिद्ध या अरिहंत भगवान विशेष का नाम नहीं दिया गया है। बहुवचनांत पद दिए गए हैं। वे गुणवाचक पद है। "नमो सिद्धाणं" पद से अनंत सिद्ध भगवंतो को मैं नमस्कार करता हूँ। अनंत सिद्धों में मेरे समय हुए सिद्ध भगवंत को भी नमस्कार हो गया तथा अनंत जीव संसार में है और सभी नमस्कार महामंत्र गिनें और सभी भिन्न-भिन्न नामोच्चार करते रहें तो मंत्र का स्वरूप कैसा बनेगा ? महामंत्र की शाश्वता कहां से रहेगी ? अतः गुणवाची बहुवचनांत पद है। उन सभी अनंत सिद्धों को नमस्कार हो।

सिद्ध-माता, अरिहंत-पिता :-

बालक के लिए किसका महत्त्व है ? माता का या पिता का ? कौन ज्यादा उपकारी है ? पुरुष वर्ग कहेगा पिता और स्त्रीवर्ग कहेगी माता। लेकिन ऐसा भी नहीं हैं दोनों के दोनों ही समानरूप से उपकारी है। कोई अरिहंत बना तभी तो कोई सिद्ध हुआ। अरिहंत ही नहीं हुए होते तो धर्मस्थापना कौन करता? तो कोई जीव धर्म पाता ही कहां से? और धर्म ही नहीं पाता तो कोई मोक्ष में जाता ही कहां से? अतः अरिहंत पिता के स्थान पर प्रथम उपकारी है। तथा बाद में माता जिस तरह ९।। महिने अपने उदर में धारण करके प्रसवपीड़ा को सहनकर भी संतान को जन्म देती है तभी तो बालक इस पृथ्वी पर अवतरता है। इसी तरह सिद्ध बनने वाले जीव ने हमको निगोद के गोले से बाहर निकाला अर्थात् बाह्य संसार में जन्म दिया। अतः सिद्ध परमात्मा मातृपद पर माता की तरह पूजनीय है। इसिलिए ''त्वमेव माता-पिता त्वमेव...'' हे भगवन्! आप ही माता हो आप हीं पिता हो...इत्यादि हम प्रभु को जो उपमा देते हैं वह यथार्थ ही है। मातृ स्वरूप में प्रभु सिद्ध परमात्मा और पितृ स्वरूप में प्रभु अरिहंत परमात्मा अनंत उपकारी है। अब हमें अनंत जन्म तक भी उनका उपकार नहीं भूलना चाहिए। माता ने तो ९।। महिने धारण करके जन्म दे दिया। परंतु अनंतकाल तक निगोद के गोले की काली अन्धेरी कोटड़ी में जो असह्य कल्पनातीत वेदना सहन कर रहे थे, अनंत जन्म-मरण कर रहे थे उसमें से जन्म दिया है - बाहर निकाला है अतः सिद्ध परमात्मा तो माता से भी अनंतगुने ज्यादा उपकारी है। अनंत-अनंत गुना ज्यादा उपकार है मुक्तात्मा का। भले ही वह हमारी आंखों के सामने प्रत्यक्ष स्वरूप न हो परोक्ष स्वरूप में ही हो परन्तु माने बिना, स्वीकारे बिना नहीं चलेगा।

श्री नमस्कार महामंत्र का अनन्तबार जप-ध्यान-स्मरण करें तो भी हम इस उपकार का ऋण कभी भी नहीं चुका सकते। सिद्ध परमात्मा के उपकार का शतप्रतिशत संपूर्ण ऋण तो हम तभी चुका सकते हैं जबकि हम स्वयं सिद्ध बनकर किसी जीव को निगोद के गोले की अनंतगुनी वेदना से मुक्त कराके बाहर निकालें। निगोद से उसे बाह्य संसार के धरातल पर जन्म दें। तभी सिद्ध परमात्मा के उपकार का ऋण चुकाया जाएगा। उसी तरह अरिहंत परमात्मा के अनंत उपकार का ऋण भी तभी चुकाया जाएगा, जब हम स्वयं एक दिन अरिहंत बनकर अनेक जीवों को धर्मोपदेश से तारें। उनका कल्याण करें। उन्हें मोक्षमार्ग पर लाएं। उन्हें सिद्ध बनाने में पुरुषार्थ करें। मोक्षमार्ग के दर्शक बनें। तभी अरिहंत के उपकार का ऋण चुकाया जाएगा। अतः जो जो भी जगत में तीर्थंकर बने हैं हम उनका अनंत उपकार मानें। उदाहरणार्थ भगवान महावीर तीर्थंकर अरिहंत बने तो कितना अच्छा हुआ? कितने भव्यात्माओं का कल्याण किया। कितने जीवों को मोक्षमार्ग की पटरी पर चढ़ाया।

उनसे बोध प्राप्त कर कितने जीव मोक्ष में गए तो अच्छा ही हुआ। चूं कि उतने जीव निगोद से बाहर निकले। और कितने जीवों ने तीर्थंकर नामकर्म निकाचित किया है? अर्थात् अरिहंत बनने का निश्चय किया। अतः उपकार भी द्विगुणीत-त्रीगुणीत-शतगुणीत हुआ। यह कितना अच्छा हुआ। हमें इस विषय में प्रतिदिन अनुमोदना व्यक्त करनी चाहिए। प्रभु महावीरादि अनंत तीर्थंकर अनंत-अनंत अभिवादन के योग्य है। अनंत बार वंदनीय-नमस्करणीय है। हम उनका जितना उपकार मानें उतना कम ही है।

निगोद से निकले हुए जीव की संसार यात्रा :-

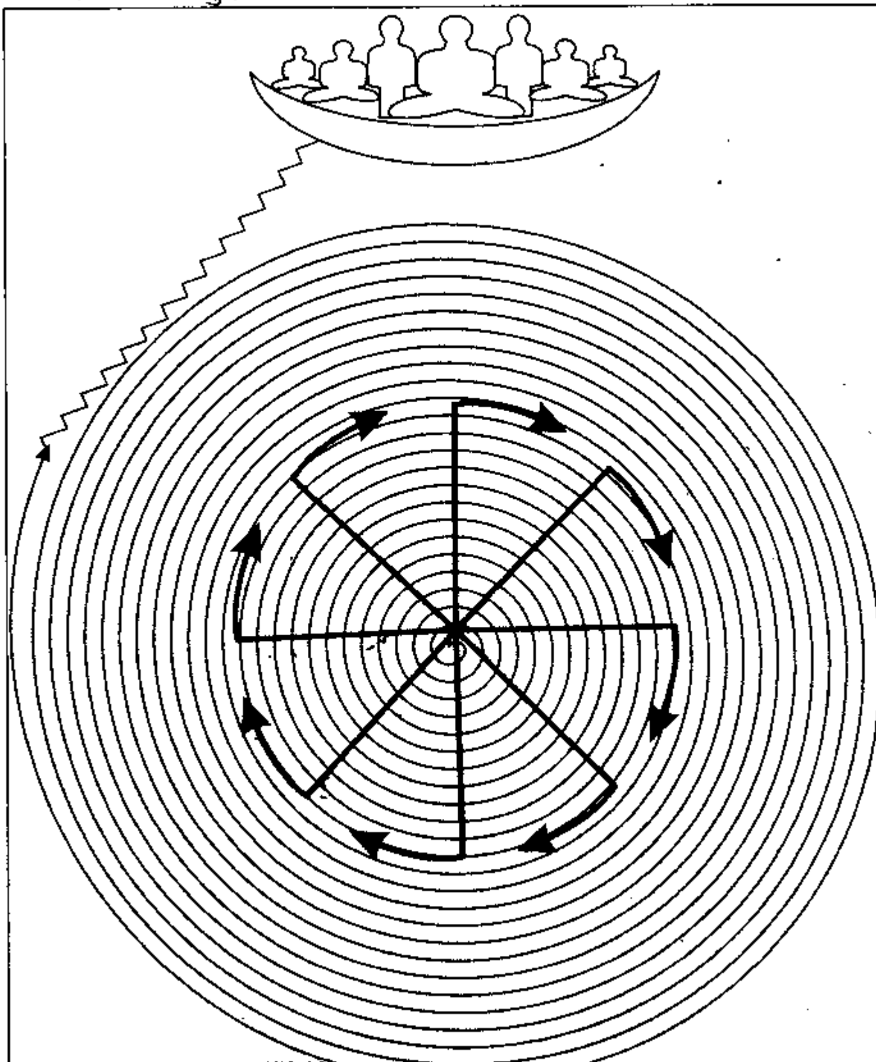

किसी के मोक्ष में जाने से निगोद से बाहर निकला हुआ जीव अब अपनी संसार यात्रा का प्रारम्भ करता है। सर्वप्रथम वह जीव गोले से बाहर आकर सूक्ष्म स्वरूप से ऊपर उठकर बादर साधारण वनस्पतिकाय में कई जन्म धारण करता है। दिवाल पर की काई, फूलण, पंचवर्णी फूग-फिर आलु, प्याज, लहसून, गाजर, मूली, शकरकंद आदि इन सभी बादर (स्थूल) साधारण वनस्पतिकाय में जन्म धारण करता है। वनस्पतिकाय का चक्र पूरा करके आगे पृथ्वीकाय में पत्थर, मिट्टी, सोना, चांदी पीतल, लोहा आदि धातुओं में, पारा, फिटकारी, हिंगलोक, हरताल, सौवीरंजन आदि पृथ्वीकाय के अनेक जन्मधारण करता हुआ अप्काय में जाता है। अप=पानी, पानी का शरीर-जन्म धारण करता है। पानी की एक बूंद में असंख्य जीव इकट्ठे रहते हैं। सूक्ष्म या बादर साधारण शरीर में जहां एक शरीर में एक साथ अनंत जीव रहते थे। वह दुःख अब पानी में कम हुआ। और पानी में एक बून्द में एक साथ असंख्य जीव रहते हैं। अनंत की संख्या से असंख्य पर आए अतः कितनी कम संख्या हो गई । और साधारण से जब प्रत्येक वनस्पतिकाय में जीव आता है तब बड़े आराम से एक शरीर में अकेला एक ही जीव रहता है। अप्काय में समुद्र में, नदी-नाले में, बरसात का पानी, ओस, झाकल, कुए, तालाब, इत्यादि पानी के रूप में कई जन्म बिताए। फिर आगे बढ़ा प्रत्येक वनस्पतिकाय में केला, सेब, नास्पति, मौसंबी, सन्तरा, हरी वनस्पति में पेड़, पौधा, पत्ता, फल फूल में गया। हरी, तरकारियों में गया। असंख्य जन्म यहां भी किए। आगे बढ़ता हुआ तेउकाय (तैजसकाय) अर्थात् अग्निकाय में आया। ज्वाला के रूप में दीपक की लौ, भट्ठी में, तिनके के रूप में, बिजली के रूप में अग्निकाय के कई जन्म धारण करके वायुकाय में प्रवेश किया। हवा के देह में जन्म लिया। वायु मंडल में कई प्रकार की हवा बनी। पुनः आगे प्रत्येक वनस्पतिकाय में आया। इस तरह एकेन्द्रिय पर्याय के पांचों स्थावर शरीर में आकर जीव ने अनन्त जन्म-मरण यहां धारण किए।

जीव की संसार यात्रा और आगे बढ़ी। थोड़ा ऊपर चढ़ा और जीव द्वीन्द्रिय दो इन्द्रिय वाले जीवों में आया। शंख, कौड़ी, सीप, भिन्न-भिन्न प्रकार के कृमि बना। हमारे पेट में कृमि-कीड़े के रूप में जन्म लिया। केंचुआ तथा कई प्रकार के बेक्टरिया के रूप में जन्म लिया। अब आगे बढ़कर जीव तेइन्द्रिय में आया। यहां तीन इन्द्रियों वाला शरीर मिला । चींटी, मकोड़ा, सिर पर जूं, शरीर पर सावा नामक जूं, अनाज के कीड़े (धनेड़ा), भिंडी, मटर आदि में होनेवाली लट (ईयल), खटमल, दीमक आदि के रूप में कई जन्म तेइन्द्रिय में किये। यहां से ऊपर उठकर आगे बढ़ता हुआ जीव चउरिन्द्रिय पर्याय में आया। चार इन्द्रिय वाला जीव बना। जिसमें मक्खी, मच्छर, भंवरा, तीड़ आदि के कई जन्म किये।

शास्त्रकार महापुरुष कहते हैं कि अनेक जन्मों की संचित पुण्याई के योग

से जीव एक के बाद आगे की दूसरी इन्द्रिय प्राप्त करता है। ऐसा ही नहीं कि क्रमशः आगे चढ़ता ही जाय। गिर भी सकता है। वापिस दोईन्द्रिय पर्याय में जा गिरता है, पुनः चढ़ता है। पुनः एकेन्द्रिय में भी जा गिरता है। विकलेन्द्रिय में २-३-४ इन्द्रियवाले जीवों की गिनती है। उनमें भी चढ़ाव-उतार सतत चलता है। चढ़ते भी है, और गिरते भी है। अन्तिम इन्द्रिय है पांचवी। अतः पंचेन्द्रिय पर्याय यह इन्द्रियों में अन्तिम है। अब जीव पंचेन्द्रिय पर्याय में प्रवेश करता है। जैन जीव विज्ञानानुसार पांच इन्द्रियों वाले जगत में चार प्रकार के जीव होते हैं (१) तिर्यंच गति के पशु-पक्षी (२) मनुष्य गति के मानव (३) स्वर्ग के देवी-देवता और (४) नरक गति के नारकी जीव। चारों गति में ये चारों प्रकार के जीव पंचेन्द्रिय पर्याय वाले कहलाते हैं। अब चउरिन्द्रिय पर्याय के ऊपर उठकर जीव पंचेन्द्रिय पर्याय में सर्व प्रथम तिर्यंच गति के पशु-पक्षी के रूप में आकर जन्म लेता है। पशु-पक्षी भी तीन प्रकार में गीने जाते हैं। (१) जलचर (२) स्थलचर (३) खेचर। पहले जीव जलचर में जाकर मछली, मत्स्य, मगरमच्छ, कछुआ आदि बनता है। समुद्र में मछलियों की जातियां, आकृति भेदादि से लाखों प्रकार की है। तथा संख्या में समुद्री मछलियों की गिनती असम्भव है। उतने प्रकारों में जीव जाय और सभी जाति में जन्म करता हुआ जलचर में से स्थलचर में आने में असंख्य वर्षों का,संख्यात जन्मों का काल बीत जाता है।

स्थलचर पर्याय में हाथी, घोड़ा, बैल, ऊंट, गधा, कुत्ता, बिल्ली, भैंस, भेड़-बकरी, शेर, सिंह, चित्ता, भालू, बन्दर, सांप, चूहा, छिपकली आदि में असंख्य वर्षों का काल बीता देता है। खेचर = ख अर्थात् = आकाश। आकाश में उड़नेवाले पक्षी खेचर कहलाता है। इसमें कौवा, तोता, मैना, कबूतर, चिड़िया आदि के सेंकड़ों जन्म धारण करता है। इस तीर्यंच गति में पंचेन्द्रिय पशु-पक्षी में भी गिरता-चढ़ता हुआ असंख्य जन्म-मरण धारण कर सकता है। इस तरह असंख्य वर्षों का काल बीता देता है। शेर-चित्ते आदि के कई हिंसक जन्म धारण कर अन्य पंचेन्द्रिय पशु-पक्षीयों को मारने का पाप करके जीव नरक गति में जाता है। कितना अधःपतन हुआ? कितना जीव नीचे गिरा ? वहां नरक गति में सागरोपमों अर्थात् असंख्य-अगणित वर्षों का काल बीता देता है। यहां से पुनः तिर्यंच गति में वापिस पशु बनता है। पुनः नरक गति में गिरता है। पुनः तिर्यंच में आता है, पुनः गिरता है। इस तिर्यंच से नरक और नरक से पुनः तिर्यंचमें जीव कितने जन्म बीता देता है? कितना लम्बा काल पसार कर देता है। आप चित्र में देखेंगे तो पता चलेगा कि यहां से जीव वापिस नीचे गिरता हुआ चउरिन्द्रिय, तेइन्द्रिय, दोइन्द्रिय और यहां तक की पुनः एकेन्द्रिय पर्याय में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पतिकाय के भव करता है।

फिर उसी तरह वापिस ऊपर चढने की यात्रा शुरू करता है। फिर क्रमशः

एक एक इन्द्रिय में जन्म धारण करता हुआ ऊपर आता है। यहां तक कि पशु-पक्षी में से ऊपर उठकर मनुष्य गति में मनुष्य बन जाता है। चाहे स्त्री बने या पुरुष, आखिर दोनों ही है तो मनुष्य गति के जीव। मनुष्य गति में स्त्री-पुरुष के सिवाय तीसरी कोई पर्याय नहीं है। मनुष्य बनकर भी संसार के सैंकड़ो पाप करता है। पुनः अधःपतन। नरक में जाता है। वहां से वापिस घोडे-गधे के जन्म धारण करता है। ४५ आगमों में अंग सूत्र विपाकसूत्र में बताया गया है कि मनुष्य पर्याय में किए हुए भयंकर पापकर्मों के विपाक अर्थात् फल को भुगतने के लिए जीव नरक गति और वहां से भी तिर्यंच गति के भव धारण करता है। इतना ही नहीं भयंकर पापो के आधीन जीव को विकलेन्द्रिय में पुनः कीडे,मकोडे बनना पड़ता है। तथा इससे भी ज्यादा नीचे एकेन्द्रिय पर्याय में पुनः जाकर पेड-पौधे के जन्म धारण करता है। इस तरह एक जन्म में किए हुए पापों की सजा भुगतता हुआ जीव असंख्य वर्षों का समय नीकाल देता है। उदाहरणार्थ मृगापुत्र का जीव, उज्झीतक कुमार का जीव, ब्रह्मदत्त का जीव, अंजुसुता का जीव आदि कई दृष्टान्त विपाकसूत्र के दुःख विपाक विभाग में दिये हैं। कितनी बार नरक गति में जीव जाता है। कितने जन्म तिर्यंच गति में पशु-पक्षी के बिताता है, और कितना नीचे गिरता है। यह है जीव के चढ़ाव-उतार की स्थिति।

जीव का पुनः निगोदमें जाना :-

उत्थान और पतन तो संसार परिभ्रमण का स्वरूप है। बिना इनके संसार में भटकना नहीं होता। चक्र में परिभ्रमण का जो यह चित्र बताया गया है इसमें जिस तरह एक के बाद दूसरे जन्म बताए गए हैं यह ध्यान से देखिए। जीव क्रमशः ऊपर चढ़ता पंचेन्द्रिय पर्याय में भी मनुष्य गति में आया। मनुष्य जन्म में खाने-पीने के निमित्त भी महा भयंकर पाप करता है। मांसाहार-अंड़े आदि का सेवन करता है। उसी तरह इस पापी पेट को भरने के लिए अनन्तकाय का सेवन करता है। आलु, प्याज, लहसुन, अदरक, गाजर, मूली आदि अनंतकाय अर्थात् साधरण वनस्पतिकाय के स्थूल जीव हैं। एक बार खाने से अनंत जीवों कि हिंसा होगी। अतः मैं इससे तो बचुं, ऐसी दया का भाव भी नहीं है, वह क्या दया पालेगा? कई भयंकर पापों के परिणाम स्वरूप तीव्र मोह एवं भयंकर अज्ञान के कारण किए हुए पापों का परिणाम यह आता है कि जीव गिरकर पुनः निगोद के गोले में चला जाता है। जिस निगोद के गोले से बाहर निकलने में अनंत काल बीत चुका था,जहां से अपनी संसार यात्रा प्रारंभ की थी, आज वापिस वहीं जाकर गिरा। सोचिए! अधःपतन की यह अन्तिम चरम कक्षा है। शास्त्रकार महर्षि तो यहां तक कहते हैं कि-मनुष्य गति में कोई दीक्षा लेकर साधु भी बन जाय और आगे बढ़कर चौदहपूर्वी-१४ पूर्वधारी ज्ञानी-परम गीतार्थ भी बन जाय वे भी पुनः निगोद में जा सकते हैं। कितने ऊपर से

कितनी नीची कक्षा में पतन ?

सोचिए! अब क्या हालत होगी ? फिर उस निगोद के गोले में जाकर उत्पन्न हुआ। दुःख का फिर वही चक्र। फिर पलक भर में जन्म-मरण धारण करते ही जाओं अनन्तगुनी वेदना सहन करते ही जाओ। दूसरी बात यह है। अब निगोद के गोले से वापिस बाहर निकलने के लिए किसी के मोक्ष में जाने से निकलने का चान्स इस जीव को नहीं मिलेगा। निगोद के गोले में दो प्रकार के जीव है। एक तो वह जो पहले से निगोद के गोले में अनादि-अनंतकाल से पड़ा ही था, जो बाहर निकला ही नहीं है उसे अव्यवहार राशि निगोद का जीव कहते हैं। तथा दूसरा वह जो निगोद में आया है, संसार यात्रा में अगणित जन्म-मरण धारण करके वापिस निगोद में आया है, संसार परिभ्रमण का व्यवहार जो करके आया है उसे व्यवहार राशी के जीव कहते हैं। निगोद के गोले में अन्य सब कुछ दोनों का समान हैं। परंतु सबसे बड़ा अंतर तो यह है कि - अव्यवहार राशी वाला जीव ही किसी के मोक्षगमन से बाहर निकल पाएगा। यह चान्स उसे ही मिलेगा। चूंकि हकदार वही है। परंतु जो पुनः गया है उसे यह मौका नहीं मिलेगा। किसी के सिध्द बनने से छुटकारा पाने का मौका एक बार मिल चुका था। संसार की यात्रा का प्रवासी बन चुका था। तो फिर ऐसे पाप कर्म क्यों किये? क्यों वापिस इसी निगोद में आया? अतः अब पुनः वैसा मौका नहीं मिलेगा। यदि पुनः पुनः इन्हे वापिस आये हुए को ही किसी के सिध्द बनने से बाहर निकलने का मौका दिया जाय तो जो अनादि-अनंत काल से निगोद के गोले में पड़े हुए हैं वे फिर कैसे बाहर निकल पाएंगे? उनका तो फिर नंबर ही नहीं लगेगा। वे तो बिचारे पड़े ही रहेंगे। अतः किसी के मोक्ष में जाने से नियमित और निश्चय रूप से पहले के अव्यवहार राशिवाले जीव ही क्रमशः बाहर निकलेंगे। ऐसा शाश्वत नियम है। अतः संसार यात्रा से बाहर के व्यवहार में भटककर पुनः निगोद में आए हुए जीव स्वयं अकाम निर्जरा-अनिच्छा से भी कर्म क्षय करके, बाहर निकलने योग्य योग्यता प्राप्त करें। काफी प्रयत्न-पुरूषार्थ करके बाहर निकलें, यह उन्हें स्वयं को करना है। ऐसी व्यवस्था सर्वज्ञानियों ने देखकर बताई है।

कितने चक्रों में कहां तक परिभ्रमण ?

मान लो कि व्यवहार राशीवाला जीव पुनःस्व पुरूषार्थ विशेष से बाहर निकला। पुनः वह ऊपर चढ़ने के लिए उसी क्रम से एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय के भवों को करता हुआ आगे बढ़ा। फिर से तिर्यंच गति में घोड़े, गधे, हाथी, ऊंट आदि के जन्म धारण करता हुआ मनुष्य गति में आया, देवगति में जाकर देवी, देवता बना। आखिर वह देवगति भी संसार चक्र की ही गति है, इसलिए स्वर्ग से भी मृत्यु पाकर पुनः पशु-पक्षी के जन्म में जाता है, या हीरे, मोती, सोने, चांदी में जाकर उत्पन्न होता

है। फिर वही क्रम उसी तरह वापिस चढो। इस तरह ८४ लक्ष जीव योनियों में जाता हुआ, चारों गति में पाचों जाति में–अर्थात् पांचों इन्द्रियों में भिन्न भिन्न जन्म–मरण करता हुआ कितने चक्र पूरे कर चुका है ? इस प्रश्न के उत्तर में केवलज्ञानी भगवान भी यही शब्द कह सकंते हैं कि – अनंत जन्म कर चुका है तथा काल की दृष्टि से अनंत पुद्गल परावर्त काल बिता चुका है। तैली के बैल की तरह घूमता ही जा रहा है। घड़ी के कांटे की तरह अविरत सतत गोल–गोल घूमता ही जा रहा है। इन अनंत चक्र वाले संसार चक्र का कहीं अन्त ही नहीं है। अन्त जीव को अपने जन्म–मरणों का लाना होगा। इस विषय में एक उपमायुक्त एक दृष्टान्त है, वह रूपक देखिए –

भूतकाल के भवों की गिनत्ती :–

किसी एक जीव ने सर्वज्ञ केवलज्ञानी भग्रवान से अपने खुद के भूतकाल के भवों की संख्या के बारे में प्रश्न पूछा। हे प्रभु ! निगोद से निकलकर आज दिन तक इस भव तक मैंने कितने भव किये होंगे ? कितना काल बीता होगा ? कैसे कैसे भव किये हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए केवलज्ञानी सर्वज्ञ प्रभु ने फरमाया कि – हे जीव ! तूने इतने अनंत जन्म धारण किये हैं कि उन सबके कहने जितना तो मेरा आयुष्य काल भी नहीं है। कैसे कहुँ ? बात भी सही है। अनंत ज्ञानी सर्वज्ञ प्रभु त्रिकाल ज्ञानी है। यद्यपि अपने अनंत ज्ञान से तीनों काल की बातें एक ही समय एक साथ जानते हैं, केवल दर्शन से एक साथ देखते भी हैं। परन्तु मुंह से कहना हो तो क्रमशः एक के बाद एक ही कह सकेंगे। एक साथ सब तो कहना संभव भी नहीं है। चूंकि शब्द तो एक के बाद एक ही निकलेंगे। इस तरह से एक–एक जन्म का सिर्फ नाम निर्देश भी करें तो भी वे सभी भव कह नहीं पाएंगे। क्योंकि आयुष्य काल सीमीत है।

अतः रूपक उपमा से कल्पना के बल पर समझिए कि केवलज्ञानी का एक हज़ार वर्ष का आयुष्य काल हो। जैसे रावण के दस मुंह की कल्पना की गई है उस तरह सर्वज्ञ के मानों एक हजार मुंह भी हों और प्रत्येक मुंह से नाम निर्देश मात्र करते हुए मुंह से १ भव का उल्लेख मात्र ही करें और आगे कहते ही रहें तो १ सेकंड में कितने भव कहे ? १ सेकंड में १००० भव कहे। तो १ मिनीट में कितने ? ६०००० भव कहे। तो १ घंटे में कितने भव कहे ?...इस तरह १ दिन में कितने भव कहे ?...इस तरह एक महिने में कितने भव कहे ? १ वर्ष में कितने भव कहे... उसी तरह १०० वर्ष में कितने भव कहे ? बिल्कुल रुके बिना धारा प्रवाहबध्द अविरत कहते ही जाय तो १००० वर्ष में कितने भव कहें ? सुनने वाला थक जाता है और प्रभु से पुछता है – हे भगवान ! अब कितने कहे और कितने कहने और शेष हैं ? इसके उत्तर में केवलज्ञानी भगवान कहते हैं कि – मेरा तो आयुष्य समाप्त होने आया है।

परंतु मैंने जहां तक तेरे भव कहे हैं उसके आगे कोई दूसरे केवलज्ञानी जो मेरे ही जैसे हजार मुंह और हजार वर्ष के आयुष्य वाले हो, वे आगे तीव्र गति से कहते ही जाय और उनके आयुष्य की समाप्ति के बाद पुनः तीसरे, पुनः चौथे, पांचवे, पच्चीसवें, पचासवें, सौवें, पांच सौवें, हजारवें केवलज्ञानी बिना रूके क्रमशः नाम निर्देश मात्र करते हुए द्रुतगति से कहते ही जाय...तो...इस बीच सुनने वाले ने पूछा हे कृपानाथ ! अब आप यह तो बताइए कि कितने भव कहे और कितने कहने शेष रहे?

इस प्रश्न के उत्तर में अल्पज्ञ को सर्वज्ञ प्रभु क्या उत्तर दें ? कैसे समझाएं ? एक शब्द में कहे तो भी कैसे कहें ? अनंत भव कहें और अनंत भव अभी कहने शेष हैं। तो भी स्पष्ट नहीं होता। अतः उत्तर को दृष्टान्त से समजाते हुए कहते हैं कि - मानों एक द्वीप के चारों तरफ समुद्र हो, उसके बाद क्रमशः दूसरा दुगूना हो। तो अन्तिम असंख्यातवां समुद्र कितना बड़ा-लम्बा-चौड़ा होगा ? वह भी शायद असंख्य योजन परिमित विस्तार का होगा। उस समुद्र के किनारे एक चिड़िया पानी पीने आई हो और उस चिड़िया ने जितना पानी पिया है उतने ही सिर्फ तेरे भव कहे हैं और सारे समुद्र का जितना पानी पीना शेष है उतने तेरे भव कहने शेष है।

सर्वज्ञ भगवान के उत्तर के इस काल्पनिक रूपक से आप कल्पना लगाइये कि एक - एक हजार वर्ष के आयुष्यवाले हजार केवलज्ञानीयों ने अविरत इतने भव कहने के बाद भी कितने थोड़े भव कहे हैं ? कितने थोड़े अल्प भवों की संख्या का भावार्थ दिखाने के लिए - 'चिड़ियाने जितना पानी पिया है उतने तेरे भव कहे हैं।' ये शब्द प्रयुक्त कियें हैं। चिड़िया का शरीर कितना है ? वह पी-पीकर भी कितना पानी पी सकता है? मनुष्य के जितना तो नहीं। सिर्फ थोड़े से भव कहे है। तथा 'आगे अभी और कितनी भव संख्या कहनी शेष है ?' यह दिखाने के लिए रूपक के रूप में - 'जितना समुद्र का पानी पीना शेष है उतने भव कहने शेष है' ये शब्द प्रयोग में लाए हैं। अब आप सोचिए - कितने भव इस जीव ने भव संसार में किये होंगे ? यही हमारे सबके विषय में है। हमारी सभी की भूतकाल के भवों की यही दशा है। इतनी लम्बी संख्या है। अरे ! जो संख्या में कभी भी समा नहीं सकती। उसमें भी यह तो भूतकाल के भवों की संख्या के विषय की बात है। भविष्य के भवों की संख्या का क्या हाल है ? वह और दूसरे दृष्टांत से देखें।

भावि भव संख्या : -

एक बार की बात है दो भाई ने किसी सर्वज्ञ भगवान को अपनी भव संख्या के बारे में पुछा-हे प्रभु ! अब संसार से मुक्त होकर मोक्ष में जाने के लिए हमारे कितने भव (जन्म) शेष रहे हैं ? कितने भवों बाद हम मोक्ष में जाएंगे ? केवलज्ञानी सर्वज्ञ प्रभु ने उत्तर देते हुए फरमाया कि-छोटा भाई सात भव में मुक्त होगा और बड़ा

भाई अभी असंख्य भव करेगा। यह सुनकर दोनों भाई चले गए। अपने मन में सोचने लगे अरे बाप रे ! मुझे अभी और असंख्य जन्म इस संसार में करने पड़ेंगे ? अरे...रे ! क्या करूं ? ऐसा सोचते हुए बड़े भाई ने मन से संकल्प किया कि अब जिंदगी में किसी भी प्रकार का पाप नहीं करुंगा। तप-तपश्चर्या शुरू की, धर्माराधना शुरु कर दी। तन-मन से बहुत बड़ी तपश्चर्या शुरु की। असंख्य भव अभी मुझे और करने पड़ेगे...अरे...रे ! इस संसार में अभी असंख्य भव और भटकना पडेगा। इन शब्दों ने इस आत्मा को भवभीरु-पापभीरु बना दिया। महापुरुषों ने धर्म करने योग्य व्यक्ति की योग्यता इन दो शब्दों से प्रकाशित की है। जिसमें भवभीरुता और पापभीरुता हो अर्थात् जो संसार में होने वाली जन्मसंख्या से डरनेवाला हो अब मुझे संसार में ज्यादा नहीं रहना है ऐसा भाव जागृत हो गया हो वह जीव धर्म के लिए योग्य-पात्र कहलाता है। उसी तरह पाप से डरने वाला अर्थात् पाप से बचने वाला पापभीरू जीव ही धर्म करने के लिए लायक है। पात्र है। धर्मी बनने के लिए ये दो भाव तो आवश्यक है। इस भाव से बड़े भाई ने एक तरफ पाप करने बन्द कर दिये और दूसरी तरफ पुराने किये हुए पापों का क्षय करने के लिए उग्र तपश्चर्या और धर्माराधना शुरू कर दी। धर्मोपासना करते हुए हमारे सामने दो ही लक्ष्य रहने चाहिए। एक तो नए पाप नहीं करना। निष्पाप जीवन जीना। पाप से सर्वथा बचना, और दूसरा है आज दिन तक भूतकाल में किये हुए पापों का क्षय करना। इन्हीं दो लक्ष्यवाला धर्मी सच्चा आराधक कहलाएगा। श्री नमस्कार महामंत्र में 'सव्व पावप्पणासणो' का जो सातवां पद दिया है वह साध्य पद है। महामन्त्र जपते समय हमारा उद्देश्य क्या होना चाहिए? उसके लिए कहा कि - सर्व पापों का नाश हो जाय ऐसी भावना रखनी चाहिए। इन पांच परमेष्ठिओं को किए गए नमस्कार के फल के रूप में मेरे पाप कर्म नष्ट हो ऐसी भावना रखनी चाहिए। इस धारणा को छोड़कर दूसरी स्वार्थी सांसारिक धारणा नहीं रखनी चाहिए।

बड़े भाई ने पाप नाश की भावना से तीव्र धर्म साधना शुरू कर दी। लेकिन छोटे भाई के सिर्फ ७ ही भव शेष है। इतनी छोटी संख्या सुनकर अभिमान आ गया। बस, सिर्फ सात ही भव शेष हैं और वह भी अनंतज्ञानी सर्वज्ञ का वचन है। अतः इसमें तो शंका ही नहीं है, और न ही संख्या कम ज्यादा होगी। निश्चित रूप से सात ही भव होंगे। सातवें भव में मैं मोक्ष में निश्चित रूप से जाने ही वाला हुँ। सात के आठ भव होने वाले ही नहीं है। फिर क्या है? अच्छा, यदि आज मैं कितना भी धर्म करुं तो भी क्या फायदा? आज इस जन्म में तो मोक्ष होने वाला ही नहीं है। ७ भव तो होंगे ही होंगे। अतः आज से धर्म करके भी क्या करुं ? इतना सब कुछ खाने-पीने के लिए मिला है यह छोड़कर भूखे रहकर तपश्चर्या आज से ही क्यों करूं ? सात के आठ

भव तो होने वाले ही नहीं है और मोक्ष भी सातवें भव में ही होने वाला है तो फिर आज से धर्म क्यों करुं ? उसने दुनिया भर के पाप करने शुरू कर दिये। भोग-विलास में मस्त हो गया। 'खाओ-पीओ और मौज करो' का सिद्धांत अपना लिया। जीवन स्तर गिरता गया। धीरे-धीरे हिंसा,झूठ,चोरी,दुराचार,व्यभिचार आदि सब पाप जीवन में आ गए। पाप की प्रक्रिया कुछ ऐसी ही है। जंजीर की तरह एक पाप से दूसरा पाप जुड़ा हुआ है। अतः एक पाप के पीछे दूसरा, दूसरे के पीछे तीसरा, तीसरे के पीछे चौथा पाप आकर खड़े हो जाते हैं। इस तरह अठराह ही पाप आ जाते हैं। छोटे भाई का जीवन ही बदल गया। पूरा पलट ही गया। दोनों बदल गए। एक अधर्मी से पूरा धर्मी बना, और दूसरा धर्मी से अधर्मी बना।

संख्या का आश्चर्यकारी गणित :-

कुछ वर्षों के बाद वे ही केवलज्ञानी महात्मा पुनः मिले। दोनों भाई पुनः पूछने गए। हे कृपानाथ ! आपने हमारी भावि भव संख्या के बारे में पहले भी बताया था। बड़े के असंख्य भव तथा छोटे के ७ भव। हे प्रभु ! आप तो त्रिकालज्ञानी हैं, अतः आपका वचन बदल तो नहीं सकता है। परंतु प्रभु फिर भी हमारे मन में थोड़ी द्विधा है। अतः पुनः कहिए। केवली प्रभु ने कहा कोई फरक नहीं है। संख्या जो मैंने बताई है वही रहेगी। दोनों भाईयो ने अधकि स्पष्ट करने के लिए पुनः पूछा कि हे प्रभु ! अब यह बताइये कि दोनों में से कौन पहले मोक्ष में जाएगा ? ७ भव वाला कि असंख्य भव वाला ? ऐसा प्रश्न पूछना भी मूर्खता है, ऐसा हमको हमारी दृष्टि से लगता है। हम सभी सोचते हैं तो सीधा स्पष्ट दिखाई देता है कि - ७ भव वाला पहले मोक्ष में जाएगा और असंख्य भव वाला काफी बाद में जाएगा। यह तो दीपक की तरह स्पष्ट बात है इसमें क्या पूछना ? लेकिन हम अल्पज्ञ है। हमने हमारी अल्प बुद्धि से यह उत्तर ढूंढ निकाला है। परंतु सर्वज्ञ केवलज्ञानी का उत्तर कुछ और ही था। उन्होंने अपने अनंतज्ञान से देखते हुए स्पष्ट कहा कि असंख्य भव वाला बड़ा भाई तो पहले मोक्ष में जायेगा, बहुत जल्दी ही मोक्ष में जायेगा। परन्तु ७ भव वाला छोटा भाई बहुत देरी से बाद में मोक्ष में जायेगा।

यह सुनकर छोटे भाई के तो होंश खोंश उड गए। पूछा क्योंजी महाराज ! यह कैसे संभव है ? बात तो सीधी दिखाई देती है कि ७ भव ही छोटी संख्या है, और असंख्य भव तो बहुत बडी संख्या है।तो फिर असंख्य भव वाला पहले कैसे मोक्ष में जा सकता है? इस विषय में केवलज्ञानी महापुरुष ने बताया कि संख्या में तो छोटी-बड़ी की बात तुम्हारी सही है, लेकिन भव कितने बड़े और कितने छोटे यह तुमने नहीं सोचा। तुम्हारे ७ भव इतने बड़े-बड़े दीर्घायुष्य के होंगे और असंख्य भव वाले के जन्म छोटे-छोटे होंगे। उदाहरणार्थ तुम इतने भयंकर पाप कर्म कर रहे हो कि यहां से

७ वीं नरक में जाकर ३३ सागरोपम का उत्कृष्ट आयुष्य पाओंगे। १ सागरोपम = असंख्य वर्ष होते हैं, ऐसे ३३ सागरोपम का काल तो सिर्फ १ भव में बीतेगा। जबकि बड़ा भाई कृमि–कीट–पतंग की योनि में जाकर अल्पायु के छोटे छोटे असंख्य भव कर लेगा इस तरह तुम्हारे भयंकर पापों के कारण तुम जो ७ भव बड़े बड़े लम्बे आयुष्य वाले करोगे, इसके पहले तो असंख्य भव बड़े भाई के पूरे भी हो जाएंगे और वह मोक्ष में भी चला जाएगा और तुम संसार में ही भटकते रहोगे अन्त में सातवें भव में ज्ञान आएगा और सभी पाप कर्मों का क्षय करोगे तब मोक्ष में जाओगे।

सर्वज्ञ केवली प्रभु का यह गणित कितना गूढ़ और रहस्य से भरा हुआ है सोचिए। हमने तो अपनी अल्प बुद्धि से विचार किया था। इसलिए अल्पज्ञ को सर्वज्ञ बनने की साधना करनी चाहिए। अपूर्ण को पूर्ण बनने की साधना करनी चाहिए। इसी तरह अज्ञानी को ज्ञानी, रागी–द्वेषी को वीतरागी और संसारी को मुक्त, तथा पापी को निष्पाप, सकर्मी को कर्म रहित बनने की साधना करनी चाहिए। इसी उद्देश से धर्माराधना करनी चाहिए। साध्य भी यही और भाव भी यही रखें। साध्य के अनुसार एवं अनुरूप साधना होनी चाहिए। तो ही इष्ट फल प्राप्त होता है।

संसार मुक्ति का साध्य :–

चार गति सूचक स्वस्तिक के मंगल चिन्ह से हमें बहुत कुछ सीखना है। इसलिए भावना के आधार पर जोड़कर एक द्रव्य को निमित्त बनाकर द्रव्य पूजा में–अष्टप्रकारी पूजा में यह अक्षत पूजा के रूप में रखा गया है। हमें पहले चार गति का सूचक स्वस्तिक बनाना चाहिए। द्रव्य भाव में प्रबल सहायक निमित्त बनता है। यह भाव रखें कि हे प्रभु ! इस चार गति के संसार में मै खूब भटक चुका हुँ। यही संसार चक्र है। इससे मुक्त होने के लिए आज इस अन्तिम मनुष्य गति पाकर आपके चरणों में आया हुँ, आपकी शरण में आया हुँ। ऊपर की जो तीन (ढगली) बिन्दीयां बनाते हैं वह दर्शन–ज्ञान चारित्र की है। यही आत्म धर्म है। और यही मोक्ष का मार्ग है। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में कहा है कि – 'सम्यग् दर्शन–ज्ञान–चारित्राणि मोक्षमार्गः'।

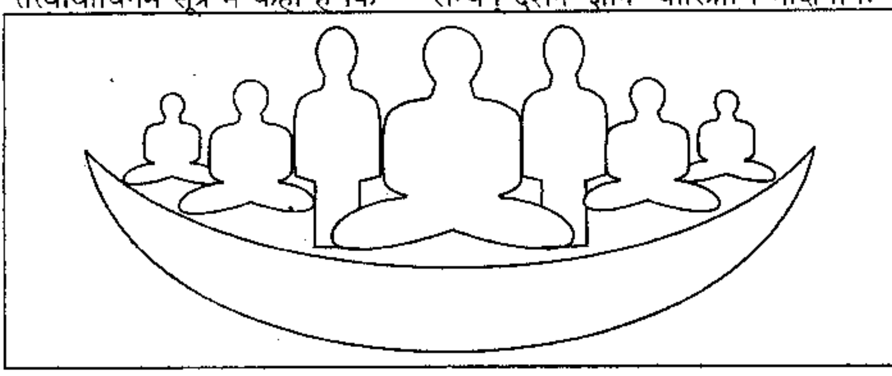

अर्थात् सम्यग्=सही=सच्चा दर्शन, ज्ञान और चारित्रादि मोक्ष प्राप्ति का सही मार्ग है, सही धर्म है। अतः चार गति के संसार चक्र से छूटने के लिए अब जीव मनुष्य गति में आकर इन दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि धर्म (मार्ग) की सच्ची उपासना करे तो सदा के लिए चारों गति का अन्त करके ऊपर उठकर सीधा मोक्ष में जाता है। यह सिद्धशिला कही जाती है। चौदह राजलोक के अग्र भाग पर ४५ लाख योजन विस्तार वाली लम्बी सिद्ध शिला है। जहां अनंत सिद्ध भगवंतो का वास है। यही मोक्ष कहलाता है। यहां गया हुआ जीव पुनः संसार में नहीं लौटता। जीव मोक्ष में गया, मुक्त हुआ, सिद्ध हुआ अर्थात् सर्व कर्म से सदा के लिए मुक्त हुआ। सदा के लिए जन्म-मरण के संसार चक्र से छुटकारा पाया। चार गति के परिभ्रमण से सदा के लिए छूटकारा पाया। शरीर के संयोग से सदा के लिए छूटकारा पाया। यह मोक्ष ऐसा है। अतः इसी क्रम से चावल का स्वस्तिक (साथीया) अक्षत पूजा में बनाते हैं। द्रव्य सहायक साधन है। भाव प्रेरक प्रबल कारण है। भावना-धारणा बनती है।

चारों गति में जीवों का जीवन :-

चारों गति में संसारस्थ संसारी जीवों का निवास है। मनुष्य गति में मनुष्य स्त्री-पुरुष रहते हैं। मनुष्य गति में जन्म होता है। जीव बाल्यावस्था में होता है। आत्मा जो अक्षय स्थिति स्वभाव वाली है उसकी आयु नहीं होती। लेकिन आत्मा जब देह धारण करती है तो वह देह कहां तक ? कितने काल तक टिकाये रखना है ? सम्भाले रखना है ? वह काल अवधि आयुष्य है। जन्म से लेकर मृत्यु तक की काल अवधि आयुष्य काल है। उतना ही समय जीव को जन्म में रहना है। उसके बाद उसे भव पूरा करके,देह छोड़कर दूसरे भव में जाना पड़ता है।' मनुष्य जन्म यद्यपि दुर्लभ है फिर भी आत्मा यदि तथाप्रकार की साधना करे तो मनुष्य जन्म दूसरी बार भी मिल सकता है। तीसरी बार भी मिलता है। इस तरह '**सत्त – अट्ठ** भवों का पाठ हैं। सात से आठ भव मनुष्य गति में जीव लगातार कर सकता है। लेकिन यह कब सम्भव है ? कितनी ऊंची पुण्याई के बाद सम्भव है ? भगवान महावीर ने अपने २७ भवों की भव परम्परा में २ बार मनुष्य भव लगातार साथ में किए हैं। एक बार तो ५ वां तथा छट्ठा एक के ऊपर दूसरा दोनों भव मनुष्य गति में लगातार किये हैं। उसी तरह २२ वां तथा २३ वां पुनः मनुष्य गति में लगातार मनुष्य बने थे। भगवान पार्श्वनाथ ने १० भवों की भव परम्परा में एक बार भी मनुष्य गति के दो-दो भव एक साथ नहीं किये हैं। यह तो संभावना की दृष्टि से ऊंची संख्या में बताई हैं। परंतु प्राप्त करना यह जीव के खुद के पुण्य बल पर आधारित है। सात-आठ भवों की बात दूर रही परन्तु ८४ लाख जीव योनियों के संसार चक्र में भटकते हुए जीव को एक बार भी मनुष्य गति में जन्म प्राप्त करना भी बड़ा कठिन है। फिर दूसरी तीसरी बार की बात ही कहां रही ? अच्छा एक बार के लिए भी मनुष्य गति में जीव आ तो गया, लेकिन मृगापुत्र के जैसा जन्म मिला तो क्या फायदा? मृगापुत्र का जन्म गति की दृष्टि से जरूर मनुष्य गति में गिना जाएगा लेकिन वह भव संख्या की गिनती में सिर्फ गिना जाएगा। इससे ज्यादा आगे उसे लाभ क्या ? भव मनुष्य गति का लेकिन जीवन सारा मानों नरक गति का दुःख भोगता हो, ऐसा लगता है। उसी तरह आज हम आंखों के सामने देखते हैं कि कहलाते तो है मनुष्य परंतु घोड़े-गधे-बैल की तरह बैलगाड़ी खिंचते हुए माल ढो रहे हैं। जीवन मनुष्य का और कार्य पशु का। सोचिए! ऐसे जीवों को मनुष्य गति मिली भी सही तो भी क्या फायदा हुआ? कोई जीव माता के गर्भ में आकर ही चला जाता है। मृत्यु पाता है। कोई जन्म के पहले ही मृत्यु पाता है, तो कोई जन्म के बाद, तो कोई बड़े होने के बाद, तो कईयों को गर्भ में मा ही मरवा डालती है। आज गर्भपात का पाप भयंकर बढ़ता जा रहा है। जगह-जगह पर पंचेन्द्रिय मनुष्यों कि कतल के ये उजले कत्तलखाने चल रहे हैं। सुधरे हुए सभ्य समाज का यह कलंक है महा पाप है। क्या गर्भस्थ शिशु बालक नहीं है ? क्या वह जीव नहीं है ? बेचारा ८४

लक्ष जीव योनियों में परिभ्रमण करके, आज कितने जन्मों की संचित पुण्याई के बल पर मनुष्य गति में आया, और मनुष्य गति में पैर रखते ही प्रवेश करते ही कोई काटकर वापिस भेज देता है, सोचिए कितना गंभीर पाप है । आप किसी कदर ऊपर चढ़ते हुए मनुष्य गति में आ गए, इसलिए क्या दूसरे को मनुष्य गति में आने देना नहीं चाहते हो ? क्यों ? कोई आया है तो उसे प्रवेश भी नहीं करने देते और जन्म के पहले गर्भ में ही काटकर उसे ८४ के चक्कर में भेज देते हैं। गर्भपात का यह पाप बड़े सुहावने स्वरूप में सभ्यता और बुद्धिशालीता की ढाल के नीचे चल रहा है। प्रति साल बड़े बड़े अंक की संख्या आती है। लाखों की संख्या में गर्भपात इस राज्य ने करवाये हैं। उस राज्य ने करवाये हैं। ये बड़े अंक क्या सभ्य मानव की सभ्यता की पहचान है ? या दुराचार-दुश्चरित्र दुष्ट मनुष्य की पहचान है। मानव सभ्य तभी कहा जाएगा जब वह पापों का आचरण न करता हुआ पापों का त्याग करेगा। निष्पाप पवित्र जीवन जीने लगेगा तभी । अन्यथा ऊपर से सभ्य दिखाई देनेवाला मानव आज बहुत ज्यादा आंतर वृत्ति से क्रूर दिखाई दे रहा है। बनता जा रहा है। जब मनुष्य अपने ही संतान को गर्भ में काटता जा रहा है, इतमा नर पिशाच बनता जा रहा है तो समझ लीजिय यह पाप मनुष्य को कहां गिराएगा ? यह पाप करने वाला जीव खुद मनुष्य गति दुबारा कब पाएगा ? यह सोचने की बात है। पंचेन्द्रिय वध का यह पाप नरक गति के सिवाय कहां ले जाएगा ? नरक गति में आयुष्यकाल कितना लम्बा है ? फिर वहां दुःख-वेदना और पीड़ा कितनी सहन करनी है ? अच्छा, एक जन्म के बाद नरक गति से निकल तो जाएगा परंतु तिर्यंच गति में कितने भव करेगा ? पुनः नरक गति में, पुनः तिर्यंच गति तें इस तरह दुःख की दुर्गति में भटकता ही रहेगा। जहां केवल दुःख ही दुःख सहन करना पड़ेगा। श्री विपाक सूत्र देखिए जो ४५ आगमों में ११ अंग सूत्रों में ११ वां अंग सूत्र है। कर्म के विपाक अर्थात् फल की बात की है। दुःख विपाक विभाग के एक नहीं दशों अध्ययन देख लिजीए। जिसमें मृगापुत्र का पहला अध्ययन है । किस किस गति में कितना भटकना पड़ा ? कितने भव किस गति में करने पड़े ? और एक नहीं सातों नरकों में जाना पड़ा। इतना ही नहीं एकेन्द्रिय कि जाति में पृथ्वी-पानी-अग्नि-वायु-वनस्पतिकाय में भी कितना नीचे गिरना पड़ा ? कितने जन्म-मरण करने पड़े ? कितने दुःख सहन करने पड़े ? एक भव के पाप कर्मों को भुगतने के लिए कितने भवों तक सजा भुगतनी पड़ी ? फिर भी छूटका नहीं हुआ? पाप करना तो आसान है, परंतु किये हुए पापों की सजा भुगतते समय नाक में दम आ जाता है। अतः इस चार गति के गतिचक्र से आत्मा को छुडाने का लक्ष्य रखना चाहिए। पाप तो भूतकाल में अनंत किये, अनंत बार किये। लेकिन पाप से छूटने के लिए संवर-निर्जरात्मक धर्म नहीं किया है। वह यदि करने लगे तो इस भव चक्र से

छूट सकेंगे। अन्यथा सम्भव नहीं है। अब यह जन्म मिला है, जो मनुष्य भव है। वीतराग जिनेश्वर का शासन–धर्म मिला है। समझने का यही सही समय है। पापों से बचने का यही सही समय है। इस जन्म में पापों से बच जाएंगे। इस गति चक्र से छूटने का लक्ष्य एक बार बन जाय फिर तो पापों से बचना भी आसान है। पापों से बचना है। संसार से छूटना है। इस गति चक्र की भवाटवी से बाहर निकलना है तभी मोक्ष सुलभ है।

इस तरह संसार चक्र का स्वरूप देखा, और उसमें आत्मा का परिभ्रमण देखा। वह किसी का नहीं अपितु मेरा खुद का है। ८४ के चक्कर में चारों गति में मैंने खुद ने इतने अनंत काल से अनंत भव किये हैं। अब इन अनंत भवों का ही अन्त लाना है। सदा के लिए अन्त करना है। अतः पूर्ण पुरुषार्थ करें। यथार्थ धर्मोपासना करें। संसार में सभी जीवों के संसार का अन्त हो और सभी परम पद मुक्ति धाम को प्राप्त करें इसी शुभेच्छा के साथ सर्व मंगल...।

શાશ્વત - તીર્થંકર વ્યવસ્થા

કાળચક્રના અવસર્પિણી-ઉત્સર્પિણી કાળખંડના ત્રીજા-ચોથા આરાઓમાં - ૫ ભરત, ૫ ઐરાવત અને ૫ મહાવિદેહ આ ૧૫ કર્મભૂમિ ક્ષેત્રોમાં ભૂત-ભાવિ અને વર્તમાન એવા ત્રણેય કાળમાં શાશ્વતપણે તીર્થંકર ભગવંતો થતા જ રહે છે. તેમના સર્વેના પાંચેય કલ્યાણક પ્રસંગો પણ શાશ્વતપણે ઉજવાતા રહે છે.

આ વિષયમાં ઘણી બધી બાબતોમાં શાશ્વતતા-શાશ્વત વ્યવસ્થા છે. तित्थोगालीय पइण्णयादि આધારભૂત ગ્રન્થોનું ચિંતન-મનન અને દોહન કરીને શાસ્ત્રીય તાત્ત્વિક વિવેચન જૈન શ્રમણ સંઘના ડબલ M.A. Ph.D થયેલા સુપ્રસિદ્ધ વિદ્વાન **પૂ. પંન્યાસ પ્રવર ડૉ. શ્રી અરુણવિજયજી મહારાજશ્રી**ની કસાયેલી કલમે લખાયેલ પુસ્તક-**શાશ્વત – તીર્થંકર વ્યવસ્થા** પાંચ ભાગો માં... ટુંક સમયમાં SHREE MAHAVEER RESEARCH FOUNDATION વીરાલયમ્ જૈન તીર્થ તરફથી પ્રકાશિત થશે. જિજ્ઞાસુ રસિક વાચક વર્ગને ખાસ વસાવવા ભેટ આપવા, વાંચવા અને વંચાવવા ભલામણ છે. પૂ. સાધુ-સાધ્વીજી મ.સા.ને ભેટ અપાય છે.

શ્રી વીરાલયમ્ જૈન તીર્થ – ૪ કાત્રજ બાય પાસ આંબે ગાંવ (ખૂર્દ) પો. જાંભૂલવાડી - પુના 411046 મો.નં. 9527428218

संसार की विचित्रता के कारण की शोध

एवं अणोरपारे संसारे सायरम्मि भीमंमि ।
पत्तो अणंतखूत्तो जीवेहिं अपत्त धम्मेहिं ।।

बड़ी मुश्किल से भी जिसका पार न पा सकें ऐसे भयंकर संसार रूपी समुद्र में धर्म को न प्राप्त किया हुआ जीव अनन्त की गहराई में गिरा है। यह संसार एक भयंकर महासागर के जैसा है। जिसमें सतत सुख-दुःख की लहरें चलती है। जो ज्वार-भाटे के रूप में आती हे जाती है। थोड़ी देर सुख तो थोड़ी देर दुःख इस तरह यह संसार सुख-दुःख से भरा पड़ा है। संसार की तरफ जब दृष्टिपात करते हैं, तब अनन्त जीवों का स्वरूप सामने दिखाई देता है। संसार क्या है? संसार किसी वस्तु का नाम नहीं है। किसी पदार्थ विशेष को भी संसार नहीं कहते हैं। परन्तु जड़-चेतन का यह संसार है। चेतन जीव का जड़ के साथ जो संयोग-वियोग है वही संसार है। जीवों का सुखी-दुःखी होना ही संसार है। शुभा -शुभ कर्म उपार्जन करना और उसके विपाक स्वरूप सुख-दुःख भोगना ही संसार है। जन्म-मरण का सतत चक्र चलता रहे उसे संसार कहते हैं।

अनादि – अनन्त संसार :–

यह संसार काल की दृष्टि से अनादि-अनन्त है। जिसकी आदि कभी भी नहीं होती है, अतः संसार भी अनादि है। चूंकि संसार का आधार ही जड़-चेतन दो पदार्थ है। और उनका भी संयोग-वियोग ही संसार है। आत्मा यह अनुत्पन्न द्रव्य है जो कि कभी उत्पन्न नहीं होता है। जो कभी बनाया नहीं जाता है। निर्माण नहीं होता। अतः उसका नाश भी नहीं होता। जो उत्पन्न होता है उसी का नाश होता है। जिसका नाश होता है वह उत्पन्न द्रव्य है। अतः इसी पर आधारित संसार भी अनादि काल से विद्यमान है। चूंकि आत्मा-अनादि-अनन्त है। आत्मा की भी आदि नहीं है अतः संसार की भी आदि नहीं है। उसी तरह मोक्ष में अनंत आत्माओं के जाने के बावजूद भी अनंतानंत आत्माएं इस संसार में सदा ही रहती है। संसार से सभी आत्माएं मोक्ष में नहीं चली गई है अतः संसार का अन्त नहीं आया है। और अ-भवी जीव जो कदापि मोक्ष में जाने वाले ही नहीं है, अतः संसार का कभी भी अन्त आना संभव ही नहीं है। संसरणशील स्वभाव वाला संसार अनंतकाल तक सदा चलता ही रहेगा।

अपना अन्त या संसार का अन्त ?

साधक अपने बारे में सोचे यही लाभप्रद है। जबकि ऐसा संसार का स्वरूप है। समष्टि से तो यह संसार अनादि-अनंत है ही। परन्तु किसी की दृष्टि से इसका अन्त भी है। भगवान महावीर का संसार अनादि जरूर था लेकिन अन्त हो गया। एक व्यक्ति विशेष का संसार सान्त भी है। अतः संसार का अन्त लाना है कि हमको हमारे अपने संसार का अंत लाना है? समस्त संसार का अंत तो संभव भी नहीं है। आने वाला भी नहीं है। परंतु अपने एक के व्यक्तिगत संसार का अन्त लाना चाहें तो जरूर ला सकते हैं। भूतकाल में भगवान महावीर की आत्मा ने अपने संसार का अन्त लाया। वैसे ही चौबिसें तीर्थंकरों ने, सभी गणधर भगवंतो ने, इसी तरह कई आचार्य, उपाध्याय एवं साधु-साध्वीजी महाराजों ने भी अपने संसार का अन्त किया और मोक्ष में बिराजमान हो गए। परन्तु हमारे जैसों का संसार तो आज भी चल ही रहा है और मान लो कि हम जब संसार छोड़कर मोक्ष में चले जाएंगे तब कीडे-मकोड़े-कृमि-किट-पतंग आदि अनन्त जीव इस संसार में हैं उनका संसार चलता ही रहेगा। संसार का कभी अन्त नहीं होता।

काले अणाइ निहणे जोणि गहणंमि भीसणे इत्थ।
भमिया भमिहंति चिरं जीवा जिणवयणमलहन्ता।।

पू. शांतीसूरी महाराज जीवविचार प्रकरण में फरमाते हैं कि - अनादि काल से अनेक योनियों को ग्रहण करता हुआ यह जीव इस भीषण संसार के अन्दर भटकता रहा है और जिनेश्वर भगवान के वचन (आज्ञा) को न प्राप्त करने वाला भविष्य में भी चिरकाल तक इस संसार में भटकता ही रहेगा।

हम संसार को छोडे या संसार हमें छोडे ?

एक युवक रास्ते पर इलेक्ट्रिक के खम्भे से लगा हुआ जोर से चिल्ला रहा था-बचाओ बचाओ...छूड़ाओ छूड़ाओ। सज्जन को यह सुनकर दया आई और वह छुड़ाने आया। साथ में किसी दूसरे को भी मदद में लेता आया। दोनों ने दो हाथ पकड़ कर खिंचना शुरू किया। जैसे जैसे दोनों जोर लगाकर हाथ खिंचते जा रहे थे कि युवक हाथ मजबूत पकड़ रहा था। उसकी मजबूत पकड़ से वे दोनों छूड़ा नहीं सके और चल दिये। यह दृश्य देखकर एक तीसरा सज्जन आया। उसने सोचा कि इस युवक ने खम्भे को पकड़ रखा है कि इस खम्भे ने युवक को पकड़ा है ? क्या बात है ? अन्दर से उत्तर मिला खम्भा तो जड़ है। जड़ कहां चेतन को पकड़ रखता है ? अतः इस युवक ने ही खम्भे को पकड़ रखा है, और फिर भी यही चिल्ला रहा है बचाओ बचाओ...छूड़ाओ छूड़ाओ...। क्या बात है ? गंगा उल्टी बह रही है। यदि

खम्भे ने पकड रखा होता और युवक चिल्लाता तो बात सही भी थी। लेकिन खुद ही चिल्ला रहा है। यह कैसी मूर्खता है? इसने खम्भे को पकड़ रखा है और खम्भा तो चिल्ला भी नहीं रहा है चूंकि जड़ है। चिन्तक था चिन्तन किया। यहां बल का काम नहीं था। कल (अक्कल) का काम है। उस सज्जन ने कस कर दो थप्पड़ उस युवक के मुंह पर जोर से मारी। चमत्कार ही समझ लो। युवक के हाथ छूट गए और सीधे गाल पर लग गए। युवक ने रोते हुए भारी स्वर में कहा मुझे मारा क्यों? क्या यह छूड़ाने का बचाने का तरीका है? सज्जन ने कहा – माफ करना कभी ऐसा भी तरीका अजमाना पड़ता है। जबकि मेरे पहले दो सज्जनों ने हाथ खिंचकर काफी प्रयत्न किया पर नहीं छूड़ा सके अतः मैने बुद्धि पूर्वक एवं युक्ति पूर्वक यह तरीका अपनाया है। अतः माफ करना। परन्तु मैं यह पूछ रहा हुँ कि तुने खम्भे को पकड़ रखा था कि खम्भे ने तूझे पकड़ रखा था? यदि खम्भे में करंट होता तो कब का मर चुका होता। यह तो बताओ किसने किसको पकड़ रखा था। आश्चर्य है कि तुमने ही खम्भे को पकड़ रखा और तुम ही चिल्ला रहे थे तो क्या यह मूर्खता नहीं थी।

वाह ! बहुत अच्छा प्रश्न था उस सज्जन का। इस रूपक को हम किसी संसारासक्त संसारी पर लें और देखें कि हमने संसार को पकड़ रखा है कि संसार ने हमको पकड़ रखा है? हम साधु–संतों के पास जाते हैं कहते हैं कि हे भगवन् ! मेरे ऊपर दया करो। इस संसार से बचाओ...छुडाओ ! साधु–संत सदा ही संसार छोड़ने का उपदेश देते हैं, लेकिन संसार ने यदि आपको पकड़ा हो तो तो आपको उसके पंजे से छुड़ा भी सकें। परन्तु संसार ने तो आपको पकड़ा नहीं है। आपने संसार को पकड़ कर रखा है। अतः साधु–सन्तों को चाहिए कि पहले दो सज्जनों की तरह प्रयत्न न करके तीसरे सज्जन के जैसा प्रयोग करे तो तो चमत्कार सम्भव है। चूंकि आपने आसक्ति से संसार को पकड़ रखा है। और फिर आप ही चिल्ला रहे हो अतः बड़ा मुश्किल है। सोते हुए को जगाना आसान है परन्तु जागते हुए को जगाना बहुत ही कठिन है। संसार हमको नहीं छोड़ेगा चूंकि उसने पकड़ भी नहीं रखा है। हमने ही आसक्ति से संसार को पकड़ रखा है अतः हमको ही छोड़ना पड़ेगा। तभी संसार छूटेगा।

संसार का स्वरूप बड़ा ही विचित्र है। संसार में एक आता है दूसरा जाता है। एक जन्म लेता है तो दूसरा मरता है। बच्चा जन्म लेता है तो मां मरती है। कभी कभी दोनों ही मृत्यु की शरण में चले जाते हैं। किसी के घर महेफिल चल रही है तो किसी के घर...रूदन चल रहा है। कहीं हंसी–खुशियों का कोई पार नहीं है, तो कहीं रो रोकर आंखों से गंगा–जमुना बहा रहे हैं। कहीं सुख–मोज की लहरें चल रही है तो कहीं दुःख की थपेड़े खा रहे हैं। ज्ञानी भगवतों ने अपने ज्ञान योग से भावि का स्वरूप

एवं जन्म के बाद के जन्मान्तर का स्वरूप देखकर बताया कि इस संसार में मां मृत्यु पा कर पत्नी बन सकती है और पत्नी मृत्यु पाकर मां बन सकती है। बाप मृत्यु पा कर बेटा बन सकता है और बेटा मृत्यु पा कर बाप बन सकता है। भाई मृत्यु पा कर शत्रु भी बन सकता है बेटी मृत्यु पा कर बहन भी बन सकती है। यह तो फिर भी ठीक है कि मृत्यु के बाद अगले जन्म में ऐसे सम्बन्ध बनते हैं, लेकिन जीवन में ऐसे सम्बन्ध आज भी संसार में हो रहे हैं जहां भाई-बहन की शादी हो जाती है। आए दिन अखबारों में पढ़ते हैं कि बापने अपनी बेटी पर बलात्कार किया। बेटे ने कुल्हाड़ी से मां और बाप दोनों को मार ड़ाला। पति ने पत्नी को जिन्दी जला दी और पत्नी ने पति को चाय में जहर पिला दिया। कहीं भाई-भाई का गला घोटता है तो कहीं बाप बेटे को जान से मार ड़ालता है। कहीं सासु बहु को जला देती है तो कहीं संसार से ऊब कर बहु अपने आप जलकर मर जाती है। प्रेम के नाम पर भी मौत और मौत सामने दिखने पर भी प्रेम की चाहना। बड़ा ही विचित्र संसार का स्वरूप है।

एक बहुमाली मंजिल से किसी कुंआरी कन्या ने जो माता बन चुकी थी, अपने नए जन्मे हुए शिशु को ऊपर से नीचे कुडे-कचरे में फैंक दिया। काश ! क्या माता के दिल में से संतान के प्रति प्रेम समाप्त होता जा रहा है? क्या दयालु माता निर्दय बनती जा रही है? परन्तु हां पत्नी बने पहले कुंआरी अवस्था में माता बनने के बाद क्या नतीजा आएगा? हाय, यही कलियुग की पहचान है कि पत्नी बनने के पहले मां बनना, और सन्तान के प्रति क्रूर बनकर फैंक देना। उस अपरिणित युवती ने ताजे जन्मे हुए शिशु को ऊपर से फैंक दिया। नीचे कागद का ढेर था उस पर बालक गिरा। सद्भाग्य वश बच गया। किसी सज्जन ने उठाकर अनाथाश्रम में दे दिया। पालन-पोषण हुआ। वह लड़की थी बड़ी हुई। अनाथाश्रमवासियों ने स्कूल में पढ़ाई और कालेज में भेजी। इधर माता-पिता ने जल्दी ही युवती की शादी कर दी। उसको एक लड़का हुआ, लडके को स्कूल में भेजा... बड़ा होकर उसी कालेज में गया, वहां इसी लड़की से प्रेम हुआ जो अपनी ही बहन थी। चूंकि एक ही मां के दोनों संतान थे। शादी भी हो गई और संसार चलने लगा। ऐसी अनेक घटनाएं तो आज भी हो रही है। अमेरिका में जहाँ स्कूल-कालेज में छात्राएं पढ़ती हैं, वहां अपरिणित युवतियों में २०% से ३०% छात्राएं प्रति वर्ष माता बनती है। जिसमें १४ वर्ष से १८ वर्ष की आयु होती है और ५०% से ६०% जो माता नहीं बनती है व पहले से गर्भपात करा देती है। गर्भपात केन्द्रों पर स्कूल-कालेज की छात्राओं की कतारें लगती हो,यह कितनी शर्म की बात है। परन्तु वर्तमान युग के मानवी ने जहां अपने आप को बहुत ही ज्यादा बुद्धिशाली और सभ्य समझ लिया है वहां शर्म-धर्म कहां से रहें ? संसार का यह स्वरूप बड़ा ही ड़रावना है। हाँ, ऐसा तो चलता ही रहता है।

काल की बदलती हुई करवट में सब कुछ बदलता रहता है।

एक जन्म में १८ प्रकार के सम्बंध :-

मथुरा नगरी की एक नई नई तरूण वेश्या ने एक पुत्र-पुत्री के युगल को जन्म दिया। अपनी वेश्यावृत्ति के व्यवसाय को चलाने हेतु से दोनों को चिन्ह रूप अंगूठी पहनाकर एक लकडे की पेटी में बन्द करके नदी के प्रवाह में बहा दिये। बहती-तैरती पेटी सौर्यपुर शहर के नदी किनारे आइ, वहां दो व्यापारी मित्र बैठे थे, उन्होंने पेटी ली। खोली। उसमें से एक लड़का और एक लड़की निकलें। दोनों मित्र संतान के अभाव से पीडित थे। अतः दोनों ने एक एक बांट लिया और शर्त यह रखी कि भविष्यमें इनकी शादी करनी। वैसा ही हुआ। यौवनवय में शीघ्र ही दोनों की शादी कर दी गई। कल के दोनों भाई-बहन आज पति-पत्नी बन गये।

एक बार जुआ खेलते समय अंगूठी से दोनों को ख्याल आया और बाद में अपने पालकों से पूछकर वास्तविकता जानकर कि हम भाई-बहन है अतः संबंध छोड़ दिया। बहन ने पश्चाताप से दीक्षा ली और भाई व्यापारार्थ मथुरा गया। योगानुयोग कर्म संयोग वश कुबेरदत्ता वेश्या जो अपनी मां थी उसी के यहां ठहरा। उसी के साथ (मां के साथ) देह संबंध का व्यवहार चलने लगा। दैव योग वश एक पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। इधर बहन साध्वी को अवधिज्ञान होने से यह विचित्र योग देखकर साध्वी विहार करके मथुरा नगरी में इस वेश्या के घर आई। घर के प्रवेश द्वार में उस रोते हुए बालक को शांत करने के बहाने से लौरी गाने लगी। उस लौरी में साध्वी ने अपने संबंध सुनाए। हे बालक ! क्यों रोता है तेरे मेरे तो कंई संबंध है। तूं मेरा भाई होता है, पुत्र भी कहलाता है, देवर भी है, भतीजा भी होता है, चाचा भी लगता है तथा पौत्र भी लगता है। तेरे पिता मेरे भाई भी होते हैं, पिता, दादा, पति, पुत्र और श्वसुर भी लगते हैं। हे बालक ! तूं रो मत भाई तेरी मां मेरी भी मां लगती है, तेरे बाप की भी मां लगती है। मेरी भुजाई, पुत्रवधु, सास और शोक्य भी लगती है। इस तरह १८ प्रकार के सभी संबंध तेरे मेरे बीच लगते हैं। तेरा बाप और मैं भाई-बहन हैं, और पति-पत्नी के संबंध से जुड़े। इतना ही नहीं हम छूटे तो भाई (पति) कुबेरदत्त यहां मथुरा में आकर अपनी मां के साथ ही देह संबंध करता हुआ पति रूप में रहने लगा और उससे एक पुत्र पैदा हुआ। हाय ! इस संसार की कैसी भयंकर विचित्रता? अब क्या किया जाय? किसको मुंह दिखाएं साध्वी जो कुछ बोल रही थी वह वेश्या ने और कुबेरदत्त दोनों ने सुना। सुनकर बहुत ही दुःख हुआ। विषय वासना के निमित्त कैसे भयंकर पाप कर्म हो जाते हैं। पश्चाताप से मन वैराग्यवासित हुआ। भाई ने भी दीक्षा ली। साधु बनकर कड़ी तपश्चर्या करके पाप धोने का संकल्प किया। वेश्या ने वेश्यावृत्ति छोड़ दी। सभी पापों को धोने के लिए पश्चाताप एवं प्रायश्चित की प्रवृत्ति में

लग गइ। कैसा विचित्र है यह संसार? कैसी घटनाएं घटती है? कैसा स्वरूप धारण कर लेती हैं ?

विचित्रता–विषमता और विविधता :–

इस तरह देखने से स्पष्ट दिखाई देगा कि समस्त संसार का स्वरूप सैंकड़ों प्रकार की विचित्रताओं, विविधताओं एवं विषमताओं से भरा पड़ा है। अतः यही सत्य कहा जाता है कि जहां इस प्रकार की विचित्रता, विषमता एवं विविधताएं भरी पड़ी है वही संसार है। उसी का नाम संसार है। संसार के बाहर मोक्ष में इनमें से एक भी नहीं है। चित्र = अर्थात् आश्चर्य =विचित्रता अर्थात् आश्चर्यकारी–विस्मयकारी स्वरूप। अतः संसार का स्वरूप जो भी कोई देखे उसे आश्चर्यकारी ही लगेगा। संसार में आश्चर्य नहीं होगा तो कहां होगा? अतः समस्त आश्चर्यों का केन्द्र संसार ही है। आप देखेंगे कि –

कोई सुखी है तो कोई दुःखी है ।
कोई राजा है तो कोई रंक है।
कोई अमीर है तो कोई गरीब है।
कोई बंगले में है तो कोई झौंपड़ी में है।
कोई राजमहल में है तो कोई फुटपाथ पर है।
कोई हसमुख है तो कोई रोता हुआ है।
कोई प्रभाव सम्पन्न है तो कोई प्रभावरहित है।
कोई बुद्धिमान चतुर है तो कोई बुद्धू मूर्ख है।
कोई साक्षर विद्वान है तो कोई निरक्षर भट्टाचार्य है।
कोई सन्तोषी है तो कोई लालचु है।
कोई सीधा–सादा सरल है तो कोइ मायावी कपटी है।
कोई निर्लोभी है तो कोई लोभी है।
कोई भोला–भाला भद्रिक है तो कोई छलकपट करनेवाला प्रपंची है।
कोई ज्ञानी है तो कोई अज्ञानी है।
कोई उदार दानवीर है तो कोई उधार लेकर भी कृपण है।
कोई वैरागी है तो कोई रागी है।
कोई धनवान सम्पन्न है तो कोई निर्धन विपदा में है।
कोई सबल है तो दूसरा निर्बल है।
कोई साधार सशरण है तो कोई निराधार अशरण है।
कोई सज्जन है तो कोई दुर्जन है।
कोई गोरा सुन्दर रूपवान है तो कोई काला कुरूप है।

कोई चिरायु है तो कोई अल्पायु है।
कोई निरोगी हृष्ट-पुष्ट है तो कोई रोगी दुर्बल देह है।
कोई दयालु है तो कोई निर्दय क्रूर है।
कोई सर्वाङ्ग सम्पूर्ण है तो कोई विकलांग है।
कोई तेज पूंज समान है तो कोई निस्तेज है।
कोई मोटा ताजा मस्त है तो कोई दुबला-पतला त्रस्त है।
कोई समझदार है तो कोई नासमझ नादान है।
कोई मन्दमति मूढ़ है तो कोई तीव्रमति चपल है।
कोई लम्बा लम्बूचन्द है तो कोई बौना वामन है।
कोई क्षमाशील शांत है तो कोई क्रोधातुर आग है।
कोई नम्र-विनम्र विनयी है तो कोई अक्कड अविनयी है।
कोई निरभिमानी विनीत है तो कोई महाभिमानी-घमण्डी है।
कोई यश प्रतिष्ठावाला है तो कोई अपयश-अपकीर्तिवाला है।
कोई सन्तानपरिवारवाला है तो कोई निःसंतान अकेला है।
कोई प्रेम रखता है तो कोई वैर वैमनस्य रखता है।
कोई धन लूटा रहा है तो कोई कौड़ी कौड़ी के लिए मुंहताज है।
कोई फूल सुगन्धी है तो कोई सुगन्ध रहित है।

किसी के यहां खाने के लिए बहुत है पर अफसोस कि खानेवाला कोई नहीं है और किसी के यहां खानेवाले बहुत ज्यादा है तो खाने के लिए रोटी का टुकड़ा भी नहीं है। किसी के घर पहनने के लिए ढेर कपड़े हैं, एक साथ २-४ कपड़े पहनते हैं तो किसी के घर शरीर लज्जा ढांकने के लिए भी कपड़ा नहीं है। नंगे घूम रहे हैं। तो किसी के पास कफन के लिए भी नहीं है। यह संसार कि कैसी विचित्रता है। संसार की ऐसी सैंकडों विषमता हैं। और सच कहो तो विषमताओं से ही भरा पड़ा संसार मानों विचित्रताओं विषमताओं तथा विविधताओं का ही बना हुआ है। इस संसार की चित्र विचित्र बातें भी कम नहीं हैं। किसी को एक भी संतान नहीं है तो किसी को एक साथ ३, ५, ६ सन्तानें होती है। कोई जुड़वा सिर वाले बालक हैं तो कोई जुड़वा पेट वाले बालक हैं। किसी किसी में सारा शरीर अच्छा सुन्दर है परन्तु अंगोपांग पूरे विकसे नहीं है।

एक मां अपने ८ महिने के बालक को कपड़े में लपेटे हुए लाई। बालक इतना सुन्दर और मनमोहक था कि प्यार करने के लिए किसी का भी जी ललचा जाय। परन्तु कपड़ा हटाकर मां ने बालक को दिखाया तब देखते देखते आंखे फटने लगी ! अरे यह क्या? बांया हाथ कोनी तक ही बना था और दाँया हाथ कलाई तक

ही बना था। उसी तरह बांया पैर घुटने तक ही बना था और दाहिना पैर एडी तक भी नहीं बना था। यह कैसा आश्चर्य? इतना सुन्दर बालक होते हुए भी यह विचित्र अवस्था? विपाक सूत्र नामक ११ वें अंगसूत्र में दुःख विपाक के पहले अध्ययन में मृगापुत्र का जो वर्णन किया गया है वह रोम रोम खड़े कर दे ऐसा आश्चर्यकारी है।

एक मां अपने १४ महिने के बच्चे को लेकर आई और कहा महाराज ! डॉक्टर ने कहा है कि यह मुश्किल से एक दिन भी नहीं जीएगा। सारे शरीर में कैन्सर की गांठे भर गई हैं। मुंह से पानी भी नहीं उतरता है और पेशाब भी नहीं होता। मौत का इन्तजार करता हुआ वह सुन्दर-सुरूप बालक दिल में दया का मानों स्रोत बहा रहा हो। पर हाय निःसहाय निरुपाय बालक ने दूसरे ही दिन दम तोड़ दिया। यह कैसी विचित्रता है।

पशु-पक्षियों की सृष्टि में दृष्टिपात करने पर दुनिया भर की विचित्रता दिखाई देती है। मूक प्राणियों की यह विचित्रता संसार में देखते ही रहो...बस...देखने के सिवाय और कोई उपाय ही नहीं हैं। बेचारे ऊंट का शरीर कैसा है ? अठारह ही अंग सभी टेडे मेढे। हाथी का शरीर इतना बड़ा भीमकाय है कि बिचारा भाग भी न सके। कुत्ते-बिल्ली की विचित्रता कुछ और ही है। खाने के हाथ भी नहीं है। बन्दर दो पैरों का खाने के लिए हाथ की तरह उपयोग भी कर लेता है। जलचर प्राणियों के न हाथ न पैर मछलियां अपने पंख से ही तैरती रहती है। पक्षी पंख से उड़ते हैं। किसी के सींग है, तो किसी के एक भी सींग नहीं, तो किसी के बारह सिंग पेड की जाली की तरह दिखाई देता हैं। पशु-पक्षीयों की प्राणी सृष्टिमें कीडे-मंकोडे तक देखने जाएं तो आश्चर्य का पार नहीं रहेगा। कीसीके कान ही नहीं है तो कीसी को आंख ही नहीं है। कोई जीवन भर आंख के बिना ही काम चलाते हैं।इन्द्रियों का भी विकल बिचारे विकलेन्द्रिय जीव किसी कदर जीवन बिता रहे हैं। सभी जीव आहारादि की संज्ञा के पीछे जीवन बिता रहे हैं। मानों बहते पानी की तरह सभी का जीवन बीतता जा रहा है। फिर भी दुःख से मुक्ति कहां हैं ? अगले जन्म में वही परम्परा चलती रहती है। न तो भवचक्र का अन्त है, न ही जन्म-मरण के चक्र का अन्त है, और न ही संसार का अन्त। न ही भव भ्रमण का अन्त है। किसी के लिए तो हम कहते हैं - 'वन्स मोर प्लीज' फिर से दुबारा गाइए। दुबारा बोलिए। आप तो दो घंटे से भी ज्यादा बोलते ही रहिए। और किसी के लिए गधा कहीं का बड बड करता ही रहता है। बैठता भी नहीं है। किसी का मधुर सुस्वर मीठा कंठ पसंद आता है। मुग्ध कर लेता है। तो किसी का स्वर भैसासूर गर्दभराज का फटा हुआ गला सुनने को जी नहीं चाहता। कोई कोयल जैसा तो कोई कौए जैसा। कौए और कोयल में भी क्या अन्तर है ? समान दिखनेवाले भी आसमान-जमीन का अन्तर

रखते हैं । कोयल अपने वर्ण से नहीं परन्तु कंठ से सभी को प्रिय है । जब कि कौआ किसी भी रूप में किसी को प्रिय नहीं हैं । सभी को अप्रिय है । संसार में प्रियाप्रिय की विचित्रता बड़ी लम्बी चौडी है ।

इस प्रकार का संसार देखने से सेंकडो प्रकार की विचित्रता, विविधता और विषमता दिखाई देती है । इसका कारण क्या हो सकता है ।

दो भाई के बीच वैषम्य : –

एक मां के दो पुत्र या चार पुत्र भी परस्पर समान स्वभाव वाले नहीं होते हैं । समान प्रेम भी नहीं होता । भाई–भाई भी दुश्मन बन जाते हैं । एक दिन एक थाली में इकट्ठे भोजन करने वाले दो भाई एक दिन एक दूसरे के दुश्मन बन जाते हैं । एक दूसरे को आंखों के सामने देखने के लिए भी तैयार नहीं है । ऐसे दृष्टांत को देखने जाएं तो संसार में लाखों दृष्टांत है । औरों की बात ठीक परन्तु हमारे परम उपकारी भगवान के ही दस भवों का संसार देखें तो बड़ी भयंकर विचित्रता सामने आएगी । पहले जन्म में दोनों एक माता–पिता के दो पुत्र सगे भाई थे । बड़ा भाई कमठ और छोटा भाई मरूभूति । माता–पिता ने दोनों की शादी करा दी । कालावधि समाप्त होने पर दोनों स्वर्ग में चले गए । कालक्रम से दोनों भाई बडे हुए। सामान्य निमित्तों के कारण बड़े भाई कमठ को छोटे भाई मरूभूति पर निष्कारण वैमनस्य रहने लगा । वह घर छोड़ कर जंगलमें भाग गया । तापस के आश्रम में जाकर संन्यासी बना परन्तु मन में भाई का वैर लेने की वृत्ति शांत नहीं हो रही थी । वह संन्यासी बनकर आया और गांव के बाहर धूणी लगाकर तपश्चर्या करके बैठा । मुसाफिर के साथ मरुभूति को बुलाने का संदेश भेजा । भद्रिक परिणामी मरूभूति मिलने गया । ऐसा मौका देखकर बड़े भाई कमठ ने बड़े पत्थर की शिला उठाकर पैरों में झुके भाई के सिर पर जोर से पटककर सिर फोड कर मार डाला । इतने से भी संतोष नहीं हुआ...तब अपनी समस्त तपश्चर्या को होड में लगाकर नियाणा किया कि भावि में जनम–जनम तक इसको मारने वाला तो मैं ही बनूं । यही हुआ आगे । १० जन्म तक दोनों भाईयों का भव संसार वैर–वैमनस्य का चला । छोटा भाई मरूभूति जो स्वभाव से शांत प्रकृति का था । समता का साधक था । आत्म कल्याण की साधना में लगा हुआ था । ठीक इससे विपरीत प्रकृति वाला बड़ा भाई कमठ था । वह सभी जन्मों में मारनेवाला ही बना । मारता ही गया । परन्तु याद रखिए! मारने वाले का ही बिगड़ता है । समता से मरनेवाले का कुछ भी नहीं बिगड़ता । दुर्गति मारने वाले की होती है । समता से समाधि में मरने वाले की सद्गति होती है । संसार में मारने की वृत्ति वाले तो लाखों है जबकि समता से समाधि में मरने वाले विरले है । मरनेवाला महान है । मारनेवाला अधम है । अन्त में यही हुआ, दस जन्मों तक समता शांति रखने वाला छोटा भाई मरूभूति दसवें जन्म में

भगवान पार्श्वनाथ बनकर मोक्ष में गए। जबकि बड़ा भाई कमठ आज भी संसार की घटमाल में भटक रहा है। न मालुम आगे कितने भवों तक भटकता ही रहेगा। सगे भाईयों के बीच ऐसा भयंकर संसार चलता है तो फिर अन्यों में तो कहा ही क्या जाय ? जाति वैमनस्य का रूप तो और ही भयंकर है ।

एक जज तो एक भिखारी :-

बात सगे दो भाई की है। छोटा भाई तो हाईकोर्ट का जज है और बड़ा भाई रास्ते पर भिख मांगता हुआ भिखारी है। योगानुयोग रास्ते में भिखारी हमारे पास आया कुछ मांगने की दृष्टि से । और उसी समय जज साहब भी वहां से पसार हो रहे थे कि वे भी रुके । भाई को कहा चल गाड़ी में बैठ जा । मेरे साथ बंगले में ही रह जा । क्यों इस तरह भिख मांगता है ? दुनिया देखती है। मुझे शरमिंदा होना पड़ता है । बहुत कुछ कहा लेकिन भाग्य कहां घसीट ले जाते हैं ? कैसा विचित्र संसार। दो भाइयों में भी समानता नहीं है । बड़ी भारी विषमता है । विचित्रता है । एक मां के चार बेटे भी समान स्वभाव के नहीं है । कोई पूर्व दिशा की बात करता है तो कोई पश्चिम की । कोई क्रोध की आग से घर को जलाता है तो कोई लोभवृत्ति से घर को लूटता है। कोई मान अभिमान से घर की इज्जत बिगाडता है,तो कोई मायावी वृत्ति से कपट की जाल रचता है। संसार सर्वत्र विचित्र दिखाई देता है। इतना ही नहीं युगल रूप में जन्मे हुए दो भाईयों के बीच में भी साम्यता नहीं होती है। क्या कारण है ?

भव रोग का भय :-

भव अर्थात् संसार, भव अर्थात् जन्म-मरण, भव अर्थात् संसार की भव परंपरा। देह रोग का भान तो सबको होता है। परंतु भव रोग का ज्ञान किसी विरल को ही होता होगा आधि-व्याधि-उपाधि में कई प्रकार के रोग बताए गए हैं। शारीरिक रोग एवं मानसिक रोग तो प्रसिद्ध ही है। सभी इनसे अच्छी तरह सुपरिचित है। शरीर में होने वाले रोग शारीरिक रोग है। पागलपन आदि मानसिक रोग है। उन्माद आदि कामासक्ति के रोग है । ये सभी साध्य-असाध्य दोनों कक्षा के है। कई रोग जो साध्य है वे जल्दी ठीक हो जाते हैं, लेकिन जीव लेकर ही जाने वाले असाध्य रोगों की सूचि भी आज छोटी नहीं है। शरीर तंत्र में होने वाले शारीरिक रोगों से आज सभी संतप्त है। उससे बचने के लिए सैकड़ों उपाय ढूंढ निकाले हैं। कई प्रकार के इलाज कराए जाते हैं। लेकिन इसी शरीर के भीतर रहनेवाली जो चेतना शक्ति है, जिसे आत्मा कहते हैं जिसके आधार पर ही यह जीवन चल रहा है। आत्मा चली जाय तो इस मृत शरीर की कोई किंमत नहीं है। आग में जलाकर भस्म कर देते हैं। अतः इतना अमूल्य किंमति, तत्त्व आत्मा जो केन्द्र में हैं उसके बारे में क्यों कभी कोई

सोचता तक नहीं है। जैसे शरीर में रोग उत्पन्न हो सकते हैं वैसे आत्मा में भी रोग हो सकते हैं। आत्मा को भी रोग लागु पड गया है, वह है भव रोग। भव रोग अर्थात् सतत् जन्म-मरण धारण करते रहना। एक जन्म से दूसरे जन्म में, एक भव से दूसरे भव में, एक गति से दूसरे गति में सतत परिभ्रमण चलता ही रहता है। इसका नाम है भव रोग। यह शरीर को नहीं आत्मा को लागू होता है। आत्मा इस रोग से पीड़ित है। जिस तरह शरीर के शारीरिक रोगों के पीछे खान-पान आदि की अनियमितता वात-पित्त-कफ की विषमता, या किटाणु आदि कारण भूत रहते हैं उसी तरह आत्मा के इस भव के पीछे 'कर्म' ही कीटाणु(वायरस) के रूप में है। कर्म ही एक मात्र कारण के रूप में है।

वैद्य, हकीम या डॉक्टर जिस तरह शरीर को जांच करके रोग के कारण का पता लगाते हैं और चिकित्सा करके ठीक भी करते हैं उसी तरह देवाधिदेव सर्वज्ञ भगवान और गुरु महारज भी हमारे भव रोग के ज्ञाता है। जानकार है। उन्हों ने पाप कर्म को हमारे रोग का कारण बताया है। यही सही निदान है। उसकी चिकित्सा के रूप में तप-त्याग रूप धर्म की उपासना बताई है। अपथ्य सेवन न करने के रूप में पाप कर्म बांधती है तो पुनः भव परंपरा बढ़ती ही जाएगी। अतः ज्ञानी गीतार्थ गुरु भगवन्तों ने पाप सेवन को कुपथ्य के रूप में वर्ज्य बताया है। धर्म को चिकित्सा पद्धति के रूप में समझाया है। शारीरिक रोगों से पीड़ित देह रोगी,रोग की वेदना समझकर शीघ्र ही वैद्य-डॉक्टर के पास चला जाता है और चिकित्सा प्रारम्भ कर लेता है। परंतु भवरोगार्त-भव रोग से पीड़ित। यह जीवन भव रोग को समझ ही नहीं पाता है। पहचान ही नहीं पाता है। आश्चर्य ईस बात का है कि स्वयं जीव जिस भव रोग से अनादि-अनंत काल से पीड़ीत है फिर भी इस रोग को नहीं समझ पा रहा है। तो फिर बचने की चिकित्सा की बात कहां से सोचेगा ? समझने की बात तो दूर रही परन्तु भव रोग है कि नहीं यह सोचने के लिए भी तैयार नहीं है। इसे चाहे आप अज्ञानता कहो या मोहग्रस्तता कहों या जो भी कुछ कहो लेकिन यह हकीकत सत्य ही है कि जीव आज दिन तक इस विषय में शोध नहीं कर रहा है। देह रोग को समझकर उससे बचने के लिए चिकित्सा करने वालों की प्रतिशत संख्या कितनी बडी है? शायद ९९% होगी। परंतु भव रोग से पीडित संसार का संसारी जीव इसे समझने के लिए प्रयत्न करने वाले, इसके कारण की शोध करने वाला या, चिकित्सा कराने के लिए सज्ज हुए शायद २-५ या १०% भी मिलने मुश्किल है।

भव रोग के त्राता प्रभु से प्रार्थना :-

भवरोगार्त जन्तुनामगदंकार दर्शनः ।
निःश्रेयस श्री रमणः श्रेयांसः श्रेयसेऽस्तु वः ।।

त्रिशष्ठी शलाका पुरुष चरित्र में चौबीसों भगवान की स्तुति करते हुए सकलार्हत् स्तोत्र में कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य महाराज श्रेयांसनाथ भगवान की इस स्तुति में कहते है कि रोग ग्रस्त किसी रोगी को वैद्य के आगमन की सूचना मात्र कितना आश्वासन दिलाती है। जैसे कोई मरीज बीछाने पड़ा हुआ त्रस्त है। चिल्ला रहा हो और उसे सूचना दी जाय कि वैद्यराज आ रहे है। शायद उनसे सुनते ही आधी तो मानसिक शांति हो जाती है। वैद्य के दर्शन होते ही मरीज आधा शांत हो जाता है। उसी तरह भव रोग से पीडित मेरे जैसे रोगी के लिए है श्रेयांसनाथ भगवान ! आपके दर्शन भी शांत्वना देने वाले है। रोगी के लिए वैद्य की तरह आपके दर्शन मेरे लिए लाभदायि है। निःश्रेयस = मोक्ष में विलास करने वाले ऐसे श्री श्रेयांसनाथ भगवान हमारे श्रेय = कल्याण के लिए हों । ऐसी भावना व्यक्त की गई है। अतः जिनेश्वर परमात्मा हमारे भव रोग के महान चिकित्सक है। उन्हीं से हमारा यह भव रोग मिट सकता है।

भव भीरू और पाप भीरू :-

संसार में सर्वत्र पात्रता देखी जाती है। एक पिता अपनी कन्या की शादी के लिए भी सामने युवक की पात्रता देखता है। उसी तरह एक पिता अपने लाखों की कमाई अपने पुत्र को देने के पहले उसकी पात्रता, योग्यता देखता है, उसी तरह धर्म के लिए धर्मी की पात्रता क्या हो सकती है। धर्म करने के लिए कौनसा जीव योग्यपात्र कहलाता है ? इसका उत्तर देते हुए महापुरुषो ने भव भीरू और पाप भीरू जीव को ही धर्म के लिए योग्य पात्र ठहराया है। अर्थात् जिसके मनमें भव = संसार के प्रति भय हो ऐसा भव भीरू धर्मी कहलाने के लिए योग्य पात्र है। अब मेरी भव संख्या बढ़ न जाय इसके लिए जो जागरूक है वह भवभीरू योग्य पात्र है। मानों कि एक मरीज डॉक्टर की दवाई ले रहा है। ज्वर उतारने के लिए डॉक्टर ने सूंई लगाई। फिर भी यदि ज्वर कम होने की अपेक्षा बढ़ता ही गया। ऐसा ही दो-तीन दिन तक चलता रहा लेकिन इसके बाद क्या ? क्या आप डॉक्टर को योग्य कहेंगे ? औषधि जो रोग को बढ़ायें उसे औषधि कैसे कहें ? अतः वह औषधि उस रोग के लिए उचित नहीं है। वैसे अब मैं जीवन ऐसा जीउ कि मेरा भावी संसार न बढ़े। मेरी भावी भव परम्परा बढ़ न जाय ऐसा भवभीरू जीव ही धर्म क्षेत्र में योग्यता धारक गिना जाएगा।

भवभीरू बनने के लिए पापभीरू बनना आवश्यक है। पाप से डरने वाला अर्थात् पाप हो न जाय, किसी क्रिया में पाप कर्म न लग जाय, इसका कदम-कदम उपयोग रखने वाला ही पाप भीरू कहलाता है। कायर और कमजोर यदि कहीं होना भी है तो पाप के सामने कमजोर होना भी अच्छा है। आज धर्मी अनेक है। धर्म करने वाले अनेक है। परन्तु पाप न करने वाले, पाप न करने की प्रतिज्ञा करने वाले बहुत

कम है। अतः धर्म करने के लिए भी पाप छोड़ना सीखना अनिवार्य है। किसी विशेष प्रकार का पाप मैं नहीं करुंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना यह बड़ा धर्म है। मैं हिंसा नहीं करुंगा, झुठ नहीं बोलुंगा, चोरी नहीं करुंगा, दुराचार, बलात्कार, व्यभिचारादि नहीं करुंगा ऐसी सर्वथा प्रतिज्ञा करना या आंशिक प्रतिज्ञा करना बड़ा धर्म है। इसलिए वीतराग भगवान का धर्म विरति प्रधान है। विरति दो प्रकार की है (१) देश-विरति अर्थात् अल्प प्रमाण में पाप न करने के नियम। यह गृहस्थी के लिए उपयोगी धर्म है। गृहस्थ जीवन की मर्यादा को ध्यान में रखते हुए इस देश विरति धर्म के यम-नियम बनाए हैं। अतः इस देश विरति धर्म का उपासक श्रावक कहलाता है। (२) सर्व विरति धर्म है। जिसमें छूट नहीं है। हिंसा,झुठ,चोरी, मैथुन सेवन एवं परिग्रह आदि के पाप सर्वथा आजीवन न करने की महाभिष्म प्रतिज्ञा ही सर्व विरति धर्म है। यह साधु धर्म है। जो ऐसे महाव्रत धारण करता है वह साधु कहलाता है। अतः वीतराग के धर्म में पाप त्याग को प्राथमिकता दी गई है। पाप त्याग करनेवाला ही महान् है।कौन कितने प्रमाण में किन-किन पापों का त्याग करता हैं। एक विधेयात्मक है दूसरा निषेधात्मक है। दोनों का ही यथायोग्य पालन करना चाहिए। आज लोग विधेयात्मक धर्म में दर्शन,पूजा,सामायिक,माला जाप आदि कर लेते हैं। करने का नियम भी लेते है परंतु अधर्म-पाप त्याग की प्रतिज्ञा की बात करो तो तैयार नहीं होते हैं। परिणाम यह आता है कि धर्म भी करते है और पाप भी करते जाते हैं। इसलिए धर्म की कींमत भी घटती है। लोग धर्मी की निंदा भी करते हैं। निंदा धर्म की नहीं होती है परंतु धर्म करते हुए पाप प्रवृत्ति कम नहीं होती है उसकी है। अतः धर्म करने वाले धर्मी की यह जिम्मेदारी है कि वह धर्म करने के साथ साथ पाप भी जीवन में से कम करता जाय। पाप कम करते करते एक दिन ऐसा भी आ जाएगा कि वह पाप सर्वथा छूट जाय। तभी सोने में सुगंध मिलेगी। इसी तरह पापभीरूता जीवन में बढ़ेगी । पापभीरूता बढ़ेगी। अतः पापभीरूता यही धर्मी की योग्यता-पात्रता का मापदंड है।

ईश्वरोपासना धर्म :-

धर्माराधना में ईश्वर की उपासना यह केन्द्र में है। उपासना के केन्द्र में ईश्वर जरूर है। हमारी सारी साधना ईश्वर के ईर्दगिर्द है। आत्मा को विकास पथ पर अग्रसर करने के लिए ईश्वर का आलंबन-सहारा लिए बिना आगे बढ़ना असंभव सा है। अतः अध्यात्मवादी आस्तिक ईश्वरोपासना को आलंबन के रूप में अपने केन्द्र में रखेगा। ईश्वर तत्त्व हमारे लिए एक ऊंचा आदर्श है। सर्वोच्च आदर्श है। चूंकि हम अपूर्ण है। ईश्वर पूर्ण तत्त्व है। अपूर्ण को पूर्ण की उपासना करनी है। हम अल्पज्ञ है ईश्वर सर्वज्ञ है। अल्पज्ञ को सर्वज्ञ की साधना करनी है और अल्पज्ञता हटाकर सर्वज्ञता प्राप्त करनी है। अपूर्णता हटाकर पूर्णता प्राप्त करनी है। इसी तरह ईश्वर में

एक नहीं अनेक गुण है। परन्तु हमारे में एक नहीं अनेक दुर्गुण भरे पड़े हैं। अतः दोषों को निकालने के लिए निर्दोष का सहारा लेना, दोष रहित ऊंचे आदर्श का आलंबन लेना अनिवार्य है। साध्य है निर्दोषता। परन्तु साधना के केन्द्र में निर्दोष आलंबन किसी का लेना पड़ेगा। वह कौन और कैसा हो सकता है ? क्या हमारे जैसा ही दूसरा कोई भी हमारा आलंबन बन सकता है ? नहीं निर्दोषता के साध्य की साधना में सदोषी को आलंबन बनाने में साधना का परिणाम विपरित आएगा। रागी को आलंबन बनाकर की जाने वाली साधना हमें वीतरागी नहीं बनाएगी। रागी तो हम है ही अतः वीतरागता प्राप्त करने का साध्य बनाएं। वीतरागता की साधना के लिए वीतराग का ही आदर्श ऊंचा आलंबन समझा जाएगा। अतः जो सर्वज्ञ हों, निर्दोष-दोष रहित हों, पूर्ण तत्त्व हो, वीतराग हो ऐसे अनेक गुणों से परिपूर्ण-तत्त्व चाहे ईश्वर नाम वाच्य हो वही हमारी उपासना का केन्द्र हो सकता है। उपासना के तरीके भिन्न हो सकते हैं, परन्तु उपास्य का स्वरूप भिन्न भिन्न कर देंगे तो साधना का फल भी चित्र-विचित्र हो जाएगा। साधक साधना के जरिए साध्य को प्राप्त नहीं कर पाएगा तो उसकी साधना व्यर्थ चली जाएगी।

गुणोपासना का आधार – 'ईश्वर'

गुणप्राप्ति निर्गुणी की साधना का साध्य है। अतः सर्वगुण सम्पन्न तत्त्व ईश्वर परमात्म स्वरूप, परम शुद्ध स्वरूप, परमपुरुष-पुरुषोत्तम, सर्वोच्च स्वरूप हमारा सहायक उच्च आदर्शभूत आलंबन है। आलंबन लिए बिना निःसहाय चल नहीं सकता। बालक को चलाने में हमें अंगुली पकड़कर चलाने का साथ देना पड़ता है। अज्ञानी साधक आज बाल्यावस्था में है। अतः बिना आलंबन के हम आगे बढ़ें यह नामुमकीन है। उसी तरह आलंबन यदि उंचे आदर्श का लिया ही है तो उसे पूरा मान-सन्मान देना यह साधक का कर्तव्य होता है। पूज्य-पूजनीय के प्रति पूजा यह उनकी पूजनीयता का सम्मान है। अपमान पूजा भाव को गिराएगा। विकास पथ की साधना में यह सहायक नहीं बाधक बनेगा। अतः पूजनीय के प्रति पूज्यभाव को व्यक्त करने वाली पूजा पद्धति उपासना का प्रकार है। तरीका है। पूज्य पूजनीय क्यों है ? क्योंकि पूजा करने योग्य उनका ऊंचा स्थान है। गुणों के भंडार है। सर्वदोष रहित है। सर्वगुण सम्पन्न है। साधक निर्गुणी है। दोषग्रस्त है। साध्य जब सर्वगुण सम्पन्न हो और साधक सर्वदोष संपन्न हो तो ही पूजा की उपयोगीता सिद्ध होगी। पूज्य की पूजा करना अंतस्थ सद्भावों को, सन्मान को व्यक्त करने का एक प्रकार है। सही तरीका है। वही भक्ति है। भक्ति भगवान से जुड़ी हुई है। जिसका कर्ता भक्त स्वयं है। भक्ति में वह शक्ति है जो भगवान की भगवतता को खिंचकर लाने का चुंबकीय कार्य करती है। अतः भक्ति यह भक्त और भगवान के बीच की कड़ी है। जैसे पति

पत्नि के बीच प्रेम की एक कडी है, मां और बेटे के बीच स्नेह-वात्सल्य की जो कड़ी है वही दो के भेद को मिटाकर अभेद की और ले जाती है। उसी तरह भक्त और भगवान के बीच के भेद को भूलानेवाली कडी भक्ति है, जो भेद को मिटाकर अभेद भाव की कक्षा में ले ज़ाकर एकाकार बना देती है। भक्त भगवान बन जाता है। अतः भक्ति में गुणाकर्षण की चुंबकीय शक्ति है।

ईश्वर जो आत्म गुणो के सर्व संपूर्ण वैभव-ऐश्वर्यों से संपन्न है, वही हमारी भक्ति का केन्द्र है। भक्ति उसे पाने का सरलतम माध्यम है। जिसमें गुणोत्कर्ष का स्थान है उसके गुणों का गुणाकर्षण करने की चुंबकीय शक्ति भक्त में है। भक्त भगवान से प्रार्थना करता है कि -

गुण अनन्ता सदा तुझ खजाने भर्या। एक गुण देत मुझ शुं विमाशो।।

भक्त भक्ति के माध्यम से भगवान और अपने बीच का भेद-अंतर कम करता हुआ समीप में जाकर गुण याचना करता हुआ कहता है - हे प्रभु ! आप तो सदा ही अनंत गुणो से भरे हुए हो, गुणों के भंड़ार हो, अतः मुझे भी एक गुण दे दीजिए। एक गुण देने में आपके गुणो के भंडार में कौनसी कमी आ जाएगी ? परमात्म स्वरूप ईश्वर को गुणैश्वर्य संपन्न कहा है। अतः ईश्वरोपासना भक्ति के माध्यम से की जाती है।

ईश्वर को पहचानना जरूरी है ।

एक पत्नी से उनके पति की पहचान पूछी जाय और पत्नी उत्तर में कहे कि वे कैसे है, वे कौन है इत्यादि मैं नहीं जानती । 'पति देवो भव' की भावना से पत्नी पति के प्रति समर्पित है और इस तरह अपना संसार चलाती हुई २५-५० वर्षों का काल बीता चुकी है। ५० वर्ष की लंबी अवधि तक पति के साथ रह कर पति की सेवा भक्ति करती हुई पत्नी ऐसा जवाब दे यह संभव नहीं लगता। वह अपने पति को अच्छी तरह जानती है। नख से शीख तक नस-नस पहचानती है। ना कैसे कहे ? ठीक है कि संसार का संबंध है और जिंदगी भर साथ रहना है इसलिए पत्नि पति को अच्छी तरह पहचानती हो यह संभव है। परंतु क्या हम यही प्रश्न एक भक्त को पूछें कि भाई ! तुम जिस भगवान की वर्षों से भक्ति करते हो उस भगवान को पहचानते तो हो कि नहीं ? भगवान का स्वरूप अच्छी तरह जानते हो कि नहीं ? शायद पत्नि के उत्तर की तरह भक्त इतना सुंदर दृढ विश्वासभर उत्तर दे पायेगा कि नहीं, इसमें हम को शंका है। पत्नि पति को अच्छी तरह जानती है, पहचानती है परंतु एक भक्त भगवान को अच्छी तरह पहचानता हैं ?

जिसका जैसा स्वरूप है उसका वैसा स्वरूप न जाने, न पहचाने तो यह हमारा सम्यग् दर्शन नहीं होगा। या तो भगवान को पहचानते ही नहीं है और कई

पहचानते भी है तो वे भगवान जैसे हैं, वैसे नहीं जानते। जो स्वरूप भगवान का है उस स्वरूप को नहीं जानते। उसमें भी विकृतियां खड़ी कर देते हैं। विकृत स्वरूप में पहचानते हैं। अतः हमें चाहिए कि दुसरों को हमारी दृष्टि जैसी है वैसे स्वरूप में न पहचानें। यह मिथ्या दर्शन हो जाएगा, भगवान जैसे है, जैसा शुद्ध स्वरूप उनका है उन्हें हम वैसे ही शुद्ध स्वरूप में पहचाने तो ही सही पहचान होगी। यही सम्यग् दर्शन कहलाएगा। हम बाजार में जाते हैं तो जो भी पीला हो वह सोना है ऐसा समझकर सोना नहीं खरीदते है। यदि खरीदते हैं तो हम ठगे जाएंगे। चूंकि तर्क पद्धति से ही न्याय नहीं लगाया है। सही न्याय भी देखें कि – जो सोना होता है वह जरूर पीला होता है इसमें संदेह नहीं है परंतु सभी पीले पदार्थ सोने के रूप में ही है ऐसा नियम नहीं है। अतः पीला देखकर सोना न समझें। सोने को जरुर पीला समझें। कई एक जैसे पीले रंग के पदार्थों में सोना भी पीला है। पीले-पीले रंग के समानदर्शी पदार्थों में सोना भी मिल गया है। रंग साम्यता में पदार्थ खो गया है। उसे ढुंढकर निकालने के लिए जरूर परीक्षक बुद्धि अपनानी पड़ेगी। परीक्षा करके खरीदने में ठगे नहीं जाएंगे। कसौटी के पथ्थर पर सोने की परीक्षा की जाती है। उसी तरह कष, छेद,भेद,तापादि भिन्न-भिन्न परीक्षा करके सोना खरीदा जाता है। हमारी लाखों रूपयों की संपत्ति व्यर्थ न चली जाये, अतः सुवर्ण परीक्षा, रत्न परीक्षा आदि करते हैं। यहां परीक्षा करना लाभदायक है।

न्याय तार्किक शिरोमणी पूज्य हरिभद्रसूरी महाराज भी भगवान की, धर्म की परीक्षा कर के भगवान को – धर्म को, पहचानने के लिए कहते हैं। जिसकी हम जिंदगी भर पूजा करे, उपासना करे, जीवनभर जिसकी भक्ति करें और उसे ही न पहचान पाये तो हमारी सारी भक्ति निष्फल चली जाएगी। 'बीना विचारे जो करे, सो पीछे पछताये' वाली कहावत चरितार्थ होती हुई दिखाई देगी।

एक गृहस्थ ने पारसमणी समझकर एक रत्नमणी को खूब संभालकर रखा। जान से भी ज्यादा जिसका जतन किया। कोई देख न जाये, कोई चोरी कर उठा न जाय इस डर से हमेशा सीने से लगाकर बांध रखा। इसलिए की शायद भविष्य में जब भी कभी आर्थिक संकट आकर खड़ा होगा उस दिन इस पारसमणी से सोना बनाकर जीविका चला लेंगे। संभालते हुए ५०-६० वर्ष बीत गए। आर्थिक परिस्थिती ने पलटा खाया। दो युवान बेटे मौत के मुंह में चले गए। आजीविका का आधार टूट गया। आयु वृद्धावस्था के पार पहुंच गई थी। घर में खाने पीने की समस्या खड़ी होने लगी थी। अतः पत्नि ने कहा कि अब तो वह पारसमणी निकालो, कुछ सोना बना लो। बाजार में बेचो, अनाज खरीद कर लाएं। जिससे आजीविका तो चले। पत्नि की बात पर गौर से सोचा। बात सही थी। वृद्ध ने अपनी पत्नि से कहा,

तुम थोड़े लोहे के टुकडे इकट्ठे कर लाओ। मैं पारसमणी निकालता हुं। स्पर्श कर के सोना बना लेंगे। ५०-६० साल तक जान से भी ज्यादा जिसे संभालकर रखी थी वह पारसमणी उस वृद्ध ने अपने सीने पर बंधी कपड़े की पट्टी खोलकर निकाली। वृद्ध बेचारा बड़ा प्रसन्न था। हां, आखिर गरीब के लिए तो १-१ पैसा आशा की किरण है। आश्चर्य इस बात का था कि पारसमणी समझकर वर्षों से अपने पास संभाल कर रखी। परंतु कभी भी सोना बनाकर भी देखा नहीं था। चूंकि आज से ही यदि सोना बनाने लग जाऊंगा तो बेटे सोना देखकर प्रमादी बन जाएंगे। कोई भी कमाएगा नहीं। अतः जरुरत पड़ेगी तब बना लेंगे। इस हेतु से संभालकर रखी। आज सोना बनाने की परिस्थिति आ गई है, ऐसा समझकर सोना बनाने घर के अंदर के एक कमरे में बैठा। पत्नि लोहे के टूकड़े ले आई। घर बंद करके अंदर के कमरे में वृद्ध ने पारसमणी निकाली और लोहे के टुकड़े को स्पर्श किया। हाय! अफसोस, कुछ भी नहीं हुआ। सोना नहीं बना। वृद्ध हैरान हो गया। पारसमणि लोहे के टुकड़े पर रगड़ने लगा। खूब जोर से घिसने लगा। बेचारा पसीना-पसीना हो गया। 'नाच ना जाने आंगन टेढा' की बात पत्नि के सामने बनाने की सोची तो सही परन्तु पेट भरने के लिए जब कुछ भी नहीं है, खाने की समस्या है वहां बहाना किसके सामने बनाऊं ? बेचारा वृद्ध सिर पटक पटक कर रोने लगा - चिल्लाने लगा। अब शंका हुई की मैंने जिसको पारसमणी समझा था, वह सचमुच पारसमणी है कि सामान्य पत्थर मात्र है? पारसमणी होती तो सोना क्यों नहीं बनता है। पारसमणी की सत्यता की पहचान ही लोहे को सोना बनाने में है। अब क्या करे ? पत्नी ने व्यंग किया- तो आपने ५०-६० वर्ष जान से भी ज्यादा संभालकर रखी तो क्या सीने पर पत्थर बांध कर रखा था। लोगों के सामने छिपाने के लिए कहते थे कि नहीं... नहीं सीने में गांठ हुई है। इस तरह आपने जतन किया है और ५०-६० वर्ष के बाद आज यही नतीजा ! क्या बात है? वृद्ध बेचारा बरफ की तरह ठंडा हो गया। काटो तो खून भी न निकले। किस पर रोऊं? पारसमणी के नाम पर? या पत्थर के नाम पर? या ५०-६० वर्ष संभाल के रखी उस पर? आखिर किस पर रोना है? किसी पर नहीं, अपनी अज्ञानता पर रोना है। पत्नी ने कहा आपने अपनी बुद्धि से पारसमणी समझकर रख लिया परंतु वास्तव में पारसमणी थी, तो रखने के पहले ही परीक्षा करके देख लेते कि सचमुच पारसमणी है कि नहीं? रखने के पहले ही दिन छोटे से लोहे के टुकड़े को सोना बनाकर देख लेते। ५०-६० साल तक फिजुल में संभाल के रखी। और आज उसे पत्थर समझ कर फेंकने के दिन आए। अब सिर पर हाथ देकर रोने के सिवाय क्या विकल्प रहा। न फैंकने की हिम्मत, न रखने की समझ क्या करें ? अफसोस के सिवाय क्या कहें ?

शायद भगवान के विषय में भी कुछ ऐसी ही बात है। हम भी जिन्दगी के

५०-६० साल से ईश्वरोपासना कर रहे हैं। मोक्ष दाता, सर्व गुणसम्पन्न, सर्वज्ञ वीतराग समझकर जिसको भगवान कह रहे हैं, ऐसा न हो कि ५०-६० साल के बाद अन्त में वह रागी-द्वेषी देव निकल जाय। कोई स्वर्गीय देव-देवी ही हो। जो सर्वज्ञ वीतरागी न हो और हमारे ही जैसा दोषयुक्त, राग-द्वेष वाला रागी-द्वेषी हो। यह यदि वर्षों बाद पता चले तो कैसा होगा? जैसी उस पारसमणी वाले वृद्ध की दशा हुई वैसी ही हमारी दशा होगी। सिर पर हाथ रखकर रोने के दिन आएंगे। अतः अच्छा तो यही होता कि हम उपास्य तत्त्व की उपासना करने के पहले ही उसका सही स्वरूप समझकर फिर उसकी उपासना करें, इसीलिए ईश्वर परीक्षा करने के लिए महापुरुषों ने अनुमति दी है।

हम ईश्वर की क्या परीक्षा करें ?

सामान्य मानवी यह सोचता है कि हम क्या ईश्वर की परीक्षा करें? हमारी क्या बुद्धि है? जो हम ईश्वर की परीक्ष कर सकें? करें तो भी कैसे करें? इस विषय में हमें अनुचित सा लगता है। अनधिकार चेष्टा लगती है। सर्वज्ञ की परीक्षा हम अल्पज्ञ क्या करें? आपकी बात भी सही लगती है। सामान्य मानवी ईश्वर की परीक्षा करने की हिम्मत भी नहीं करता। यह हमारी शक्ति के बाहर की बात है।

परन्तु थोड़ा सोचिए। हमारे पूर्वज महापुरुषों ने हमको ऐसी अनुमति क्यों दी होगी? क्या वे नहीं समझते थे कि हम अल्पज्ञ हैं? बात सही है, परन्तु हम बाजार में सोना खरीदने जाएं और लाख रुपए देकर खरीद भी लें। परन्तु वर्षों बाद यदि वह सोना पीतल है, ऐसा पता चले तब क्या होगा ? तब सिर पर हाथ देकर रोने के दिन आएंगे । हाय ! मेरे लाख रुपए गए। सोना भी गंवाया और लाख रुपए भी गंवाए । तब कैसी परिस्थिति निर्माण होगी उसके बारे में सोच लेना । उसी तरह ईश्वर की उपासना जीवन भर करने के बाद वह ईश्वर रागी-द्वेषी है, सर्वज्ञ नहीं है ऐसा पता चला तो फिर क्या होगा ? अतः उपासना के पहले ही उपास्य को पहचानना जरूरी है।

ईश्वर विषयक भिन्न-भिन्न मान्यताएँ :-

वर्तमान संसार में विद्यमान भिन्न-भिन्न धर्मों में ईश्वर विषयक मान्यता है। ईश्वर ही केन्द्र स्थान में है। चाहे ईश्वरवादी मान्यता वाले हों या निरीश्वरवादी मान्यता वाले धर्म हों, उन्होंने भी शुद्धात्मा, मुक्तात्मा, परमात्मा की बाते की हैं। ईश्वर विषयक मान्यताएं भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। मानने का स्वरूप भिन्न है। वैदिक धर्म में ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप में माना गया है। बौद्ध धर्म में गौतम बुद्ध जो कि इसके आद्य प्रवर्तक थे, उनको बुद्ध पुरुष के रूप में माना गया। परंतु बौद्ध धर्म ने सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर को नहीं माना है। जैन दर्शन ने सृष्टिकर्ता ईश्वर को ईश्वर नहीं माना है,

अतः इसे निरीश्वरवादी कह दिया है। परंतु परमात्मा अरिहंत को भगवान के स्वरूप में माना गया है। परमात्मा वीतराग स्वरूप है। सर्वज्ञ है। सर्वावरण रहित है। सर्वकर्म दोषमुक्त है। परमपद प्राप्त है। अतः शुद्ध-विशुद्ध आत्मा की परमात्मावस्था है। मुक्तात्मा-सिद्धात्मा का स्वरूप सर्वथा कर्ममुक्त है। जन्म-मरण एवं संसारचक्र से मुक्त है। अतः अवतारवाद भी जैन-दर्शन ने नहीं स्वीकारा है। प्रत्येक आत्मा आत्मद्रव्य स्वरूप से एक जैसी है। कर्मभेद से भेद है। उदाहरणार्थ आभूषण आकृति भेद से भिन्न-भिन्न दिखाई देते हुए भी मूलभूत सुवर्ण द्रव्य की दृष्टि से एक जैसे ही हैं। उसी तरह कर्मोपाधि जन्य देह भेद से भिन्न-भिन्न होते हुए भी आत्म द्रव्य की दृष्टि से एकरूपता है। साम्यता है। अनन्तात्मा स्वीकारने वाले जैन-दर्शन ने एक ही सर्वोपरि सत्ता को ईश्वर के रूप में स्वीकार नहीं किया है। कोई भी आत्मा स्वकर्मों का क्षय करके उस विशुद्धि की कक्षा तक पहुँचकर परमात्मपद प्राप्त कर सकती है। सर्व कर्म मुक्त मुक्तात्मा पुनः संसार में नहीं लौटती। अतः अवतारवाद की मान्यता जैन-दर्शन को मान्य नहीं है। स्वोपार्जित कर्मानुसार ही जीव कर्मफल-भोग प्राप्त करता है अतः कर्मफल दाता के रूप में भी ईश्वर को स्वीकारा नहीं गया है।

न्याय-मतानुसार ईश्वर जगत्कर्ता, पालनकर्ता एवं संहारकर्ता के रूप में है। वह जगत् का निमित्त कारण है। वह जीवों के कर्मों का निर्देश करता है। ईश्वर ही जीवों के अदृष्ट (कर्म) के अनुसार उन्हें कर्म करने के लिए प्रेरित करता है और ईश्वर फलदाता के रूप में है। वही फल देता है। ईश्वर विश्वकर्मा है। ईश्वर ही सृष्टि का कर्ता भी है, पालनकर्ता भी है और वही सृष्टि का प्रलय भी करता है। वही सर्व शक्तिमान है, ऐसी मान्यता है। वैशेषिकों ने विशेष भेद यह किया कि परमाणुवाद को सृष्टि सम्बंधी कारण माना है। लेकिन परमाणुवाद मानकर भी परमाणुओं के संचालक के रूप में ईश्वर को स्वीकारा है। ईश्वर इच्छा ही बलवान है। परमाणुओं के संयोग-वियोग एवं गति आदि में ईश्वरेच्छा ही कारण है। अतः ईश्वर की इच्छा हो तब वह सृष्टि की रचना एवं प्रलय आदि कर सकता है।

सांख्य दर्शन में सेश्वर सांख्य और निरीश्वर सांख्य दोनों पक्ष चलते हैं। सांख्य मत सृष्टिकर्ता के पक्ष में नहीं है। प्रकृति-पुरुष आदि २५ तत्त्वों की व्याख्या सांख्य दर्शन ने बैठाई है। पुरुष शुद्ध चैतन्य स्वरूप राग-द्वेष से परे है। प्रकृति से भिन्न होकर वह अपना शुद्ध स्वरूप स्थिर रख सकता है। पुरुष ईश्वर रूप में नहीं है। वह प्रकृति के व्यापारों का दृष्टा है। वह जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त है।

ईश्वर के अस्तित्व को मानने वाला सेश्वर सांख्य मत ही 'योग-दर्शन' के नाम से प्रसिद्ध है, ऐसी धारणा है। महर्षि पतंजलि इसके मुख्य उद्भावक हैं। इसमें ईश्वर का अधिकतर व्यवहारिक महत्त्व है। योग सूत्र में कहा है कि - **'क्लेशकर्म**

विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः ।' क्लेश–कर्म और उनके फलों से एवं वासनादि से असंस्पृष्ट पुरुष विशेष को ही ईश्वर कहा गया है। परम पुरुष ईश्वर स्वरूप है। वही परमानन्द रूप है। हिन्दू धर्म में, वैदिक परम्परा में ईश्वर को ब्रह्मा–विष्णु और महेश के तीन रूपों में माना गया है। ब्रह्मा सृष्टी की रचना करता है। विष्णु सृष्टि का पालनहार है। महेश को प्रलयकारी संहारकर्ता के रूप में स्वीकारा गया है। ईश्वर के ही हाथ में सभी जीवों के कर्म फल देने की सत्ता है। ईश्वर ही जगत् का नियन्ता है। अतः ईश्वर इच्छा ही बलवान है। ईश्वरेच्छा के बिना वृक्ष का पत्ता भी नहीं हिल सकता। यहां अवतारवाद माना गया है। एक ही ईश्वर पुनः पुनः जन्म लेते हैं। अतः एकेश्वरवाद की कल्पना है। जीव को ईश्वर का ही अंश माना गया है। यह मान्यता वैदिक परम्परा की है।

मीमांसा मत पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा – ये ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। यहां ईश्वर से भी ज्यादा वेद को महत्त्व देते हुए वेद को अपौरुषेय सिद्ध किया गया है। जगत्कर्तृत्व वाद का मीमांसक खण्डन् करते हैं। कर्म प्रधानता मानी गई है। उत्तर मीमांसा ही वेदान्त दर्शन कहा जाता है। ब्रह्म का इसमें मुख्य वर्णन है। इसमें भी शांकरवेदान्त, रामानुज–वेदान्त, निम्बार्क–वेदान्त, माध्व–वेदान्त, वल्लभ–वेदान्त आदि कई भेद हैं। थोड़े–बहुत अन्तर के साथ सबकी मान्यता में भेद हैं। रामानुज वेदान्त के अनुसार ईश्वर अनन्त ज्ञानवान, आनन्दरूप सद्गुणयुक्त, विश्वसृष्टा, पालक और संहारक, चारों पुरुषार्थों का दाता, इच्छारूप धारण करने वाला है। ब्रह्म सगुण है। वह पुरुषोत्तम है। शांकरमतानुसार ईश्वर सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है। ईश्वर जीवों का नियन्ता है। शैवमत–वैष्णव मत आदि कई मत हैं। कुछ भेद के साथ सभी सेश्वरवादी मान्यता रखते हैं।

सिख धर्म में ईश्वर एक है। एक ईश्वर सबका पिता माना गया है। वही सब कारणों का कारण है। ईश्वर एक ही है। सिख भी सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर को मानते हैं। एक स्वयंभू, स्वयं अवलंबित ईश्वर ने ही यह संसार बनाया है। सब पर उसी का शासन है। ईश्वर अनंत, अकाल और निरंकार है। ईश्वर सर्वव्यापी है।

पारसी धर्म में ईश्वर की कल्पना की गई है। आहुर–मज़्दा आत्मा रूप है। वह परम मंगलकारी है। वे सारी पृथ्वी से ऊपर स्वर्ग में हैं। जरथुष्ट्र ने यह कल्पना जगत् को देते हुए ईश्वर का स्वरूप बताया है। सर्वोच्च सत्ता के लिए आहुर–मज़्दा के नाम का ईश्वर के लिए प्रयोग किया गया है। सर्वश्रेष्ठता बताई गई है। वही सर्वे–सर्वा सर्व रूप में है।

ईसाई धर्म ईसा मसीह से चला है। ईसा ने अनन्त दयालु के रूप में ईश्वर को बताया। वह मनुष्य पर अत्यधिक प्रेम करता है। अतः ईश्वर को प्रेम व दया का

प्रतीक माना है। ईश्वर को ही सर्व सुख दाता के रूप में स्वीकारा है। वही परम पिता के रूप में है। परम सत्ता के रूप में है। ईश्वर को सृष्टा और उद्धारक भी माना है। ईश्वर एक ही सृष्टा है और शेष सारी सृष्टि उनकी रचना है। वह देश-काल की सीमाओं से परे है। ईश्वर सतत कार्यरत है यह भी कहा है। ईश्वर की इच्छा ही संसार को चलाती है। ईश्वर स्वभाव से प्रेम स्वरूप दयालु है। वह सर्वोपरि सर्वस्वामी के रूप में हैं। अवतारवाद को ईसाई मानते जरूर है पर यह कहते हैं के ईश्वर का पुत्र धरती पर आता है। उसे ईश्वर ने बनाया है, उसी ने भेजा है। ईसाई मत भी सृष्टि कर्तृत्ववादी ईश्वर के विचार में अन्य जगत्कर्तृत्व -वादी पक्ष से काफी मिलता-जुलता है।

इस्लाम धर्म में ईश्वर को इन मुख्य ७ शब्दों से समझा जाता है जो कि ईश्वर के गुण स्वरूप के द्योतक है ? १. हयाह (जीवन), २. इल्म (ज्ञान), ३. कद्र (शक्ति), ४. इरादा (इच्छा), ५. सम (श्रुति), ६. बशर (दृष्टि), ७. कलाम (वाणी) । इस्लाम के अनुसार ईश्वर का कोई समानधर्मा समानान्तर नहीं है। ईश्वर को त्रिकालज्ञ मानते हैं। वही सृष्टा है। कुरआन में कहा है कि ईश्वर की वाणी को पैगम्बर के द्वारा ही सुना जा सकता है। अतः पैगम्बर पुनः पुनः होते हैं। अल्लाह एक है। ईश्वर सर्व शक्तिमान, सब कुछ दृष्टा है इस्लाम में भी ईश्वर इच्छा ही बलवान कही गई है। वह अपनी मर्जी से सब कुछ कर सकता है। वही रहमतगार, बंदापरवर है। रोटी देने वाला है, सब कुछ देने वाला है। वह अदृश्य है। इस तरह कुरआन धर्म ग्रन्थ ईश्वर का स्वरूप प्रतिपादित करता है।

ये जगत के प्रमुख धर्म व दर्शन हुए। इसी तरह और भी हैं। यहूदी धर्म, ताओ धर्म, शिंतो धर्म, कन्फ्युशीयस धर्म आदि अनेक हैं। इन सब में प्रायः सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर का अस्तित्व स्वीकारा गया है। और साम्यता अनेक प्रकार की मिलती है। ईश्वर को एक मालिक स्वामी के रूप में देखा गया है। इसकी इच्छा पर ही सारा आधार रखा गया है। प्रायः ईश्वरवादी मान्यता वाले विचार कई अंशों में परस्पर मिलते-जुलते हैं। बात का स्वरूप भिन्न होते हुए भी हेतु मिलता-जुलता है।

ईश्वरवाद एवं निरीश्वरवाद :-

ईश्वरवाद से सिर्फ ईश्वर के अस्तित्व को ही मानना ऐसी बात नहीं है अपितु सृष्टि कर्ता के रूप में; जगत् कर्तृत्व के रूप में ईश्वर को स्वीकारना ईश्वरवादी का प्रमुख अर्थ है। इसलिए हिन्दु सिख, न्याय, वैशेषिक मतवादी, इस्लाम और ईसाई आदि प्रमुख धर्म ईश्वर को सृष्टि कर्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। ईश्वरवाद का ठीक विपरीत शब्द निरीश्वरवाद जब आता है तब इसका ऐसा विपरीत अर्थ नहीं है कि निरीश्वरवादी धर्म ईश्वर सत्ता को मानते ही नहीं है। ऐसी बात नहीं है। अर्थ का विचार करने से पता चलता है कि निरीश्वरवादी धर्म सिर्फ जगतकर्ता, सृष्टि के सृष्टा के

रूप में ईश्वर को नहीं स्वीकारते । अतः वे निरीश्वरवादी–या अनीश्वरवादी कहलाए । परंतु अनीश्वरवादी ने भी परमात्म स्वरूप को आत्मगुणैश्वर्यसम्पन्न पूर्ण शुद्ध–सर्वज्ञ वीतराग स्वरूप में मानकर उपासना अवश्य की है। उदाहरणार्थ जैन धर्म, मीमांसक, तथा सांख्य और योग दर्शन के प्रमुख रूप से निरीश्वरवादी जरूर हैं अर्थात् सृष्टिकर्ता के रूप में, संसार के निर्माता या नियन्ता या संहारक के रूप में या इच्छा के केन्द्र के रूप में ईश्वर को नहीं स्वीकारते हैं। परन्तु बौद्ध धर्म में तथागत बुद्ध को बोधिज्ञान संपन्न महापुरुष भगवान माना गया है। जैन धर्म में आत्मा ही जो परमात्मा बनती है वही सर्वज्ञ–सर्वदर्शी, वीतरागी, अरिहंत, तीर्थंकर, सर्व कर्म रहित, सर्वदोष मुक्त, सर्व विशुद्धावस्था में बिराजमान सिद्ध–बुद्ध–मुक्त को परमेश्वर माना गया है। हाँ, वह वीतराग होने से इच्छा तत्त्व से रहित है। चूंकि इच्छा भी राग का ही पर्यायवाची शब्द है। अतः राग द्वेष ये कर्म जन्य मानवी स्वभाव है जिसमें इच्छा अनिच्छा का प्रश्न आता है। परन्तु परमेश्वर परमात्मा इस इच्छा तत्त्व से (रागादि भावों से) मुक्त है अतः वह जगत को स्वइच्छावश फल देने वाले नहीं है। ईश्वरवादियों ने इच्छा का बल ईश्वर के हाथ में दे दिया है। इसलिए उसे ही जगत के सभी जीवों के कार्य–क्रिया का केन्द्र माना गया है। अतः ईश्वर की इच्छा के बिना वृक्ष का पत्ता भी नहीं हिल सकता। जैन धर्म ने निरीश्वरवादी धर्म होते हुए भी कर्म एवं कर्मफल, सृष्टि–संसार रचना, एवं जगत व्यवस्था आदि सभी ईश्वरवादी प्रश्नों को सुलझाया है। सभी का उत्तर हैं। सृष्टि आदि का सुव्यवस्थित उत्तर देते हैं। इतना ही नहीं जड कर्मों के हाथ में कर्म फल की सत्ता का कार्य है। अतः ईश्वर का स्वरूप विकृत न करते हुए परम विशुद्ध बताया है। उसकी उपासना सर्व कर्म क्षय के उद्देश्य से करने की है, मोक्ष फल प्राप्त करने की विशुद्ध साधना पद्धति बनाई है। कर्म फल दाता के रूप में ईश्वर को जीवों के कृत–कर्म के विपाक स्वरूप दुःख सजादि का कारण क्यों मानें? क्यों ईश्वर को मानवी के सुख–दुःख का कारण माने? कर्म फल के रूप में ईश्वर को बीच में लाकर ईश्वर के हाथ गन्दे करना या विशुद्ध ईश्वर के स्वरूप को विकृत करना जैन धर्म ने उचित नहीं समझा। ईश्वर का स्वरुप शुद्ध–विशुद्ध–परमशुद्ध रखा है। अतः ईश्वर को सर्व दोष रहित, सर्व कर्म मुक्त, क्लेश–कषाय–कल्मष–कर्म रहित माना, राग–द्वेष रहित वीतराग माना, अज्ञान, अल्पज्ञान रहित सर्वज्ञ सर्वदर्शी माना, राग–द्वेष विजेता के रूप में जिन जिनेन्द्र, जिनेश्वर माना है। मोक्षमार्ग उपदेशक के रूप में तीर्थंकर अरिहंत माना है। इतना ही नहीं निरीश्वरवादी जैन दर्शन भी ईश्वर शब्द का प्रयोग करते हैं, किसी विशेषण के साथ ईश्वर शब्द का प्रयोग करते हैं–उदाहरणार्थ परम + ईश्वर = परमेश्वर, जिन + ईश्वर = जिनेश्वर इत्यादि शब्द प्रयोग में प्रतिदिन लाते हैं। परन्तु इसमें सृष्टि कर्ता के अर्थ की ध्वनि नहीं है। परम का अर्थ है जो पामर

नहीं है, परम उच्च, परम विशुद्ध पद पर बिराजमान है परमेश्वर । राग-द्वेषादि को सर्वथा जीत लेने वाले ईश्वर को जिनेश्वर के नाम से संबोधित करते हैं। ईश्वर अर्थात् स्वामी या मालिक के अर्थ में नहीं। चूंकि जैन ईश्वर को जगत का पिता, नियंता, नियामक आदि नहीं मानते हैं।

अतः निरीश्वरवादी का सिर्फ इतना ही अर्थ स्पष्ट होता है जो ईश्वर को सृष्टि के कर्ता हर्ता, धर्ता, धाता-विधाता के रूप में नहीं मानता है। सिर्फ अर्थ भेद है। अतः ईश्वर विषयक मान्यता जरूर है, भले ही कर्ता के रूप में न मानकर अर्थ भेद से अन्यार्थ में माना है। चूंकि अनिवार्य नहीं है कि ईश्वर को सभी सृष्टिकर्ता के रूप में ही मानें ? व्याकरण आदि की दृष्टि से या व्युत्पत्ति आदि की दृष्टि से भी ईश्वर शब्द की व्युत्पत्ति सृष्टि कर्ता, हंता या नियंता आदि के रूप में ही नहीं है। अतः जैन दर्शन जो एक स्वतंत्र धारा है उसने ईश्वर को आत्मगुणैश्वर्य संपन्न, परम शुद्ध पर प्राप्त परमेश्वर स्वरूप में स्वीकारा है। जगत् कर्तृत्ववादी मान्यता वाला जरूर नहीं है। चूंकि माया, अविद्या या प्रकृति के हाथ में अन्य दार्शनिकों ने जैसे कर्तृत्वशक्ति प्रदान की है उसी तरह जैन दर्शन ने कर्म के हाथ में कर्तृत्वशक्ति प्रदान की है और कर्म को तथा कर्म फल की लगाम ईश्वर के हाथमें देकर ईश्वर का स्वरूप जितना विकृत किया है जैन दर्शन ने उतना ही विशुद्ध बताया है। अतः जगत्कर्तृत्व -वाद के एक अंश के अर्थ में जैन दर्शन अनीश्वरवादी या निरीश्वरवादी कहा भी जाता हो तो भी अन्य अर्थ में जैन दर्शन को विशुद्धेश्वरवादी कहना ज्यादा सुसंगत सिद्ध होता है। अतः जैन दर्शन को नास्तिक कहना भी सुसंगत नहीं है। युक्ति संगत भी नहीं है एवं प्रत्यक्ष विरुद्ध है। चूंकि लाखों मंदिर हैं, लाखों प्रतिमाएँ हैं। प्रति दिन पूजा-पाठ करने वाले जैन को नास्तिक कहना सूर्य को काला कहने जैसी बात है।

सृष्टि कर्तृत्ववाद की समालोचना :-

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं उस ईश्वर को सृष्टि कर्ता के रूप में मानना कहां तक न्याय संगत है ? यह समीक्षा भी यहां अवकाश मांगती है। तर्क-युक्ति पर इसका आधार है। ईश्वर में जो बातें नहीं हैं वह यदि हम हमारी तरफ से आरोपित करके ईश्वर का स्वरूप हमारी अपनी दृष्टि के अनुरूप बनाएंगे तो निश्चित ही ईश्वर का स्वरूप विकृत हो जायेगा। शायद मानव ने ही अपने स्वार्थवश ईश्वर का स्वरूप विकृत किया है। हमारे पूर्वज न्यायविशारद, तर्कवादी, युक्ति साम्राज्य वाले, कई आचार्य भगवंतों ने ईश्वरवाद के ऊपर समीक्षा की है। काफी परामर्श इस विषय पर किया है जिनमें सिद्धसेन दिवाकर सुरी, हरिभद्रसूरी, वादिदेवसूरी, हेमचन्द्राचार्य, महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज, विद्यानंदी आदि धुरंधर विद्वानों ने तर्क युक्ति पूर्वक ईश्वरवाद की समालोचना की है। इस विषय के अनेक अकाट्य ग्रंथों की रचना

की है। स्याद्वाद रत्नाकर, प्रमाणनय तत्त्वालोक, सर्वज्ञ सिद्धि, सन्मति तर्क प्रकरण, स्याद्वाद मञ्जरी, शास्त्रवार्ता, समुच्चय, स्याद्वाद कल्प-लता टीका, न्यायखण्डन खण्ड खाद्य, आप्त परीक्षा आदि अद्भुत, अनुपम युक्ति सभर ग्रन्थ अवश्य दर्शनीय हैं। विचारणीय है। यहां प्रस्तुत विषय में हेमचन्द्राचार्य विरचित अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका ग्रन्थ की पू. मल्लिषेण सूरीविरचित टीका स्याद्वादमञ्जरी के एक श्लोक को लेकर थोडी उपयोगी विचारणा करें –

कर्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।
इमा कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥

सामान्यार्थ इस प्रकार है – हे नाथ ! जो लोग ऐसा कहते हैं कि जगत्‌का कोई कर्ता है, वह एक ही है, वही सर्व व्यापी है, स्वतंत्र है और नित्य है इत्यादि दुराग्रह से परिपूर्ण सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं उनका तूं अनुशास्ता नहीं हो सकता। हे प्रभु ! तूं उनका उपास्य नहीं हो सकता।

ईश्वरवादी दर्शन जो ईश्वर को सृष्टि का कर्ता-जगत् कर्ता के रूप से स्वीकारते हैं उनका कहना है कि यह संसार जो तीन लोक स्वरूप है, विराट ब्रह्मांड-विश्व स्वरूप है वह किसी के द्वारा बनाया हुआ है। पृथ्वी, पर्वत, नदी-नद-समुद्र, वृक्षादि जो जो भी कार्य है उसका कारण कोई अवश्य होना चाहीए। चूंकि कारण के बिना कार्य नहीं होता। जैसे बिना अग्नि के धूँआ नहीं निकलता उसी तरह बिना कारण के कार्य कैसे हो सकता है? तथा पृथ्वी, पर्वत, नदी, समुद्र, वृक्षादि ये सब कार्य है यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है तो फिर इनका कोई कर्ता, बनाने वाला कारण रूप होना तो चाहिए। न हो तो यह सृष्टि विश्व तीन लोक, इतनी बडी पृथ्वी, महा समुद्र आदि सब कैसे बने ? यदि कोई बनाने वाला ही न हो तो इनकी सत्ता भी नहीं स्वीकारनी चाहीए। और ये तो सब प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं तो इनका कारण भी स्वीकारना चाहीए। वही अदृष्ट कर्ता ईश्वर ही इन सबका बनाने वाला कारण रूप में है। उसे ही जगत् कर्ता, सृष्टि का रचयिता इत्यादी शब्दों से कहते हैं। जैसे घडा-वस्त्र आदि कार्य हैं तो उनका बनाने वाला कुम्हार, बुनने वाला वणकर आदि कर्ता के रूप में हैं। वैसे ही पृथ्वी आदि कार्य को बनाने वाला ईश्वर है। कुम्हार घड़ा बना सकता है। परंतु वह पृथ्वी पर्वतादि तो नहीं बना सकता। परन्तु ये पृथ्वी-पर्वतादि तो बने प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं तो फिर इनका कर्ता कोई अदृश्य होगा, पर होगा सही। वही सर्वशक्तिमान सर्वव्यापी ईश्वर है।

यह तो ईश्वरवादी का पक्ष हुआ परन्तु यहां प्रश्न यह है कि आप ईश्वर को पृथ्वी आदि का कर्ता मानते हैं ठीक है, परन्तु वह ईश्वर शरीरधारी है कि मुक्तात्मा की तरह अशरीरी है ? जैसे कुम्हार सशरीरी है तो घडे बना सकता है। उसी तरह

सशरीरी अर्थात् शरीर वाला ईश्वर हो तो ही पृथ्वी पर्वतादि बना सकेगा। अशरीरी मुक्तात्मा शरीर के अभाव में कार्य कैसे करेगा? अच्छा, अब आप कहेंगे कि ईश्वर सशरीरी है। सशरीरी होकर ही पृथ्वी आदि बनाने का काम करता है तो यह बताईये कि ईश्वर के शरीर की रचना किसने की? फिर वही बात आएगी यदि ईश्वर ने ही अपने शरीर की रचना की ऐसा कहोगे तो पहले अशरीरी ईश्वर और वह शरीर की रचना कैसे करेगा? मुक्तात्मा जो अशरीरी हैं वह तो शरीर रचना करते ही नहीं हैं। अन्यथा पुनः संसार में गिरने की आपत्ति खडी होगी। अतः आप इसका उत्तर क्या देंगे? अशरीरी ईश्वर की शरीर रचना किसी दूसरे ईश्वरने की ऐसा कहेंगे तो उस दूसरे ईश्वर की रचना किसने की? तीसरे ने। तो तीसरे की किसने की? चौथे ने !...चौथे की किसने की? इस तरह इसका तो कहीं अंत ही नहीं आएगा। अनवस्था दोष आएगा। यदि मनुष्यो –त्पत्ति की तरह माता के गर्भ से उत्पत्ति मानें तो फिर माता–पिता को किसने बनाया ? तो फिर ईश्वर के पहले भी सृष्टि माननी पडे तो ईश्वर का सृष्टि कर्तृत्व निरर्थक सिध्द हो जाएगा। अशरीरी मानने पर कार्य रचना संभव नहीं है।

यदि आप यह उत्तर दें कि ईश्वर का शरीर हमारे जैसा दृश्य शरीर नहीं था, वह तो पिशाच–भूतादि की तरह अदृश्य शरीर था। तो क्या ऐसा पिशाच जैसा शरीर बनाने में ईश्वर का माहात्म्य विशेष कारण है कि हम लोगों का दुर्भाग्य? यह भी ठीक नहीं है। अदृश्य शरीर से ही माहात्मय बढे और माहात्म्य के कारण ही अदृश्य शरीर बनाए तो अन्योन्याश्रय दोषग्रस्तता आएगी अथवा हमारे दुर्भाग्यवश पिशाचादी की तरह अदृश्य शरीर करेगा तो ईश्वर को पिशाचादि रूप में मानना पडेगा। घडा, वस्त्रादि, तो सशरीरी के बनाए हुए हैं तो पृथ्वी, समुद्रादि अशरीरी के व्दारा बनाए गये हैं यह कौन मानेगा? चूंकि वे भी हैं तो सशरीर जन्य हैं ऐसा मानना पडेगा। अतः यह युक्ति सिद्ध नहीं होती है।

कालादि की अपेक्षा से विचार करें तो ऐसा प्रश्न खडा होता है कि सृष्टिकर्ता कब उत्पन्न हुआ? यदि सृष्टि कर्ता सादि है तो क्या अपने आप उत्पन्न हो गया ? या किसी अन्य कारण से ? माता–पितादि के कारण या किस कारण ? यदि सृष्टि कर्ता ईश्वर स्वयम्भू है, अपने आप उत्पन्न हो सकता है तो फिर संसार भी अपने आप उत्पन्न हो सकता है यह मानने में क्या आपत्ति है? चूंकि संसार में अनन्तात्मा हैं। जड़ पुद्गल परमाणुओं के साथ जीव संयोग करके स्वयं उत्पन्न होता है। उसी तरह मानना पडेगा ।

जड़ पुद्गल परमाणुं एवं जीव का अस्तित्व ईश्वरास्तित्व के पहले स्वीकारना पड़ेगा । यदि यह स्वीकार करें तो ईश्वर की उत्पत्ति के पहले भी सृष्टि थी यह स्वीकार करना पड़ेगा।

यदि आप यह कहो कि जगत्कर्ता की सत्ता सादि नहीं अनादि है तो उसी के साथ जगत् को भी अनादि मानना पड़ेगा। अनादि तत्त्व यदि सिद्ध होगा तो अनादि की तो उत्पत्ति नहीं होती है। अनादि द्रव्य तो अनुत्पन्न होता है। जैसा कि आप ही कहते हैं कि आकाश अनादि द्रव्य है। आकाश पदार्थ ईश्वर के द्वारा बनाया नहीं गया है। अनादि यदि आकाश है और उसी की तरह समस्त जगत् अनादि मान लेंगे तो ईश्वर की निष्क्रियता सिद्ध हो जायगी। ईश्वर की निष्क्रियता सिद्ध हो यह भी ईश्वरवादी को ईष्ट नहीं है। परन्तु ईश्वर की कर्तृत्वता और जगत् की अनादिता दोनों तो एक साथ रह नहीं सकती । चूँकि परस्पर विरोधी है। अब यदि जगत् की अनादिता सिद्ध होती है तो ईश्वर के द्वारा प्रलय किया जाता है, संहार किया जाता है यह पक्ष भी नहीं ठहरेगा। ईश्वर की तीनों अवस्था टिकाए रखने के लिए जगत् को भी सादिसान्त माना है और तभी ही ईश्वर का कर्तृत्व टिकेगा ।

दूसरी तरफ यह कहते हैं कि ईश्वर ने सृष्टि कैसी बनाई ? किस तरह बनाई ? इसके उत्तर में वेद में लिखा है कि **''धाता यथा पूर्वमकल्पयेत्''**। धाता = विधाता ने जिस तरह इसके पूर्व के कल्प में जैसी सृष्टि रचना की थी, वैसी ही सृष्टि इस कल्प में ईश्वर करता है, बनाता है। यह कैसे पता चला कि पूर्व कल्प में ऐसी सृष्टि बनाई थी ? इसके उत्तर में कहते हैं कि वेद में देखा। वेद को अपौरुषेय कहा है। वेद किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है। किसी के द्वारा कहे नहीं गए हैं। वेद अनुत्पन्न अनादि-अनंत-अपौरूषेय है यह कल्पना की गई है। ईश्वर सादि-सान्त सोत्पन्न है। ईश्वर भी वेद का कर्ता नहीं है। वेद में जैसा लिखा था जिस प्रकार लिखा था उसी प्रकार के वेद पाठ देखकर ईश्वर ने सृष्टि की रचना की है। यहां थोड़ी सोचने जैसी बात यह है कि ईश्वर को सर्वज्ञ-सर्वव्यापी, सर्व शक्तिमान, सर्वेश्वर मानकर भी वेद के आधीन बना दिया। सर्व तंत्र स्वतन्त्र मानकर भी परवश-पराधीन बना दिया। ईश्वर सर्वज्ञ हैं कि वेद सर्वज्ञ हैं ? इसके बारे में क्या कहेंगे ? वेद में लिखे अनुसार यदि ईश्वर सृष्टि रचना करता है तो फिर ईश्वर की सर्वज्ञता तो असिद्ध हो ही गई और अल्पज्ञता सिद्ध हो जाती है।

अच्छा दूसरी बात यह है कि यदि ईश्वर वेद में लिखे पाठानुसार सृष्टि निर्माण करता है, सृष्टि सदा सर्वदा एकसी रहनी चाहिए। सभी युगों में सृष्टि एक जैसी ही बननी चाहिए। लेकिन नहीं सभी युगों में सृष्टि की साम्यता भी तो स्वीकार नहीं की है। व्दापर युग में सृष्टि ऐसी थी, त्रेता युग में कुछ अलग थी, सत् युग में जैसी सृष्टि थी वैसी आज कलियुग में नहीं है यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। जबकि जैसी पूर्व कल्प में थी वैसी ही सृष्टि यदि वेद में देखकर ईश्वर बनाता है तो हमेशा एक सरीखी सृष्टि होनी चाहिए थी। लेकिन यहां भी विसंगतता है। अतः यह पक्ष भी युक्ति सिद्ध नहीं होता है।

सृष्टि में विषमता और विचित्रता क्यों ?

अच्छा चलो मान भी लें कि सर्वशक्तिमान ईश्वर ने यह सृष्टि निर्माण की है तो ईश्वर ने सृष्टि में सैंकड़ो विसंगतियां क्यों रखी हैं ? ऐसी विषम सृष्टि क्यों निर्माण की है ? जबकि सर्वज्ञ ईश्वर दयालु है। परम करुणालु है। दया का भंडार और करुणा का सागर है। और कुछ ईश्वर में मानें या न मानें परन्तु ईश्वर में राग-द्वेष रहितता तो माननी ही पड़ेगी। चूँकि मनुष्य-पशु-पक्षी सभी राग-द्वेष ग्रस्त जीव है। और यदि ईश्वर भी रागादि युक्त हो तो ईश्वर में क्या श्रेष्ठता रही? फिर तो रागादि भावों से युक्त मनुष्य-पशु-पक्षी और ईश्वर रागादि की कक्षा में सभी समान समकक्ष हुए। यदि रागादि रहते हुए भी ईश्वर को ईश्वर-महान-सर्वज्ञ कहेंगे तो मनुष्य की सृष्टि कर्तृत्व शक्ति नहीं है। वह तो कुम्हार की तरह घड़े ही बना सकता है। नदी-नद-वृक्ष-पर्वत-पृथ्वी-समुद्रादी बनाने में सक्षम नहीं है। यदी रागादिमान ईश्वर को सृष्टिकर्ता कहें तो सर्व सृष्टि एकसी एक सरीखी क्यों नहीं है। सृष्टि में विषमता क्यों भरी पड़ी है ? क्या दयालु-करुणालु ईश्वर भी एक को राजा एक को रंक, एक को अमीर, एक को गरीब, एक को सुखी एक को दुःखी इत्यादि बना सकता है ? ऐसी विषम सृष्टि ईश्वर क्यों बनाता है ? यदि राग-द्वेष के आधीन ईश्वर हैं तो ही यह विषमता और विचित्रता है। यदि आप ना कहते हैं कि रागादि नहीं है तो विचित्रता-विषमता जो जगत् में प्रत्यक्ष गोचर है इसका क्या कारण है ? यहां ईश्वरवादी उत्तर देते हैं कि ईश्वरेच्छा बलीयसी। सृष्टि की रचना करने के पीछे ईश्वर की इच्छा ही बलवान तत्त्व है। अच्छा आपने इच्छा तत्त्व मान लिया तो अब आप यह बताइए कि ईश्वर बड़ा कि इच्छा ? आप कहेंगे ऐसा भी क्या प्रश्न खड़ा हो सकता है ? ऐसा प्रश्न करना भी प्रश्नकर्ता की मूर्खता है। अच्छा भाई मैंने मूर्खता भी मान ली परन्तु उत्तर तो दिजिए। चूंकि आप ईश्वर को दूसरी तरफ यदि संसार को अनादि मानते हैं तो अनादि की तो उत्पत्ति संभव नहीं है। जो उप्पन्न हो उसे अनादि कैसे कहेंगे ? अतः न तो ईश्वर को अनादि कह सकेंगे और न ही सृष्टि को। जो अनुत्पन्न होता है वही अनादि होता है। जैसे कि आत्मा। आत्मांद्रव्य उत्पन्न द्रव्य नही है। अनादि अनंत शाश्वत द्रव्य है। यही भी द्रव्य स्वरूप में है। फिर इसकि उत्पत्ति का कर्ता किसको मानेंगे? क्या ईश्वर को ? कैसे ईश्वर आत्मा को उत्पन्न करता है तो आत्मा भी अनादि-अनंत सिद्ध नहीं होगी, वह भी जड़ पदार्थवत् सादि सान्त सिद्ध होगा। तो यह प्रत्यक्ष विरुद्ध सिद्ध होगा। मृत्यु के समय 'जीव गया' जीव जा रहा है, जीव जाने वाला है ऐसा व्यवहार करते हैं। शरीर गया, या शरीर जा रहा है ऐसा व्यवहार कोई नहीं करते है। जीवात्मा इस देह को छोड़कर जाती है फिर नश्वर देह को जला देते हैं। देह उत्पन्न हुआ था इसलिए नष्ट हो गया। आत्मा अनुत्पन्न थी नष्ट नहीं हुई। अतः अनादि अनंत का स्वरूप सही रहा। तो ही इसके आधार पर आगे स्वर्ग-नरक, लोक-परलोक, पूर्व

जन्म–पुनर्जन्म की सिद्धि होगी और उपरोक्त बात न स्वीकार करें तो ये लोक–परलोकादि भी सब व्यर्थ सिद्ध हो जायेंगे। और व्यर्थ सिद्ध हो जायेंगे तो तीन लोक की अनंत ब्रह्माण्ड की ईश्वर की सृष्टि असिद्ध होगी।

दूसरी बात यह भी है कि आकाश द्रव्य को जिस तरह नित्य शाश्वत माना गया है। अतः उसकी उत्पत्ति नहीं मानी गई है तो आत्मा भी शाश्वत द्रव्य है, उसकी उत्पत्ति मानने का कोई कारण नहीं रहता है। नैयायिक आत्मा, आकाश, काल, दिशा, मनादि नित्य द्रव्यों को अनुत्पन्न मानते हैं। अब सोचिए कि यदि ये नित्य पदार्थ पहले से ही थे, अनादि नित्य हैं तो फिर ईश्वर ने बनाया क्या ? ईश्वर के पहले भी यदि सृष्टि थी तो फिर ईश्वर को सृष्टि कर्ता कहें कैसे ? उसी तरह ईश्वर ने कुम्हार की तरह यह सृष्टि बनाई है ऐसा वेद में कह कर ईश्वर को सबसे बड़ा महान कुम्भकार–कुलाल के रूप में ईश्वर की स्तुति करते हुए कहा है कि – "**नमः कुम्भकारेभ्य कुलालेभ्यश्च**" उस महान कुम्हार रूप एवं कुलालरूप (वणकर) ईश्वर को नमस्कार हो जिसने इस सारी सृष्टि की रचना की है।

कुम्हार घडे बनाता है। कैसे बनाता है ? मिट्टी–पानी लेकर मिश्रित करके पिण्ड बनाकर चाक के ऊपर दण्ड से घूमाकर घडे बनाता है। यह सर्व सिद्ध प्रत्यक्ष बात है कि कुम्हार मिट्टी आदि से घडे बनाता है। प्रश्न यह है कि कुम्हार घडे बनाता है कि मिट्टी–पानी बनाता है ? जी नहीं मिट्टी–पानी का बनाने वाला कर्ता कुम्हार नहीं है। वह तो सिर्फ घडे का कर्ता है। मिट्टी–पानी जो पहले से विद्यमान पदार्थ थे उसको लेकर कुम्हार ने घडे बनाए हैं। अतः सबसे बड़ा सृष्टि का रचयिता जिसको वेद में कुम्हारादि कहा गया है उसने यह सृष्टि कैसे बनाई ? कुम्हार की तरह ही बनाई तो मतलब यह हुआ कि बनाने योग्य पदार्थ, घटक पदार्थ पहले से ही थे, केवल ईश्वर इनका संयोजन करने वाला संयोजक ही रहा। जैसा कि नैयायिक कहते हैं कि–परमाणु तो थे ही। परन्तु परमाणुओं को जोड़ने का, संयोजन करने का कार्य ईश्वरेच्छा से हुआ। परमाणुओं के मिश्रण से जिस तरह द्वयणुक, त्रयणुक, चतुर्णुक आदि बनते गए और इस तरह महा स्कंध बने। इस तरह जगत के अनंत पदार्थ बने। परमाणु वाद पर सृष्टि का आधार रख कर भी परमाणु संयोजन में ईश्वरेच्छा का तत्त्व बीच में लाकर नैयायिकों ने वैज्ञानिकता सिद्ध नहीं की है। दूसरी तरफ अपने आप को महान तार्किक, तर्क रसिक कहनेवाले एवं प्रत्यक्ष को भी अनुमान से सिद्ध करने वाले तर्कविलासी तर्क जीवी नैयायिकों ने ईश्वरेच्छा को सिद्ध करने के लिए कोई तर्क नहीं दिये यही बड़ा आश्चर्य है। ईश्वर इच्छा क्यों है ? क्यों इच्छा तत्त्व परमाणुओं का संयोजन करे ? कैसे करे ? यहां कोई तर्क युक्ति नहीं है।

यदि ईश्वर विश्वकर्मा है जो कुम्हार कुविन्द–कुलाल की तरह सृष्टि की

रचना करता है तो सृष्टि की रचना में सहायक घटक द्रव्य जो पृथ्वी-पानी-अग्नि-वायु-आकाशादि की सत्ता यदि ईश्वर के पहले ही सिद्ध हो जाती है तो फिर ईश्वर ने क्या बनाया ? यदि आप ये कहें कि ईश्वर ने तो सिर्फ पृथ्वी-पानी आदि के संयोजन संमिश्रण ही किया है तो फिर यह कार्य तो जीव भी करता ही था। और ईश्वर के पहले ये पदार्थ थे तो ईश्वर को सृष्टिकर्ता क्यों कहें ? नगर कर्ता, भवन कर्ता आदि ही कहना पडेगा। जैसे कि कुम्हार को घट कर्ता कहते हैं न कि मिट्टी-पानी का कर्ता। तन्तुवाय-कुलाल-कुविद को वस्त्र का कर्ता कहते हैं, न की रूई कपास का कर्ता। इस तरह ईश्वर का सृष्टि कर्तृत्व ठहर नहीं सकता।

सृष्टिकर्ता ईश्वर यदि सादि है तो क्या अपने आप उत्पन्न हो गया? अच्छा मान भी लें। यदि सृष्टिकर्ता ईश्वर अपने आप उत्पन्न हो सकता है तो जगत् अपने आप क्यों नहीं उत्पन्न हो सकता? जगत् को भी स्वयंभू मानने में क्या आपत्ति है ? जड़-चेतन पदार्थो के संयोग-वियोग और जड़ पदार्थों में भी घात-संघात-विघात की प्रक्रिया चलती रही है जिससे गुण धर्मादि में परिवर्तन आते ही रहते हैं तो इस तरह वहां बीच में ईश्वर को लाने की आवश्यकता ही नहीं है। यदि यह पूछा जाय कि ईश्वर स्वयंभू नहीं है और सादि है तथा उसकि उत्पत्ति में अन्य कारण है। यदि अन्य कारण मानते हैं तो उन कारणों का तथा कारण के घटक द्रव्यों का -इच्छा के आधीन बता रहे तो फिर ईश्वर बड़ा हुआ कि इच्छा? क्या ईश्वर इच्छा के अधीन है या इच्छा के अधीन ईश्वर है ? यदि ईश्वर इच्छा के आधीन होकर सृष्टि की रचना करता है और उसी तरह कुम्हार-कुलालादि इच्छा द्वारा प्रेरित होकर, इच्छा के आधीन होकर ही घट-पट बनाता है तो मनुष्य ऐसे कुम्हार और ईश्वर में क्या अन्तर रहा ? दोनों में क्या भेद रहा? दोनों ही इच्छा के धरातल पर समान गिने जायेंगे। तो फिर मनुष्य को तो इच्छा के बन्धन से मुक्त होने के लिए, इच्छा को सीमीत करने के लिए, इच्छा पर विजय पाने के लिए उपदेश दिया जाता है और ईश्वर के लिए किसी उपदेश की आवश्यकता नहीं है क्यों ? क्या इच्छा अच्छी है ? इच्छा क्या है ? इच्छा किसे कहते हैं इस विषय में उमास्वाति वाचकमुख्य पूर्वधर महापुरुष प्रशमरति में कहते हैं-

इच्छा, मूर्च्छा-कामः स्नेहो, गार्ध्य ममत्त्वभिनन्दः।
अभिलाष इत्यनेकानि रागपर्याय वचनानि।।

इच्छा, मूर्च्छा, काम, स्नेह, गृद्धता, ममत्त्व, अभिनन्द, अभिलाषा इत्यादि राग के पर्यायवाची शब्द हैं। यदि इच्छा ही राग का रुपान्तर है पर्यायवाची समानार्थक शब्द है। तो फिर ईश्वर को रागादि युक्त ही मानना पड़ेगा। और रागादि युक्त हुआ तो वीतरागता नहीं रहेगी। वीतरागता का धरातल भुकम्प से हिलने लगा तो फिर उस पर रही हुई ईश्वरत्व की इमारत का स्थिर रहना सम्भव नहीं है। रागादि

कर्म जन्य है। शुभाशुभ कर्म ही रागादि के कारण हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है कि – "**रागो य दोषो वि य कम्म बीयं**" राग–द्वेष ही कर्म के बीज हैं। इन्हीं बीजों से सारा कर्मवृक्ष खड़ा होता है। यदि ईश्वर भी रागादि कर्म कारणों के आधीन होकर इच्छा से प्रेरित होता है और संसारस्थ मनुष्य पशु–पक्षी आदि सभी जीवों की भी यही दशा है। वे भी रागादि बीज जन्य विपाक स्वरूप इच्छादि तत्त्व से प्रेरित होकर ही प्रवृत्ति करते हैं तो फिर दोनों में अन्तर क्या रहा?

अच्छा चलो भाई मान भी लें कि इच्छा के आधीन ईश्वर सृष्टि की रचना करता है तो ईश्वर ने एक को सुखी एक को दुःखी, एक को ऊँचा, एक को नीचा, एक को विष्ठा खाने वाला सूअर और दूसरे को मेवा–मिठाई खाने वाला क्यों बनाया? यदि सब कुछ ईश्वर के आधीन है तो क्या ईश्वर अपनी सृष्टि अत्यधिक सुन्दर, निर्दोष, सर्व दोष क्षति रहित नहीं बना सकता है ? ऐसा क्यों ? वह ऐसी सृष्टि बनाए जिससे सृष्टि के मनुष्यादि भी ईश्वर के एक वाक्यता की प्रशंसा के शब्दों में याद करें। लेकिन वह भी नहीं। एक तरफ संतान के अभाव वाले को संतान देकर दूसरी तरफ संतान की जन्म दाता माता को उठा लेता है। अब और भी समस्या बढ़ गई । ऐसे कारणों से ईश्वर की दया–करुणा के विषय में शंका उत्पन्न होती है। क्यों नहीं ईश्वर अपनी दया करुणा का उपयोग करता है जबकि उसमें पड़ी है तो ?

हम वर्तमान विज्ञान युग में देखते हैं कि एक मशीन यदि लाखों वस्तुएं ग्लास आदि बनाती है तो वे लाखों ग्लास एक सरीखे बनाती है। एक से दूसरे में कोई भेद नहीं । परन्तु यहां ईश्वर की रचना में तो वह भी नहीं है। एक मां के चार पुत्र हैं तो वे भी वर्णादि में भी समान नहीं हैं। उसी तरह स्वभावादि में भी समान नहीं है। एक का स्वभाव दूसरे से नहीं मिलता, यह कैसी विषमता है। समुद्र का इतना पानी होते हुए सारा ही खारा है।

अच्छा यह पूछा जाय कि ईश्वर सृष्टि क्यों बनाता है? क्या ईश्वर का स्वभाव है? उत्तर में यदि हां कहते हैं, कि सृष्टि निर्माण करना ईश्वर का स्वभाव विशेष है तो वह स्वभाव ईश्वर के साथ सदा ही रहेगा। यदि ईश्वर सांत नहीं और नित्य है तो वह सृष्टि निर्माण का स्वभाव भी नित्य रहेगा। तो फिर उस स्वभाव के आधीन नित्य ईश्वर सदाकाल सृष्टि निर्माण का कार्य ही करता रहेगा । फिर वह सृष्टि निर्माण को छोड़कर अन्य कुछ भी करे यह सम्भव ही नहीं है। तो फिर ईश्वर नित्य काल तक निरन्तर सतत सृष्टि निर्माण करता ही रहेगा। यह सातत्य रहेगा । चूंकि ईश्वर स्व सत्ता से नित्य है और सृष्टि रचना का स्वभाव भी नित्य है तो सृष्टि रचना का कार्य भी निरंतर सतत चलता ही रहेगा। और यदि यह स्वीकार करेंगे तो सृष्टि को अपूर्ण ही माननी पड़ेगी। कभी भी सृष्टि पूरी रची गई है यह कह ही नहीं सकेंगे। चूंकि जो कार्य

अविरत चल रहा है, चालू है उसे समाप्त हुआ यह कैसे कह सकेंगे ? तो तो फिर नित्य ईश्वर सदा काल ही सृष्टि निर्माण करता रहेगा, तब तक सदा काल ही सृष्टि रचना पूर्ण हो गई है, यह कहना सम्भव भी नहीं होगा। हजारों लाखों साल के बाद भी पूछेंगे तो भी उत्तर यही मिलेगा कि अभी भी रचना कार्य जारी है। चल रहा है। अच्छा यह स्वीकारने पर ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी कैसे कह सकेंगे ? सर्वशक्तिमान होते हुए भी ईश्वर इतने लम्बे काल से कार्यरत होते हुए भी अभी तक भी एक सृष्टि रचना का भी कार्य समाप्त नहीं कर सका है तो फिर सृष्टि के प्रलय की बारी तो कभी भी आयेगी ही नहीं। यदि सृष्टि रचना ही पूरी नहीं हुई है वही अपूर्ण है तो फिर प्रलय करेगा किस का ? क्या रचना पूरी किये बिना ही प्रलय कर देगा ? सृष्टि अपूर्ण और प्रलय पूरा यह कैसे स्वीकारे ? जो नहीं बना है उसका प्रलय कैसे संभव है ? जो पुत्रजन्म ही नहीं वह मर गया यह परस्पर विरोधाभास खड़ा करेगा।

दूसरी तरफ ईश्वर के जिम्मे काम भी कई हैं। पहले सृष्टि निर्माण करना, फिर पालन करना, फिर जीवों को कर्मफल देना, सृष्टि का प्रलय करना, इत्यादि । मान लो काम ज्यादा है । इसलिए ईश्वर के तीन रूप की व्यवस्था की है। एक सृष्टि कर्ता, दूसरा पालनहार और तीसरा प्रलयकर्ता संहारक ! तो कर्मफल दाता के रूप में क्यों किसी की व्यवस्था नहीं है। फिर ईश्वर को एक रूप में ही मानें या अनेक रूप में मानें ? चूं कि कार्य व्यवस्थानुसार तीन रूप स्वीकारे गये हैं, तो फिर सृष्टि में तो एक नहीं, अनेक कार्य हैं। पृथ्वी, पर्वत, समुद्र, नदी, नद, वृक्ष, स्वर्ग–नरक, पाताल, पशु–पक्षी, कृमि कीट–पतंग आदि सैकड़ों, हजारों लाखों नहीं, अगणित कार्य हैं। तो ईश्वर क्या अपने अगणित रूप करता है ? या अगणित ईश्वर मिलकर कार्य करते हैं। या एक ही ईश्वर क्रमशः एक के बाद एक कार्य करता है या किस तरह की व्यवस्था है ? इस समस्या को हल करने के लिए यदि आप यह कहो कि ईश्वर क्रमशः एक के बाद एक कार्य करता है। तो पहले–पीछे की क्रम व्यवस्था किस तरह बैठाई है। पहले क्या बनाया ? बाद में क्या बनाया ? फिर उसके बाद क्या बनाया ? इत्यादि। मनुस्मृति में बताये गये क्रम के अनुसार समझ लिया जाय कि इस क्रम से बनाया है तो क्या सभी कार्य समाप्त हो गये ? यदि यह कहते हो तो अब सृष्टिकर्ता ईश्वर की निरुपयोगिता सिद्ध होगी । अब ईश्वर को निरर्थक निष्काम बैठा रहना पड़ेगा तो शायद ईश्वर के नित्यत्व के अस्तित्व पर भी वज्रपात होगा।

अच्छा क्रमशः उत्पत्ति स्वीकार करने में नाना (विविध) ईश्वर की कल्पना सामने आयेगी । कितने ईश्वरों ने मिलकर सृष्टि का कार्य किया है ? नाना ईश्वर मानने में एकेश्वरवाद का पक्ष चला जायेगा और नाना नहीं मानें तो अनन्त ब्रह्मांड, स्वर्ग–पाताल, नरक, मनुष्य, कृमि, कीट–पतंगादि किस क्रम से बना पहले क्या और कैसे

मानें? इसमें क्रमापत्ति आयेगी । आप ईश्वर को सर्वव्यापी, सर्वगत मान लेंगे तो भी एक ईश्वर और अगणित असंख्य कार्य कैसे होंगे? अच्छा सशरीरी मानकर तो सर्वव्यापी, सर्वगत मानने में परस्पर विरोध आयेगा। ऐसे अशरीरी मानने में सर्वव्यापी सर्वगत हो जायेगा तो सभी कार्य अशरीरी कैसे करेगा ? आकाश भी अशरीरी सर्वव्यापी सर्वगत है तो फिर आकाश को ही ईश्वर मानने की आपत्ति खड़ी होगी । वह भी नित्य है। लेकिन आकाश निर्जीव, निष्क्रिय है। ईश्वर तो सक्रिय है।

अच्छा आप सारी सृष्टि सह-भू एक साथ ही उत्पन्न हुई है ऐसा मानोगे तो या तो ईश्वर को जादूगर मानना पड़ेगा जैसा कि कहते हैं कि हमारे ईश्वर ने एक जादू किया और सारा संसार बन गया। कोई कहता है कि कुन्द शब्द कहा और सृष्टि बन गई। तो इन्द्रादि भी इन्द्रजाल करते हैं। जादुगर भी अपने जादू आदि से कई वस्तुएं बनाते हैं। तो क्या ईश्वर को जादुगर मानें ? या इन्द्रजाल का कर्ता इन्द्र मानें ? या क्या करें ? जादुगर की माया सही भी नहीं होती। वह भूत-पिशाच आदि की सहायता भी लेता है। तो क्या ईश्वर भी जादुगर के रूप में पिशाचादि की सहायता लेकर सृष्टि बनाता है ? अच्छा तो पिशाचादि क्या सृष्टि के अंग नहीं हैं ? क्या वे ईश्वर के अनुचर हैं या अंश हैं ?

यदि यह मानने जाएंगे तो क्या होगा ? क्या सृष्टि मात्र ईश्वर के संकल्प मात्र से निर्माण हो जाती है ? जैसा कि कहा गया है कि -" **एकोऽहं बहुस्याम प्रजायेय**" एक जो मैं हुँ वह बहुरूपी हो जाऊँ और प्रजोत्पत्ति करूं। यह संकल्प है **या इच्छा** है. ? इच्छा है। इच्छा भी ईश्वर में नित्य रहने वाली है या अनित्य ? यदि नित्य है तो नित्य ही ईश्वर को यह इच्छा होती ही रहेगी। और नित्य ही सृष्टि चलती रहेगी। यदि अनित्य है तो सम्भव है कि सृष्टि का कार्य कैसे करेंगे? सृष्टि अधूरी रह जाएगी। फिर इच्छा के बिना तो ईश्वर सृष्टि निर्माण कर नहीं सकेंगे। एक सर्वशक्तिमान नित्य ईश्वर जो समर्थ है, उसका सृष्टि निर्माण का कार्य अपूर्ण-अधूरा रहेगा, यह दोष किस पर डालेंगे ? दूसरी तरफ अधूरी सृष्टि का प्रलय करना भी अनुचित गिना जाएगा।

यदि आप यह कहो कि ईश्वर लीला के हेतु से अवतार लेते हैं। वह सिर्फ लीला करने आते हैं। लीला करना ही उनका मुख्य उद्देश्य है, यह भी आप जो कहते हैं-लीला के उद्देश से अवतार लेते हैं। परन्तु लीला किस विषय में। सृष्टि निर्माणार्थ या प्रलय के लिए ? न्याय सिद्धान्त मुक्तावली ग्रन्थ की रचना के प्रारम्भ में मंगलाचरण के श्लोक में लिखते हैं कि -

चूडामणि-कृत-विधुर्वलयीकृत वासूकिः ।
भवो भवतु भव्याय लीला-ताण्डव-पण्डितः ।।

नूतन जलधररुचये गोप वधूटी दुकूल चौराय।
तस्मै कृष्णाय नमः संसार महीरुहस्य बीजाय।।

उपरोक्त दो श्लोकों में एक में शंकर की स्तुति की है। 'भवो' शब्द शंकर के लिए प्रयुक्त है। उनके विशेषण के लिए आगे का पद है – '**लीला ताण्डव पण्डितः**' अर्थात् जो ताण्ड्व लीला करने में कुशल है-पण्डित है। ताण्ड्व लीला अर्थात् संहार कार्य में, अर्थात् सृष्टि के प्रलय में जो पण्डित है–कुशल है–जानकार है। शंकर के जिम्मे सृष्टि के प्रलय की जिम्मेदारी है। वे अन्त में नटराज का रूप लेते हैं। उल्टे घड़े पर एक पैर पर खड़े रहकर हाथ में प्रलय का डमरू लेकर नाचने लगेंगे तब सारी सृष्टि का संहार हो जाएगा। प्रलय बड़ा भयंकर विनाशकारी होगा समस्त सृष्टि का एक तिनका भी नहीं बचेगा। यह सोचते हुए कभी आश्चर्य लगता है कि क्या इसे लीला समझना ? ईश्वर की तो मानों लीला होती होगी लेकिन अनंत जीवों की जीवन लीला ही समाप्त हो जायेगी उसका क्या ? अनन्त जीवों को मारने का पाप किसके सिर पर ? चलो आप तो कहते हैं ईश्वर को पाप कभी लगता ही नहीं, भले वे पाप करे तो भी वह लीला कही जाएगी। दूसरे श्लोक में श्री कृष्ण को नमस्कार किया गया है । वहां श्री कृष्ण के रूप में '**गोप वधूटि दुकूल चौराय**' यह विशेषण रखा है। अर्थात् स्नान करने के लिए गोपीयां जब सरोवर या नदी में उतरकर निर्वस्त्र होकर स्नान करने में मस्त हो गई तब उनके बाहर रखे हुए कपड़े चुराने वाले श्री कृष्ण को मैं नमस्कार करता हूं। जिनको हम भगवान का दरजा देते हैं, क्या इन शब्दों से नमस्कार किया जाय? हां, यह तो भगवान की लीला है । इस उत्तर से क्या समाधान होता है ? भगवान ये कार्य करे तो लीला है। और यदि भगवान का ही भक्त किसी स्नान करती हुई स्त्री के वस्त्र चुराता है तो वह लीला नहीं–चोरी है। लोग उसे चोर–चोर, बदमाश कहीं का, कह कर पीटने लग जाते हैं। अच्छा तो ऐसे समय में यदि वह चोर यह कह दे कि मैं तो लीला करने आया हूँ।'जैसा भगवान ने किया था, वैसा अनुकरण करने आया हूँ तो फिर क्या होगा? यदि इस कार्य को चोरी कही जाती हो तो ऐसा कार्य जो भी कोई करे वह चोर ही कहलाता है? एक कार्य को एक ने किया तो लीला और वही कार्य कोई सामान्य मानवी करे तो चोरी। वस्त्र चोर, मक्खन चोर के विशेषण लगाकर हम किसी को भगवान कह सकते हैं? परन्तु मनुष्य यदि उस कार्य को करे तो वह भगवान नहीं बन सकता वह चोर कहलाएगा। ऐसा अन्याय क्यों ? भगवान का आदर्श हमारे लिए कितना ऊंचा होना चाहिए ? बेदाग सर्वथा दाग रहित, आदर्श निष्पाप–निष्कलंक जीवन होना चाहिए तो ही वह भक्त के लिए अनुकरणीय अनुसरणीय बनेगा। अन्यथा '**बाप अण्डे खाए और बेटे को ना कहे**' यह कैसे चरितार्थ होगा ? क्या भगवान का ऐसा स्वरूप करके हमने भगवान के स्वरूप को

विकृत नहीं बनाया है ? कितनी विकृती लाई है।

इतना ही नहीं जिस भगवान को सृष्टि का कर्ता कहा, उसे ही सृष्टि का संहारक, विनाशक भी माना, और वह भी ईश्वर। लोक व्यवहार के संसार में देखें कि क्या एक माता अपने संतान को जन्म देकर वही संतान को खाने लग जाएगी ? या क्या वही माँ बालक का गला घोंट कर मार देगी ? यदि मार दे तो क्या वह माँ माँ कहलाएगी या नरपिशाच राक्षसी चुडैल कहलाएगी ? जिस माँ के खून से जो बालक बना है, और बड़े भारी कष्ट सहन करते हुए जिस माँ ने संतान को अपने गर्भ में साडे नौ महिने धारण करके रखा है, जिस बालक के वात्सल्य से, स्नेह से माता के स्तन में दूध बना है। आज दिन तक जब संतान नहीं थी,माता नहीं बनी थी तब तक तो दूध निर्माण ही नहीं हुआ था वह दूध आज संतानोत्पत्ति एवं वात्सल्य स्नेह के कारण बना है वह दूध अपने सीने से बालक को पिलाने वाली माँ क्या बालक को मार डालने का विचार भी करेगी? क्या बालक का गला घोंटने का वह स्वप्न में भी सोचेगी? सोचे तो माँ का मातृत्व कहां गया? अजी माँ की बात तो छोडीए-पशु-पक्षी में भी यह स्नेह प्रकट देखा जाता है। गाय,भैस,घोड़ा,गधा भी अपने संतान को जीभ से चाट कर स्नेह व्यक्त करते हैं। वे पशु होते हुए भी संतान को मार नहीं डालते। तो फिर जो ईश्वर को ही जगत् का पिता कहा जाय, **'त्वमेव माता-पिता त्वमेव'** कहा जाय वह ईश्वर पुत्रवत् अपनी सृष्टि का संहार करे यह कैसे संभव है? अच्छा मान भी लें कि पशु-पक्षी या माता नरपिशाची, राक्षसी, चुडैल, स्वसंतान भक्षक बन भी जाय, लेकिन जो दयालु है, करुणालु है, दया का सागर है, करुणा का भंडार है ऐसा ईश्वर स्व निर्मित, अपने द्वारा उत्पन्न की हुई इस सृष्टि जिसमें अनन्त जीव हैं इन सबको मारने का संहारकारी-प्रलयकारी कार्य क्यों करे? ऐसे कार्य के कारण के रूप में जब कोई हेतु नहीं मिला तो एक मात्र लीला शब्द का प्रयोग कर दिया। लेकिन सिर्फ लीला शब्द मनः समाधान कारक नहीं है। जबकि सृष्टि निर्माण करने के कार्य के लिए इच्छा एवं दयालु और करुणालु हेतु दिए थे तब उचित लगते भी थे, लेकिन संहार-प्रलय कार्य के लिए सिर्फ लीला शब्द देना पर्याप्त नहीं है। दूसरी तरफ जैसे सूर्य के रहते अन्धेरे का रहना सम्भव नहीं है चूकि दोनों परस्पर विरोधी तत्त्व है। ठीक उसी तरह जिस दयालुता और करुणालुता रहने पर संहार प्रलय सम्भव नहीं है। जिस दृष्टि से मां को देखा जाता है उसी दृष्टि से पत्नी-बहन और बेटी को कैसे देखा जाय? यह कैसे सम्भव है? उसी तरह जिस दयालुता आदि से ईश्वर सृष्टि निर्माण करता है वही ईश्वर उस दया करुणा आदि के रहते संहार-प्रलय कैसे कर सकता है? या ऐसे कहिए कि ईश्वर में से दया-करुणा के गुण चले जाते हैं और क्रुरता, निर्दयता आदि दुर्गुण आ जाते हैं। अरे...रे ! ईश्वर का स्वरूप विकृत करने की भी कोई सीमा

होती है? हाय ! जिसे मानना है, पूजना है, अहर्निश जिसका नामस्मरण करना है उसका इतना विकृत स्वरूप? आश्चर्य..। इससे बड़ा आश्चर्य और क्या हो सकता है?

अरे भाई ! मैं तो यह कहता हूँ कि जब आगे चलकर सृष्टि का प्रलय करना ही था तो फिर पहले से सृष्टि निर्माण ही क्यों की ? निर्माण ही नहीं करते तो फिर प्रलय-संहार करने का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता? यह तो समुद्र से पानी नदीं में उलेचने के समान निरर्थक कार्य हुआ? क्या फायदा? इधर से समुद्र से पानी भर-भर कर नदी में डालना जो नदी बहती हुई आकर समुद्र में ही मिलती है। तो फिर ऐसा प्रयत्न क्या बुद्धिमान आदमी का कार्य हो सकता है? उसी तरह सृष्टि की रचना करो और फिर उसका संहार करो। फिर दूसरे युग में पुनः सृष्टि की रचना करो फिर प्रलय करो। फिर तीसरे युग में पुनः सृष्टि निर्माण करो...फिर संहार करके समाप्त करो !...अरे...भगवान ! ईश्वर को कैसे कार्य में जोड़ दिया है? कुम्हार घड़ा बनाता जाय फिर उसे तोड़कर मिट्टी से घड़ा बनाता जाय, फिर तोड़कर उसे मिट्टी बनाए, फिर घड़े बनाता जाय, फिर मिट्टी...फिर घड़ा...क्या ऐसा कोई कुंम्हार कभी करता है? संभव ही नहीं है। यदि कुम्हार जो नासमझ है वही नहीं करता है तो सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ ईश्वर क्या ऐसा कार्य करे यह संभव भी है ? इस तरह वह बार-बार सृष्टि बनाता रहे और बार बार संहार से समाप्त करता रहे...पुनः बनाना पुनः प्रलय...यंत्रवत् ईश्वर को उसी कार्य में जोड़ दिया। यह ईश्वर की कैसी बिडंबना की है? अरे...रे...! इसके बजाय यदि सृष्टि बनाना भी है तो एक बार बना के कार्य समाप्ति के बाद ईश्वर निवृत्त हो जाय। बस, फिर बनाने, नाश करने आदि की समस्या ही नहीं रहेगी। लेकीन क्या करें ? ईश्वर को नित्य भी कह दिया, उसे ही एक कहा है। वह एक ही नित्य है। उसकी इच्छा भी नित्य है। वह सदा बनाता ही रहे। उसी का सदा ही संहार प्रलय भी करता ही रहे। ऐसा ईश्वर का स्वरूप नियत कर दिया है। न मालुम ईश्वर का ऐसा स्वरूप किसने खड़ा किया है ? क्या ईश्वर ने ही अपना जैसा स्वरूप है वैसा बताया है कि फिर ईश्वर ऐसा है यह किसी और ने बताया है ?

ईश्वर ने खुद ने तो अपना ऐसा स्वरूप है यह बताया ही नहीं है। चूंकि ईश्वर के ऊपर भी वेद की सत्ता मानी है। ईश्वर तो उत्पन्न तत्त्व है। परन्तु वेद तो अपौरुषेय अनुत्पन्न तत्त्व है।वेद ईश्वर के पहले भी विद्यमान थे। तभी तो ईश्वर ने वेद में देखकर सृष्टि की रचना की है। वेद नहीं होते तो ईश्वर सृष्टि की रचना ही कैसे करते ? किंकर्तव्यमूढ़ बनकर बैठे रहते, क्योंकि पूर्व के कल्प में सृष्टि कैसी रची थी यह कैसे पता चलता? इसलिए सृष्टि की रचना कर सकता है। यहाँ ईश्वर को भी वेद के आधीन कर दिया। ईश्वर की स्वतंत्रता छीन ली और परवश,परतन्त्र बना दिया। तो फिर ईश्वर की स्वतन्त्रता कहाँ रही? ईश्वर सर्वोपरि सर्वोच्च कहाँ रहा? और दूसरी

तरफ सिद्ध होगा। वेद को ही सर्वज्ञ-सर्वविद् कहते तो ही ठीक रहता। परन्तु वेद चेतन-सक्रिय तत्त्व कहां है ? फिर तो वेद सृष्टि की रचना करता ऐसा होता। लेकिन ऐसा न करके भी ईश्वर की लगाम वेद के हाथ में देकर ईश्वर को अश्व का रूप दे दिया। यह क्या ईश्वर की कम विडंबना है ? एक तरफ वेद को भी नित्य मानते हैं तथा दूसरी तरफ ईश्वर को भी नित्य मानते हैं। जब दोनों नित्य हैं तो फिर ईश्वर को वेद में देखकर सृष्टि बनाने का प्रश्न ही कहां खड़ा होता है ? तो फिर किसी नित्यता में दोषापत्ति आएगी। जिसको आपने सर्वज्ञ-सर्वविद् कहा उसे भी आपने वेदाधीन कर दिया-तो फिर ईश्वर सर्वज्ञ नहीं रहा यह सिद्ध हुआ। और सर्वज्ञता ईश्वर में ही है यह पक्ष भी पकड़कर रखना चाहते हो तो फिर वेदपारतंत्र्य से ईश्वर को मुक्त करो। काश! भगवान की भक्तों के हाथ में कैसी गति हो रही है ? ईश्वर की इतनी विकृत विडंबना और किसी अन्य ने नहीं,परंतु उसी के व्दारा उत्पन्न की सृष्टि के व्दारा मानवी ने कर दी। तो यह भी सर्वज्ञ ईश्वर जानते ही होंगे तो फिर इनको ईश्वर ने उत्पन्न ही क्यों किया ? ईश्वर के द्वेषी भी संसार में कई हैं। जो ईश्वर को ही गालिया देते हैं। ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं मानने वाले नास्तिक है उनको ईश्वर ने क्यों बनाया? क्या मैं जिसको बनाऊँ वही मुझे न मानें? मेरे से ही पैदा हुआ मेरा ही बेटा मुझे न माने? और क्या ईश्वर यह जानते हुए भी अनिष्ट सृष्टि का निर्माण करे जो ईश्वर का ही स्वरूप विकृत करे। ऐसा भी नहीं है कि ईश्वर का स्वरूप अनीश्वरवादियों ने ही निर्माण किया है। नहीं। अनिश्वरवादी या निरीश्वरवादियों ने तो बड़ा उपकार किया है। उन्होंने तो ईश्वर के विकृत स्वरूप को ठीक किया है, सुधारा है। परस्पर विरोधी बातों को हटाकर ईश्वर स्वरूप की विकृतियां हटाकर स्वरूप शुद्ध बनाया है। इसलिए निरीश्वरवादी जैन आदि ने ईश्वर को सृष्टि कर्ता-संहर्ता के रूप स्वरूप में नहीं माना है। फिर भी ईश्वरकर्तृत्ववादियों ने इन निरीश्वरवादियों को नास्तिक कह दिया। अरे भाई ! नास्तिक तो किसे कहते हैं ? जो आत्मा परमात्मा-मोक्षादि तत्त्वों को न मानें उन्हें सही अर्थ में नास्तिक कहा जाता है। चार्वाक एक ही सबसे बड़ा सही अर्थ में नास्तिक है। जैनादि तो परम आस्तिक है। चूंकि ये आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक, मोक्षादि सभी तत्त्वों को मानते हैं फिर नास्तिक कहने वालों की अल्पज्ञता को सिद्ध करता है।

दूसरी तरफ देखें तो चार्वाक नास्तिक को भी ईश्वर ने ही निर्माण किया है। तो क्यों निर्माण किया? क्या त्रिकालविद् सर्वज्ञ होते भी ईश्वर यह नहीं जानते थे कि भविष्य में ये क्या करेंगे ? मेरा स्वरूप ही नहीं मानेंगे। यह समझकर ईश्वर ने निर्माण ही नहीं किये होते तो कितना अच्छा होता? परन्तु यही सिद्ध करता है कि ईश्वर ने सृष्टि निर्माण की नहीं है। क्योंकि ईश्वर के विपरीत भी सृष्टि निर्माण हो गई है।

यहां क्या समझा जाय ? ईश्वर अपनी स्व इच्छा से सृष्टि निर्माण करनेवाला और वही क्या अनिष्ट सृष्टि निर्माण करेगा? नहीं। लेकिन अनिष्ट सृष्टि है तो सही। फिर यह भूल कैसे हो गई? अरे...रे...! भगवान में भूल दिखाना अर्थात् सूर्य में अंधेरा दिखाने जैसी मूर्खता है। जो भगवान होते हैं, वे भूल नहीं करते और जो भूल करते हैं वे भगवान नहीं कहलाते। भगवान और भूल दोनों ही परस्पर विरोधी पदार्थ हैं। जैसे पूर्व-पश्चिम दोनों विरोधी दिशाए, एक तरफ एक साथ नहीं रह सकती वैसे ही भगवान और भूल दोनों तत्त्व एक साथ नहीं हो सकते। इसलिए भगवान भूल से ऊपर ऊठे हुए रहते हैं। अभी-अभी संसार में आप देख रहे हैं जो भगवान बनकर भारत से भाग गया था और भारत वापिस आया है चूंकि बेचारे को दुनिया में किसी ने पैर रखने भी नहीं दिया। क्यों पैर रखने नहीं दिया? क्योंकि तथाकथित बेचारा विवादास्पद भगवान बन बैठा है,अतः उसकी भोग लीला सभी जानते हैं। भोग लीला भी पाप लीला बल चूकि है। अच्छा हुआ कि बेचारे को सद्बुद्धि सूझी और उसने भगवान पद से इस्तिफा दे दिया, अब उसे भगवान कहनेवाले को ही वह खुद बेवकूफ कहता है। भूल करता हुआ भगवान बन नहीं सकता यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

अनुग्रह-निग्रह समर्थ ईश्वरः : -

'**अनुग्रह-निग्रह समर्थो ईश्वरः**' ऐसा ईश्वर के विषय में वेद में कहा गया है। यदि ईश्वर चाहे तो किसी पर कृपा करे और यदि न चाहे तो ईश्वर किसी का नाश भी कर दे। यह दोनों सामर्थ्य ईश्वर में है, ऐसा वेद कहता है। जगत्कर्तृत्ववादी ईश्वर विषयक धर्मशास्त्र कहते हैं। चूंकि इच्छा तत्त्व के पराधीन ईश्वर है इसलिए ईश्वर चाहे वैसा कर सकता है। यह सब चाहना-इच्छा के ऊपर निर्भर है। अतः अनुग्रहात्मक और निग्रहात्मक दोनों प्रकार की इच्छा ईश्वर में सन्निहित है। परन्तु यह पता नहीं कि कब कौनसी इच्छा काम करेगी? जीवन भर पापाचार में लिप्त रहनेवाला अर्जुनमालि भी ईश्वर की कृपा से अंतमें मोक्ष में चला जाता है। यदि ईश्वर ऐसो पर कृपा करता है, निष्पाप दीन-गरीब बेचारे कई संसार में पडे हैं उन पर क्यों कृपा नहीं कर देता? चूंकि ईश्वर दयालु और करुणालु है तो ईश्वर में अनुग्रह की ही बहुलता रहनी चाहिए। दयालु कृपालु-करुणालु बनकर भी ईश्वर निग्रहकर्ता कैसे बन सकता है? यह तो कितना बडा आश्चर्य है। शीतल चन्द्र सूर्य से भी तेज आग का गोला बन गया। यह ईश्वर की ऐसी विडंबना क्यों की गई है? दयालु कहकर भी निग्रहता सिद्ध करनी कैसे संभव है? क्या यह ईश्वर का उपहास नहीं है? करुणा सागर, दयालु ईश्वर को संसारस्थ जीवों को देखकर दिल में करुणा उभर आनी चाहिए। क्यों नहीं ईश्वर संसारस्थ बेचारे त्रस्त दुःखी जीवों को मोक्ष में भेज देता? सदा के लिए दुःख से

छुटकारा तो पा जाय। इसी में ईश्वर की परम करुणा का परिचय है। यदि वह परम कारुणिक है तो उसे ऐसा करना चाहिए। चूंकि ईश्वर में वह शक्ति है किसी को स्वर्ग में भेजता है, किसी को नरक में...इत्यादि कहते हुए है कि –

ईश्वर प्रेरितो गच्छेत स्वर्ग वा श्वभ्रमेव वा।
अन्यो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख दुःखयोः ।।

ईश्वर के द्वारा ही भेजा हुआ जीव स्वर्ग में या नरक में जाता है। ईश्वर की सहायता के बिना कोई भी जीव अपने सुख–दुःखको पाने में, उत्पन्न करने में स्वतंत्र भी नहीं है एवं समर्थ भी नहीं है। संसारस्थ सभी जीवों के सुख–दुःख की लगाम भी ईश्वर के आधीन रखी है। ईश्वर ही जिसको जैसा रखे उसको वैसा रहना होगा। ईश्वर की इच्छा पर ही सब कुछ निर्भर है। यहां तक कि ईश्वर की इच्छा के बिना एक वृक्ष का पत्ता भी नहीं हिल सकता। ईश्वर ही किसी को जिन्दा रखता है ईश्वर ही किसी को मारता है। तो फिर संसार में सभी ऐसा ही कहेंगे–एक खून करने वाला भी कहेगा मैं थोड़े ही मारता हूँ – ईश्वर मेरे द्वारा तुम्हें मरवाता है। चोर चोरी करके यह कहेगा कि मैं थोड़ी चोरी कर रहा हूँ ? मेरे द्वारा तुम्हारा धन चुराकर ईश्वर ही तुम्हें दुःखी कर रहा है। जो कुछ करता है वह सब ईश्वर ही करता है। मनुष्य तो ईश्वर के इशारे पर नाचने वाली कटपुतली मात्र है।

अच्छा उपरोक्त बात स्वीकारें, लेकिन खून–हिंसा चोरी का पाप भी ईश्वर को ही लगना चाहिए। चूंकि जब ईश्वर ही किसी के जरिये करवाता है। परन्तु यह तो स्वीकार्य नहीं है। ईश्वर भले ही करवाये परन्तु पाप तो मनुष्य को, करनेवाले को ही लगेगा। अरे...रे...! ईश्वर ने मनुष्य के पास करवाया और फिर भी ईश्वर को पाप नहीं लगता। क्यों नहीं लगता ! बस । इसका उत्तर इतना ही है कि वह ईश्वर है। जंगल में लूटेरा डाकू भी लूटते समय शेठ को कहेगा शेठ तुम्हारे को लूटकर धन लेकर दुःखी करने की आज्ञा मुझे ईश्वर ने दी है इसलिए मैं आया हूँ। मैं मेरी इच्छा से नहीं लूट रहा हूँ। सब कुछ ईश्वरेच्छा कर रही है। मैं जिम्मेदार नहीं हूँ ईश्वर जिम्मेदार है। इस तरह संसार में आतंक का साम्राज्य फैल जाएगा। फिर तो धर्म की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। तो फिर इतने धर्मग्रन्थ और धर्म गुरु रोज इतना उपदेश क्यों देते हैं ? सब निरर्थक है। निष्फल है। हमारे द्वारा कल ईश्वर क्या करवायेगा ? या हमें ही कल ईश्वर क्या करेगा ? क्या बनायेगा ? यही निश्चित नहीं है तो फिर हम धर्मादि भी करके क्या करें ? नहीं–नहीं हम करने वाले भी कौन होते हैं ? धर्म भी करवाना होगा तब ईश्वर करा देगा। इस तरह तो सभी अनन्त जीव निष्क्रिय हो जाएंगे। और तो ईश्वर कर्तृत्ववादी कहते ही हैं कि संसार निष्क्रिय है ईश्वर की इच्छा के आधीन ईश्वर की आँख के इशारे पर नाचने वाली कटपुतली मात्र है। शेर–सिंह, चीत्ता, वाघ भी मनुष्य

को फाड़कर खाएंगे और यही कहेंगे कि हम क्या करें? ईश्वर की इच्छा ही ऐसी थी। फिर मनुष्य को भी ईश्वरेच्छा को मान देना चाहिए। अर्थात् मौत के मुंह में जाने के लिए डरना नहीं चाहिए। लेकिन प्रत्यक्ष सिद्ध बात है कि मृत्यु से सभी डरते हैं। कोई भी मरने के लिए तैयार नहीं है। संसार की हालत बडी विचित्र बन जाएगी। एक ही ईश्वर और अनन्त जीवों की अवस्था कैसे कर पाएगा। आप कहेंगे हजार हाथ है ईश्वर के वह सर्वव्यापी है। सर्वव्यापी मानोगे तो अशरीरी मानना पडेगा। शरीरधारी तो सर्वव्यापी हो नहीं सकता और अशरीरी मानोगे तो सृष्टि की रचना कैसे करेगा? और यदि अशरीरी भी सृष्टि रचना कर सकता है ऐसा कहोगे तो सभी अशरीरी मुक्तात्मा भी सृष्टि करने लग जाएंगे। तो एक सृष्टि कर्ता ही नहीं अनेक सृष्टि कर्ता मानने की आपत्ति आएगी।

दूसरी तरफ जो राग-द्वेष ग्रस्त मनुष्य है उसमें इच्छा नहीं रहनी चाहिए। और इच्छा रहती भी है तो अपनी खुद की इच्छा तो मनुष्य के लिए कोई काम नहीं आएगी। क्योंकि मनुष्य की इच्छा तो चलती ही नहीं है जो कुछ चलती है वह सिर्फ ईश्वर की ही एकमात्र इच्छा चलती है दूसरी तरफ इच्छा रागस्वरूप है रागादि भाव कर्मजन्य है। मनुष्य कर्म युक्त है। वह कर्म युक्त संसार में कर्मोपार्जित इच्छा आदि से त्रस्त है। अनेक इच्छाओं से ऊब गया है। जबकि कर्म रहित है। कर्म नहीं, तो राग-द्वेषादि नहीं और राग-द्वेषादि नहीं तो इच्छा भी नहीं ठहर सकती । इच्छा नहीं तो सृष्टि नहीं,यह मानना पडेगा। अन्यथा ईश्वर में इच्छा मानों और रागादि कर्म को भी न मानों यह घर का न्याय कहां से चलेगा ? तो फिर ईश्वर को भी इच्छा के कारण रागादि युक्त, कर्म संयुक्त मानना पडेगा। और ऐसा मानने पर ईश्वरत्व ही चला जाएगा। वह हमारे जैसा सामान्य मनुष्य सिद्ध हो जाएगा। अरे...रे...! छोटे बच्चे पर हजार मण वजन उठाने की तरफ हिमालय जितनी कितनी आपत्तियां आएंगी। पार ही नहीं है।

कर्मफल दाता ईश्वर क्यों ?

पहले तो ईश्वर सृष्टि की रचना करे। फिर जीवों को स्व-इच्छानुसार प्रवृत्ति कराये। अच्छी-बुरी सभी प्रवृत्ति ईश्वर करावे। उसमें बेचारे जिस जीव ने खराब प्रवृत्ति की उसे पाप लगा। उस पाप कर्म का भागीदार कराने वाला ईश्वर भी नहीं बनता, सिर्फ जीव अकेला ही रहता है। अब उस जीव को ईश्वर पाप कर्म के फल के रूप में सजा देता है। उसे सजा देने के लिए नरक में भेजता है और वह नरक भी ईश्वर ने ही बनाई है। वहां नरक में उस को खूब मारता है, खूब दुःखी करता है। बेचारे जीव को मार-मार कर चटणी बना देता है। काट-काट कर टुकड़े कर देता है। पकोड़ी की तरह ऊबलते तेल की कढ़ाई में तलता है। इतना जब ईश्वर करता है तब

ईश्वर की दया–करुणा कहां गयी? तो क्या ईश्वर में से दया–करुणा चली भी जाती है? क्रूरता और निर्दयता आती भी है क्या ? चूंकि अनुग्रह–निग्रह दोनों ही कार्य ईश्वर करता है अतः दया–करुणा और क्रूरता–निर्दयता दोनों ही ईश्वर में मानने पड़ेंगे। और दोनों अवस्था के आधीन जब ईश्वर एक को स्वर्गीय सुख देने का और दुसरे को रौरव नरक में दुःख देने का काम करेगा, तब क्या ईश्वर को कोई पुण्य–पाप नहीं लगेगा? वाह भाई वाह! पुण्य–पाप जीव को लगता है और कराता है सब कुछ ईश्वर ! फिर फल देने की सत्ता भी ईश्वर के हाथों में ! फल देने का काम भी ईश्वर ही करता है। अरे.. रे.. इसकी अपेक्षा ईश्वर जीवों को कुछ भी कराए ही नहीं तो फिर अच्छे–बुरे का प्रश्न ही खड़ा नहीं होगा। तो फिर फल देने की नौबत ही नहीं आयेगी। अच्छा यही है कि हम यही पक्ष मानें। क्यों दयालु–करुणालु ईश्वर के हाथ निर्दयता और क्रूरता के रंग में खराब करते हो? क्यों ईश्वर के हाथ नरक में जीव को कटवाकर खून से लथपथ करते हो? अरे भाई ! ईश्वर को इतनी निम्न श्रेणी तक तो मत ले जाओ। ईश्वर को क्रूर नरकसंत्री, परमाधामी की तरह मत बना दो। बचाओ...बचाओ...! ईश्वर का स्वरूप बचाओ। बचाओ... बचाओ...! ईश्वर का स्वरूप विकृत होने से बचाओ। ईश्वर का स्वरूप गिरने से बचाओ। शायद हमें ऐसा ईश्वर बचाओ आन्दोलन करना पड़ेगा। ईश्वर को जेलर बनने से रोको। ईश्वर को कोड़े मारने वाला बनने से रोको। यदि फल देने का कार्य ईश्वर अपने हाथ में ले लेगा तो ईश्वर का एक स्वरूप या एकसा शुद्ध स्वरूप टिक ही नहीं पायेगा। फिर तो जज, न्यायाधीश, पोलीस, हंटर–कोड़े मारनेवालों को भी ईश्वर या ईश्वरावतार या ईश्वर स्वरूप ही मानना पड़ेगा। अरे.. रे.. ! ईश्वर को इतना निम्न स्तर पर ले जाने का पाप किस के सिर पर रहेगा?

ईश्वर में सर्वगतत्त्वादि भी सिद्ध नहीं होगा :–

सृष्टिकर्ता ईश्वर को सृष्टि निर्माणार्थ यदि सूक्ष्म शरीरी, या अशरीरी भी मानेंगे तो वह भी उपयुक्त नहीं होगा। या अदृश्य शरीरी भी मानेंगे तो भी उपयुक्त नहीं होगा। चूंकि अनंत कार्य निर्माणार्थ अनंत शरीर बनाये तो स्वशरीर बनाना ही सृष्टि हो जाएगी। फिर ईश्वर स्वशरीर बनायेगा कि अन्य सृष्टि बनायेगा? दूसरी तरफ यदि आप ईश्वर को सर्वगत–सर्वव्यापी मानते हैं तो किस तरह मानते हैं? शरीर से या ज्ञान से? एक शरीर से तो कोई भी शरीरधारी सर्वव्यापी हो नहीं सकता और होगा तो मनुष्यादि भी हो जायेंगे। चूंकि ये भी शरीरधारी हैं। अच्छा तो शरीर से ही ईश्वर सर्व लोक व्यापी–तीनों लोक व्यापी हो जायेगा। तो फिर दूसरे बनाने योग्य निर्मेय पदार्थों के लिए स्थान ही नहीं रहेगा तो बनायेगा कहां? यदि ईश्वर एक स्थान पर रहकर ज्ञान योग से सर्वव्यापी है ऐसा कहें तो हमारा सर्वज्ञ पक्ष सिद्ध होता है। परन्तु सर्वज्ञ वह है

जो स्थित पदार्थों को मात्र जानता है। सर्वदर्शी समस्त ब्रह्मांड के स्थित पदार्थों को देखता मात्र है परन्तु बनाता नहीं है। आप ज्ञान योग से सर्वज्ञ मानते जाओगे तो फिर ईश्वर सृष्टि बना नहीं सकेगा ! क्योंकि पहले सृष्टि बनाई कि पहले देखी या जानी? यदि पहले से ही ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वव्यापी, सर्वगत मानते हो तो फिर ईश्वर ने देखा ही क्या? जबकि बनाया कुछ भी नहीं है तो देखेगा कैसे? और यदि बनाकर बाद में देखने की बात आप स्वीकारते हैं तो ईश्वर में सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शीत्व-सर्वव्यापित्व स्वीकारना व्यर्थ है। दूसरी तरफ स्वीकारने पर वेद विरोध आएगा। वेद में ईश्वर को शरीर की अपेक्षा से सर्वव्यापी कहा है। श्रुति भी ऐसा कहती है कि ईश्वर सर्वत्र नेत्रों का, मुख का, हाथों का और पैरों का धारक है। इस तरह इधर बाघ और उधर नदी जैसी स्थिति खड़ी होती है।

सर्वगतत्व पक्ष भी सिद्ध नहीं हो सकता :-

दूसरी तरफ सशरीरी ईश्वर को सर्वगत-सर्वव्यापी मानें तो फिर कूड़े-करकट मल-मूत्र वाले स्थानों में तथा अशुचिपूर्ण-हाड-मांस-रक्त रुधिर की नदियां जहां बहती हैं ऐसी नरक पृथ्वीयों में भी ईश्वर को मानना पड़ेगा जो कि ईश्वरवादी को भी इष्ट नहीं होगा।

अच्छा यदि आप ईश्वर को ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत-सर्वव्यापी मानते हैं तो जैनों का अभिष्ट पक्ष आप स्वीकारते हैं। जैन भी १३ वें सयोगी केवली गुणस्थान पर आए हुए सर्वज्ञ केवलज्ञानी को एक स्थान पर बिराजमान रहते हुए भी और देहधारी होते हुए भी सर्वज्ञानी-सर्वदर्शी मानते हैं। एक स्थान पर स्थिर होकर भी समस्त-लोक-अलोक को अपने ज्ञान का विषय बना लेते हैं। अच्छा है आप भी हमारी तरह ही ईश्वर को ज्ञान से सर्वज्ञ-सर्वव्यापी-सर्वगत स्वीकार कर लीजिए। हमें आपत्ति नहीं है परन्तु आप को आपत्ति यह आएगी कि सर्वज्ञ सृष्टिकर्ता सिद्ध नहीं हो सकेगा। क्योंकि योगी, साधक, तपस्वी भी ज्ञानी होते हैं, ज्ञान प्राप्त करते हैं। परन्तु उन्हें अपने ज्ञान के आधार पर सृष्टि कर्ता नहीं माने जाते। जरूरी नहीं है कि जो ज्ञानी हो वह सृष्टि कर्ता या कर्तृशक्ति सम्पन्न हो ही यह संभव नहीं है। उसी तरह सर्वज्ञ और सृष्टिकर्तृत्व की व्याप्ति भी नहीं बैठेगी। जो जो सर्वज्ञ हो वह वह सृष्टिकर्ता हो ही ऐसा भी नहीं है। चूंकि जैनादि अभिष्ट सर्वज्ञ केवलज्ञानी वीतराग दशा को प्राप्त हो चुके हैं। कृतकृत्य हो चुके हैं वे सृष्टि सर्जन का कार्य नहीं करते। उसी तरह जो जो सृष्टिकर्ता सर्जनहार हो वह सर्वज्ञ होना ही चाहिए यह भी नियम नहीं बन सकता। चूंकि इन्द्रादि स्वर्गीय देवता भी संकल्प बल या इच्छा मात्र से इन्द्रजाल की रचना में बहुत कुछ रचना कर सकते हैं। नगर के नगर, जो देवताओं के द्वारा निर्माण किये जाते हैं। समवसरण आदि जो देवताओं के द्वारा निर्माण किये जाते हैं। शून्य स्थान में

भी क्षण मात्र में संकल्प बल से सारी नगर रचना करने वाले इन्द्रादि देवता सर्वज्ञ नहीं है। यदि आप ईश्वर को भी संकल्प बल से इच्छानुसार सृष्टि रचना करने में इन्द्रादि सदृश स्वीकार करोगे तो ईश्वर भी इन्द्र रूप में सिद्ध हो जाएगा। जबकि इन्द्र तो सिर्फ स्वर्ग का स्वामी है, और आप ईश्वर को त्रिभुवन का स्वामी मानना चाहते हैं। अतः सर्वज्ञ सृष्टि की रचना कर नहीं सकता। ज्ञान के साथ कर्तृत्व की व्याप्ति नहीं बैठती। हमारे में घट-पटादि पदार्थों का ज्ञान है परन्तु घट-पटादि पदार्थों का कृतिमत्व हमारे में नहीं है। अतः ज्ञान के साथ कृतिमत्व का रहना अनिवार्य नहीं है। अतः बलात् भी ईश्वर में ये दोनों साथ नहीं रह सकते।

यदि आप ऐसा मानते हो कि ईश्वर के सर्वज्ञत्व के बिना संसार की विचित्रता असंभव लगती है, तो यह भी ठीक नहीं है। आपने माना है कि विचित्रता विविध प्रकार की है, और ईश्वर को यदि वैसा वैविध्य अपनी सृष्टि में लाना है तो ईश्वर में ज्ञान का वैविध्य होना अनिवार्य है। जैसे एक कुशल रसोइया विविध प्रकार के व्यंजन, रसवती पदार्थों की जानकारी (ज्ञान) रखता है तो ही विविध प्रकार की मिठाई, व्यंजन आदि रसोई बना सकता है अन्यथा संभव नहीं है। ठीक वैसे ही ईश्वर भी सृष्टि में खूब वैविध्य और वैचित्र्य रखता है। विसदृशता खूब ज्यादा है तो ईश्वर में उन सबका ज्ञान होना आवश्यक है। अतः आप किसी भी तरह तोड़ मरोड़ कर भी सृष्टि कर्तृत्व को सिद्ध करने के हेतु से ईश्वर में सर्वज्ञता सिद्ध करने जाते हैं। यह भी उचित नहीं है। संसार की विचित्रता-विविधता-विषमता का कारण जीवों के अपने कृत कर्म ही स्वीकार कर लो तो फिर प्रश्न ही कहां रहा? उसी तरह संसारस्थ जड़ पदार्थों में भी मिश्रण संमिश्रण, विघटन से वैविध्य है यह स्वभावजन्य ही मान लो तो ईश्वर का स्वरूप तो विकृत होने से बच जाएगा। क्यों आप द्रविड प्राणायम करते हैं? संसार में त्रस-स्थावर विकलेन्द्रिय-सकलेन्द्रिय देव-नारक-तिर्यंच-मनुष्यादि विचित्रता तथा सुख-दुःखादि की विषमता स्वयं जीवों के द्वारा उपार्जित कर्मानुसार है यह स्वीकारने में बहुत ज्यादा सरलता है। अतः आप सर्वज्ञता से सृष्टि कर्तृत्व या सृष्टि कर्तृत्व से सर्वज्ञता सिद्ध करने का बालिश प्रयत्न न करें। चूंकि कोई एक दूसरे का अन्यथासिद्ध नियतपूर्ववर्ती शरण नहीं है। न ही ये जन्य जनक है। अन्यथा बुद्ध महावीरादि कई सर्वज्ञों को सृष्टिकर्ता स्वीकारना पड़ेगा, तो फिर ऐसे सर्वज्ञ कितने हुए हैं ? उत्तर में संख्या अनंत की है। तो क्या आप अनंत सर्वज्ञों को सृष्टिकर्ता मानेंगे ? तो फिर आपका एकत्व पक्ष चला जाएगा। अच्छा यदि हमारी तरह संसार को अनादि-अनंत और जड़-चेतन, संयोग-वियोगात्मक या जीव-कर्म संयोग-वियोगजन्य मान लो तो क्या तकलीफ है ? चूंकि अनादि संसार में जड़ और चेतन ये दो ही मूलभूत द्रव्य हैं। इन्हीं की सत्ता है। इन्हीं का अस्तित्व है। चेतन को ही जीव

कहते हैं। और जड़ का एक अंश कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु है। उन पुद्गल परमाणुओं वाली कार्मण वर्गणा को जीव राग-द्वेषादि कारण से अपने में खींचता है। उसे कर्म रूप में परिणत करता है। जैसे चुम्बक में चुम्बकीय शक्ति है। मूलभूत पड़ी ही है। चूंकि वस्तु अनंत धर्मात्मक है। उसी तरह चेतन आत्मा में भी रागादि भाव पदार्थ निमित्तक है। अतः वह आकर्षित करता है। उससे कार्मण वर्गणा आत्म संयोगी बनकर कर्म बनते हैं। जीव के साथ कर्म का संयोग-वियोग ही सृष्टि की वैचित्र्यता का सही कारण है ऐसा मानना उचित है।

दूसरी तरफ आप यदि ईश्वर को सृष्टि के वैचित्र्य का कारण मानोगे तो भी आवश्यक उपकरणों के रूप में जीव और कर्म का अस्तित्व प्रथम स्वीकारना ही पड़ेगा। क्योंकि आवश्यक उपकरणों के अभाव में ईश्वर सृष्टि की रचना कैसे कर सकेगा? जैसे एक कुम्हार घड़ा बनाता है तो मिट्टी,पानी,अग्नि,दण्ड,चक्र आदि आवश्यक उपकरण उपस्थित हो तो ही बना सकता है। यदि ये उपकरण न हो तो कुम्हार घड़ा कैसे बनाएगा ? साधन के बिना बनाए किससे ? एक रसोईया रसवती बनाने में काफी कुशल है। सारी जानकारी अच्छी है। परन्तु सामग्री के अभाव में अच्छी रसोई कैसे बना सकेगा? वैसे ही आपके कथनानुसार मान लिया कि ईश्वर सर्वज्ञ है। सृष्टि रचना एवं वैचित्र्यादि के निर्माण का पूरा ज्ञान ईश्वर को है। अतः वह सृष्टि निर्माण करने में समर्थ है। परन्तु हमारा यह पूछना है कि क्या समर्थ ईश्वर भी आवश्यक सामग्री के अभाव में भी सृष्टि निर्माण कर सकेगा? जो आवश्यक उपकरण चाहिए उसके बिना ईश्वर सृष्टि कैसे बना पाएगा? घड़ा बनाने के लिए जैसे मिट्टी, पानी आदि सामग्री की आवश्यकता है। रसोई बनाने के लिए अनाज-सब्जी-पानी-अग्नि आदि कई सामग्री की आवश्यकता है उसी तरह सृष्टि निर्माण करने के लिए ईश्वर को भी जीव-कर्मादि आवश्यक उपकरण या सामग्री की आवश्यकता पड़ेगी । जबकि जीव कर्मादि सामग्री के अभाव में ईश्वर सृष्टि रचना करे यह संभव नहीं है। यदि आप सामग्री के अभाव में सृष्टि मानते हो तो अनाज-पानी-अग्नि आदि सामग्री के अभाव में रसोई बनाकर बताइए, या मिट्टी-पानी आदि किसी भी सामग्री के बिना घड़ा बनाकर बताइये। इस तरह संसार में अनर्थ की परम्परा चल पड़ेगी। अच्छा, तो फिर कर्म फल देने में जीवों में कर्म का अस्तित्व क्यों माना है? क्यों ईश्वर किसी को कर्म का फल देते समय उस जीव के कर्मानुसार फल देता है ऐसा भी क्यों कहते हैं? फल देने के लिए कर्म भी आवश्यक सामग्री हो गई। यह तो आप खुद स्वीकार करके ही बोल रहे हैं। आपके शास्त्र कह रहे हैं कि - ईश्वर जीव के कर्मानुसार फल देता है। मतलब आपने ईश्वर निर्मित सृष्टि के लिए जीव और कर्म को अनुत्पन्न रूप से आवश्यक सामग्री मान ली है। और यदि नहीं मानते हैं तो ईश्वर का कृतिमत्व सामग्री

के अभाव में निरर्थक सिद्ध हो जाएगा। दूसरी तरफ सामग्री को स्वीकारते हैं तो भी ईश्वर का कृतिमत्त्व निरर्थक-निष्प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। चूंकि जो सामग्री या उपकरण के रूप में जीव-कर्म को स्वीकारते हो वे ही परस्पर संयोग-वियोग से संसार की विचित्रता का निर्माण कर लेते हैं। जीव स्वयं भी सक्रिय सचेतन द्रव्य है, फिर ईश्वर के कृतिमत्त्व की आवश्यकता ही कहाँ पड़ी? अतः जीव कर्म संयोग जन्य वैचित्र्य रूप संसार के लिए ईश्वर को कारण मानना युक्ति संगत भी नहीं लगता।

दूसरी तरफ ईश्वर ही जीवों के पास शुभाशुभ कर्म कराये और फिर वही उसके शुभाशुभ कर्म का फल देने वाला बने। सिर्फ अपने ईश्वरत्व-स्वामित्व की रक्षा के लिए फलदाता बने, यह द्रविड प्राणायाम क्यों करते हैं ? विष्टा में हाथ-पैर गंदा करके फिर गंगा में धोने के लिए काशी यात्रा करना यह कहां तक युक्ति संगत है?

दूसरी तरफ '**जीवो ब्रह्मैव नाऽपर.**' या '**जीवो ममैवांऽशः**' जीव ब्रह्म स्वरूप ही है कोई अलग नहीं है। या जीव मेरा ही अंश है अन्य नहीं है। यह कहने वाले भी जब सृष्टिकर्ता ईश्वर को फलदाता भी कहते हैं तो ईश्वर फल देगा किसको? जबकि उससे भिन्न तो जीव कोई है ही नहीं। अच्छा जब ईश्वरातिरिक्त जीव कोई है ही नहीं तो फिर कर्म किये किसने? करनेवाला ही नहीं है और फिर भी कर्म मानना और उसके आधार पर फल दाता ईश्वर है यह मानना अभाव पर भाव की परम्परा मानने जैसा है। या रस्सी को सर्प मानने का भ्रम ज्ञान है। तो क्या भ्रम ज्ञान और ब्रह्म ज्ञान में कोई अन्तर ही नहीं है? दूसरी तरफ ईश्वर को फलदाता मानकर भी अनुग्रह-निग्रह समर्थ भी मानना कहां तक सुसंगत है? तो फिर करुणावान दयालु गुण प्रधान ईश्वर सभी जीवों पर एक साथ अनुग्रह क्यों नहीं कर देता? यदि अनुग्रह नहीं करता है तो उसकी करुणा निरर्थक जाएगी। दूसरी तरफ दानवी सृष्टि असूर आदि भी ईश्वर द्वारा ही उत्पन्न हुए हैं ऐसा मानते हैं तो फिर ईश्वर ने उनका निग्रह क्यों नहीं किया? पहले दानवों को उत्पन्न करना और फिर निग्रह करना। फिर वही बात। विष्ठा में हाथ बिगाडो और धोने के लिए काशी गंगा जाओ। ईश्वर जब सर्वज्ञ थे, सर्व वेत्ता थे, सब कुछ जानते थे तो फिर ईश्वरवाद जगत् कर्तृत्ववाद न स्वीकारने वाले और इसका विरोध करने वाले हमारे जैसों का क्यों निर्माण किया है? क्या यह ईश्वर की भूल नहीं है? यदि आप ईश्वर की सृष्टि में भूल निकालते हैं तो ईश्वर की सर्वज्ञता चली जाएगी। फिर तो भूल करें वह भी भगवान और भगवान भी भूल करता है यह स्वीकारना पड़ेगा। या हम ऐसा कहेंगे कि हमारा क्या कसूर है? ईश्वर हमारे द्वारा ही यह विरोध करवा रहा है। हम तो निर्दोष हैं। कठपुतली की तरह हमको नचाता हुआ ईश्वर ही हमारे द्वारा यह करवाता है तो ईश्वर ही कारण ठहरेगा।

ईश्वर को कैसा माने- इस द्विधा में आप पड़े हैं। अब इस भंवर में से बाहर

कैसे निकलना यह एक समस्या है। जीव को माता की कुक्षी में शुक्र-शोणित ग्रहण कर पिंड बनाकर देह रूप में परिणत करने में कर्म ही कारण है। ईश्वर को न तो कारण मान सकते है और न ही सामग्री। अतः यह बात माननी ही पड़ेगी कि जीव कर्म रूप उपकरण के द्वारा ही देह का निर्माण करता है। अपना संसार जीव स्वयं ही बनाता है और चलाता है। इस तरह संसार में अनंत संसारी जीव कर्माधीन है। सभी कर्म संयोगवश अपना-अपना संसार निर्माण करते हैं और चलाते हैं। बस ईश्वर को कर्तृत्व, फलदाता आदि के रूप में बीच में स्वीकारने की आवश्यकता नहीं है। बलात् जब दस्ती करने पर ईश्वरस्वरूप विकृत होता है।

ईश्वरकर्तृत्व की निष्प्रयोजनता :-

निष्कर्म = कर्म रहित जीव शरीरादि नहीं बनाता है। चूंकि वह निश्चेष्ट है। जो आकाशादि के समान निश्चेष्ट हो वह आरम्भ कार्य में असमर्थ होता है। कर्म रहित जीव को सिद्धात्मा-मुक्तात्मा कहलाता है। वह निश्चेष्ठ निष्क्रिय है तथा वहां कर्म उपकरण भी नहीं है अतः देह निर्माण या संसार निर्माण कुछ भी संभव नहीं है। जहाँ कर्म उपकरण है वहीं संभव है।

अब यदि आप ईश्वर को सशरीरी मानकर कुम्हार की तरह सृष्टि का कर्ता मानते हो तो हमारा प्रश्न यह है कि ईश्वर ने अपने शरीर की रचना स्वयं बनाई या दूसरे के द्वारा ? दूसरे के द्वारा मानने पर अनवस्था दोष आएगा । यदि यह कहें कि ईश्वर ने स्व शरीर की रचना स्वयं की । तो यह बताइये कि ईश्वर ने स्व शरीर की रचना सकर्म होकर की या अकर्म होकर ? यदि कर्म रहित हो कर की कहेंगे तो आकाश भी कर सकता है। वह निष्कर्म है अथवा कर्म रहित ईश्वर सामग्री के अभाव में देह रचना कैसे कर सकता है? तो फिर सिद्धात्मा भी कर सकता है। यह मानोगे तो सिद्ध पुनः संसार में आ जाएगा । अतः उनका सिद्ध होना व्यर्थ सिद्ध होगा। इस तरह तो सिद्धत्व ही निरर्थक निष्प्रयोजन सिद्ध हो जाएग्रा तो कोई सिद्ध बनेगा ही नहीं ।

सिद्ध बनने के लिए पुरुषार्थ भी नही करेगा। पुरुषार्थ धर्म प्रधान है, वह भी नहीं करेगा। इस तरह सब कुछ निरर्थक-निष्प्रयोजन सिद्ध हो जाएगा । अच्छा, अकर्म ईश्वर की सामग्री के अभाव में स्व शरीर रचना ही असंभव है तो फिर सृष्टि रचना कैसे संभव हो सकती है? सकर्म मानते हैं तो सकर्मी तो मनुष्य भी है। पशु-पक्षी भी है। सकर्मी सशरीरी सभी हैं तो ईश्वर की मनुष्यादि से भिन्नता संभव नहीं है।

अच्छा, यदि ईश्वर बिना किसी प्रयोजन के जीवों के शरीरादि या सृष्टि की रचना करता है तो निष्प्रयोजन प्रवृत्ति उन्मत्त प्रवृत्ति कहलाती है। अतः ईश्वर को उन्मत्त मानने की आपत्ति आएगी। अच्छा यदि कोई प्रयोजन है तो वह ईश्वर क्यों कहलाएगा ? ईश्वर ही अनीश्वर सिद्ध होगा। यदि अनादि शुद्ध ईश्वर ही सृष्टि की रचना

करता है यह मानेंगे तो भी संभव नहीं है। कारण शुद्धि राग-द्वेषादि के अभाव में होती है। और रागादि के अभाव में इच्छा सिद्ध नहीं होगी। यदि इच्छा सिद्ध नहीं होती है तो इच्छा के अभाव में सृष्टि संभव नहीं है। अब क्या करेंगे ? इच्छा मानते हैं तो रागादि युक्त सकर्म ईश्वर मानना पड़ेगा और नहीं मानते हैं तो सृष्टि रचना में बाधा आएगी । 'इतो व्याघ्रस्ततो तटी' जैसी स्थिति से छूटना मुश्किल है। अतः ईश्वर के ऊपर सृष्टि कर्तृत्व का बोझ डालकर ईश्वर का स्वरूप विकृत करने का कुकर्म न करें इसी में हमारी सज्जनता है।

करुणा में दोष :-

बुद्धिमानों की प्रवृत्ति प्रयोजन अथवा करुणा बुद्धिपूर्वक ही होती है। अतः यहां प्रश्न होता है कि ईश्वर स्वार्थ से सृष्टि निर्माण में प्रवृत्त होता है या करुणावृत्ति से? स्वार्थ अथवा प्रयोजन मानें तो वह ईश्वर में कैसे घटेगी? चूंकि ईश्वर तो कृतकृत्य है। कृतकृत्य ईश्वर का प्रयोजन या स्वार्थ भी कैसे संभव हो सकता है? स्वार्थी कहना ईश्वर की ज्यादा विडंबना करने जैसी बात होगी। अच्छा यदि करुणा बुद्धि से माने तो भी संभव नहीं है। क्योंकि दुःखों को दूर करने की इच्छा को करुणा कहते हैं। यह करुणा की व्याख्या गलत तो नहीं है। जबकि सृष्टि रचना के पहले जीवों के इन्द्रियां, शरीर और विषयादि नहीं थे तो फिर जीवों के दुःख ही कहां था? और जब दुःख ही नहीं था तो फिर किस दुःख को दूर करने की करुणा ईश्वर में उत्पन्न हुई? फिर आप यह कैसे कह सकते हैं कि करुणा प्रेरक इच्छा से प्रेरित होकर ईश्वर ने सृष्टि बनाई?

अच्छा, यदि आप ऐसा कहो कि सृष्टि रचना करने के बाद दुःखी जीवों को देख कर ईश्वर में करुणा का भाव उत्पन्न हुआ, तो क्या यह इतरेतराश्रय दोष नहीं कहलाएगा? ईश्वर दुःखी जीवों को बनाए और फिर उन पर करुणा जगाए। उस करुणा से अनुग्रह करे। अरे भगवान्! ऐसी समुद्री प्रदक्षिणा से क्या लाभ? इसकी अपेक्षा तो आप सृष्टि निर्माण करने का पक्ष ही न स्वीकारो तो क्या आपत्ति है? करुणा से जगत् की रचना और जगत् रचना से पुनः करुणा ऐसा यदि दोषयुक्त भी मानोगे तो अंडे-मुर्गी की तरह यह क्रम सदा ही चलता रहेगा। इसका अन्त ही नहीं आएगा। करुणा से जगत्, जगत् से पुनः करुणा, पुनः करुणा से जगत् रचना, पुनः करुणा पुनः जगत्। इस तरह सदा की करुणा और सदा ही जगत् की रचना चलती ही रहेगी। अच्छा यह बात यदि आपको आपकी पक्ष पुष्टि की लगेभी सही परन्तु सदा ही करुणा और सदा ही जगत् रचना यदि चलती ही रहेगी तो ईश्वर संहार-प्रलय कब करेगा? या तो आपको दोनों में से एक पक्ष स्वीकारना पडेगा। परंतु सृष्टि ही नहीं बनी होगी तो संहार किसका करेगा ? सृष्टि की रचना ही सिद्ध नहीं हो रही है तो संहार-प्रलय की बात किसकी करें?

दूसरी तरफ सृष्टि सर्जन और संहार दोनों एक साथ स्वीकारें तो भी संभव नहीं है। कुम्हार घडे बनाता जाय और फोडता जाय? माँ बच्चे को जन्म देती जाये और फिर मारती जाय? फिर जन्म दे और फिर मार दे, तो निरर्थक प्रसव पीड़ा सहन करने का दुःख क्यों सर पर लेगी? उसी तरह दोनों स्वभाव साथ रखकर ईश्वर कार्य करे तो सृष्टि निर्माण और संहार दोनों एक साथ संभव भी कैसे हो सकता है ? सृष्टि रचना निरर्थक निष्प्रयोजन सिद्ध होगी। आप यदि यह कहें कि लीला-विलास मात्र के लिए ही ईश्वर ऐसा करता है - यह पक्ष स्वीकारते हैं तो फिर करुणा-अनुग्रह-निग्रहादि या सर्वज्ञत्व या सर्वशक्तिमानादि पक्ष निष्प्रयोजन सिद्ध होंगे। करुणा के रहने पर संहार मानना यह पानी में से आग निकालने के बराबर होगा। करुणा से संहार हो ही नहीं सकता है। तो क्या आप संहार-प्रलय के लिए दानवी-राक्षसी क्रूरता का अस्तित्व ईश्वर में मानेंगे ? यह तो ईश्वर का उपहास करने की चरम सीमा हो जाएगी। क्रूर-दानव-राक्षस भी कहना और ईश्वर भी कहना यह मूर्ख व्यक्ति भी नहीं स्वीकारेगा ।

अच्छा आप सृष्टि रचना और प्रलय कारक संहार दोनों ईश्वर के कार्य मानोगे तो ईश्वर में नित्यत्व सिद्ध नहीं होगा। अनित्यत्व आ जाएगा। अच्छा दोनों क्रिया के कर्ता भिन्न-भिन्न मानोगे तो आपका एकत्व पक्ष चला जाएगा। एक ईश्वर नहीं रहेगा। नाना ईश्वर मानोगे तो अनेकेश्वरवादी कहे जाओगे। यह तो पैर के नीचे की भी जमीन जा रही है।

क्या ईश्वर जिस स्वभाव से सृष्टि की रचना करता है। उसी स्वभाव से संहार करता है या भिन्न स्वभाव से? यदि ईश्वर को सदा एक ही स्वभाववाला मानोगे तो दो भिन्न भिन्न कार्यों की संभावना ही नहीं रहेगी। सृष्टि रचना और प्रलय दोनों ही ठीक एक दुसरे के सर्वथा विपरीत कार्य है। अतः एक ही स्वभाव से दोनों विरोधी कार्य हो नहीं सकते। तथा ईश्वर को एकान्त नित्य मानने पर सृष्टि की तरह बन नहीं पायेगा। यदि ईश्वर सृष्टि रचना तथा संहारादि अनेक कार्यों को करेगा तो वह अनित्य हो जायेगा। अनेक कार्य तो आप स्वीकारते हैं। सिर्फ एक सृष्टि रचना ही नहीं अपितु पालन और संहार भी आप ईश्वर के ही कार्य के रूप में स्वीकारते हैं तो फिर अनेक कार्य हुए, और अनेक कार्यों के कारण ईश्वर में अनित्यता आ जायेगी। अनेक कार्य और एकान्त नित्य दोनों परस्पर विरोधी है। यदि ईश्वर के स्वभाव में अनिश्चितता नहीं है तो सभी कार्य एक साथ ही हो जाएंगे तथा एक स्वभाव से अनेक कार्य संभव नहीं है। चूं कि कार्यानुरूप स्वभाव एवं स्वभावानुरूप कार्य होता है। स्वभाव भेद अनित्यता का लक्षण है। आप ही कहते है कि ईश्वर सृष्टि रचनामें रजोगुण, संहार में तमोगुण एवं स्थिति में सत्त्वगुण रूप से प्रवृति करता है। इस तरह अनेक अवस्थाओं

एवं स्वभावों के भेद एवं परिवर्तन से ईश्वर को एकान्त नित्य कैसे मान सकते हैं ?

मान लो कि ईश्वर नित्य है तो उसमें रही हुई इच्छा भी नित्य होगी। इच्छा नित्य है तो सृष्टि रचना का कार्य नित्य चलते ही रहना चाहिए। इच्छा ईश्वर को सदा काल प्रवृत्त करती ही रहेगी। दूसरी तरफ आप ईश्वर में बुद्धि-इच्छा-प्रयत्न-संख्या-परिणाम-पृथक्त्व-संयोग और विभाग नामक आठ गुणों को स्वीकारते हो। ईश्वर की नित्यता के साथ इच्छा की भी सदा नित्यता ईश्वर में स्वीकारें तो नाना कार्यों के आधार पर इच्छाएं भी भिन्न-भिन्न विषयक माननी पड़ेगी। चूं कि कार्य कई प्रकार के है। इस तरह ईश्वर की इच्छाओं के विषय होने से ईश्वर को भी अनित्य मानना पड़ेगा।

क्या ईश्वर को कर्ता या निमित्त कारंण मानें ?

यदि ईश्वर ने पृथ्वी-पानी-अग्नि-वायु के परमांणुओं से तथा अदृष्ट (पूर्वकृत कर्म संस्कार) को ध्यान में रखकर यदि जीवों के कल्याण हेतु इस जगत की सृष्टि का सर्जन कीया है और वह भी नित्य विद्यमान दिशा; काल और आकाश में की है तो फिर ईश्वर को अधिक निमित्त कारण (Efficient Cause) मान सकते हैं। परंतु सृष्टि कर्ता कहा नहीं जा सकता; क्यों कि न्यायवैशेषिक मतानुसार ईश्वर इस जगत को शून्य से उत्पन्न नहीं करता है। अच्छा इस तरह ईश्वर को निमित्त कारण मानें तो फिर ईश्वर जीवों की शुभाशुभ कार्य प्रवृत्ति में निमित्त नहीं बनेगा। चूं कि अदृष्ट ही जीवों के लिए कारण है। अपने पूर्वकृत कर्म संस्कार रूप अदृष्ट के लिए जीव स्वयं उत्तरदायी है ईश्वर नहीं। इस तरह जीव स्वयं अपने शुभाशुभ का कर्ता है तो उसे ही भोक्ता भी मानना ही पडेगा। कालानुसार वह जीव उस अदृष्ट (कर्म) के फल को भोगेगा। अतः ईश्वर का जीवों के शुभाशुभ कर्म एवं फल के विषय में हस्तक्षेप फिर नहीं रहेगा। अतः ईश्वर न तो सृष्टि कर्ता और न ही कर्म फल दाता सिद्ध होता है।

शुद्ध परमेश्वर-स्वरूप :-

इतनी सुदीर्घ एवं सुविस्तृत तर्क युक्ति पुरस्सर चर्चा से यह निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर कोई ऐसी सत्ता नहीं है जो सृष्टि की रचना करता है, प्रलय-संहारादि करता है-यह किसी भी रूप में सिद्ध हो नहीं सकता है। उसी तरह ईश्वर कर्म फलदाता के रूप में भी सिद्ध नहीं होता है। उसी तरह ऐसे ईश्वर के विषय में दिये गए विशेषण जगत का कर्ता, एक ही है, वही नित्य है, सर्वव्यापी तथा स्वतंत्र है। ये कोई विशेषण भी सिद्ध नहीं होते। इन विशेषणों से परस्पर विरोधाभास खडा होता है। जैसे तराजु में चूहों को तौलना कठिन है वैसे ही इन विशेषणों को तर्क युक्ति की तुला में बैठाना कठिन है, असंभव सा है। एक सिद्ध करने जाओ तो दूसरा टूटता है। दूसरे सिद्ध करने जाओ तो तीसरा प्रसिद्ध होता है। इस तरह यह चर्चा तो काफी लम्बी-

चौडी है। परन्तु मूल में ही जो सृष्टि कर्तृत्व माना है वही सिद्ध नहीं हो सकता है तो दूसरी बातें उसी के आधार पर सिद्ध नहीं होती है।

अतः निरीश्वरवादी जैनों का कहना है कि बलात् ईश्वर पर कर्ता-नित्य-एकादि विशेषण बैठाने से दोष आता है और ये विशेषण शोभास्पद नहीं ठहरते, अपितु ईश्वर की विडंबना करते हैं। योग्य आभुषणों को स्वरूपवान स्त्री भी यदि सुयोग्य स्थान पर नहीं पहनती है,तो वह भी हास्यास्पद बनती है। उसी तरह ईश्वर में जो सृष्टि कर्तृत्व-फल दातृत्व आदि सिद्ध होते ही नहीं है उनको जबरदस्ती ईश्वर पर बैठाने से ईश्वर का स्वरूप हास्यास्पद-विकृत सिद्ध होता है। फिर ऐसे विकृत स्वरूप वाले ईश्वर की हम उपासना, भक्ति,नामस्मरण,ध्यानादि कैसे करें? पत्नी को दुराचारिणी दुश्चरित्र देखकर फिर उसके प्रति प्रेम कैसे उत्पन्न होगा? इसी तरह विडंबना युक्त हास्यास्पद विकृत स्वरूप ईश्वर का देखते हुए उसके प्रति आदर, पूज्य-भाव, भक्ति-भाव कैसे उत्पन्न होंगे? संभव ही नहीं है।

अतः ईश्वर को पूर्ण शुद्ध स्वरूप में स्वीकारना अनिवार्य है। उसे सृष्टिकर्ता संहारकर्ता न मानकर सर्व कर्ममुक्त, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, राग-द्वेष रहित-वीतराग, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त मानना जरूरी है। मोक्षमार्ग का उपदेष्टा मानना चाहिए। आत्मा का ही पूर्ण शुद्ध स्वरूप है। विद्यानंदी ने यही कहा है

मोक्ष मार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्म भूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्व तत्त्वानां, तीर्थेशं स्मृतिमानये ।।

जो मोक्षमार्ग दिखाने वाले हैं, गन्तव्य मोक्ष तक ले जाने में सहायक आलम्बन है, कर्मों के पर्वतों को जिसने तोड़ दिये हैं, तथा जो समस्त विश्व के सभी तत्त्वों-पदार्थों के ज्ञाता सर्वज्ञ है ऐसे तीर्थेश-तीर्थंकर का मैं स्मृति पटल में स्मरण करता हुँ। बात यही सही है। जो अरिहंत हो वही भगवान कहलाने योग्य है। परन्तु जो भगवान हो वह अरिहंत नहीं भी कहला सकते हैं। चूंकि अरिहंत अरि = काम क्रोधादि शत्रु (काम-क्रोध-मान-माया-लोभ-राग-द्वेषादि), हंत = नाश अर्थात् जिन्होंने राग - द्वेषादि आत्म शत्रुओं का नाश-(क्षय) किया है ऐसे अरिहंत ही भगवान-ईश्वर कहलाने योग्य है।

ईश्वर ही नहीं परमेश्वर वे ही कहे जाएंगे। परम+ईश्वर = परमेश्वर। परम+आत्मा = परमात्मा। अतः जैन निरीश्वरवादी नहीं, परमेश्वरवादी हैं। सृष्टि-कर्ता ईश्वर को जैन नहीं स्वीकारते हैं, इस अपेक्षा से जैनों को निरीश्वरवादी कहना उचित है। परन्तु साथ ही साथ परम शुद्ध आत्मा को परमेश्वर कहते हुए जैनों को परमेश्वरवादी भी कहना होगा। परमोच्च-परम शुद्ध-पूर्ण वीतराग को परमेश्वर मानने वाले जैनों ने प्रभु के स्वरूप में हास्यास्पदता या विकृति खड़ी नहीं की। अतः भक्ति उपासना में सदा ही

परमात्मभक्ति करनेवाले जैनों को नास्तिक कहना भी मूर्खता होगी।

जैन दर्शन अवतारवाद भी नहीं स्वीकारता है। मुक्तात्मा मोक्ष से लौटकर संसार में नहीं आती। अपूर्ण पूर्ण बनता है। रागी-वितरागी बनता है। अशुद्ध-शुद्ध बनता है। उसी तरह संसारी सिद्ध बनता है। बुद्ध-मुक्त बनता है। इसका उल्टा नहीं होता। अतः सर्व कर्म बंधनों से मुक्त सिद्धात्मा पुनः संसार में नहीं आती, पुनः जन्म नहीं लेती। उन्हें न तो लीला करनी है, न ही अनुग्रह-निग्रह करना है, न ही सृष्टि रचनी है,न ही पालन करना है, न ही प्रलय करना है, न ही कर्म फल देना है। इन सब विडंबनाओं से ऊपर ऊठे हुए वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त-कृतकृत्य-धन्य हो चुके हैं। अतः न तो वहां कर्म बंध है, और कर्म बंध न होने से पुनरागमन भी नहीं है। चूंकि नीचे पतन या संसार में पुनरागमन तो कर्मजन्य है, और वहां मोक्ष में कर्म बंधादि का अभाव है। फिर अधः पतन संभव ही नहीं है। ऊपर से नीचे नहीं आते, मोक्ष से पुनः संसार में नहीं आते हैं। अतः अवतारवाद (उतरना) नहीं स्वीकारा गया है। अतः संसार से एक नहीं, अनेक नहीं, अनन्तात्मा मोक्ष में जाती है। गई है, जो भी सर्वकर्म क्षय करे वह मोक्ष में जाती है। सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनती है। अतः जैन दर्शन अनंतात्मवादी है। अतः अनंत सिद्धात्मवादी है। परमात्म स्वरूप शुद्ध स्वरूप प्राप्त करे वह परमात्मा बनती है। इसलिए परम पद को कोई भी पामर प्राप्त कर सकता है। पामर ही परम बनता है, बन सकता है। सिर्फ उसे कर्मक्षय करते हुए उन गुणस्थानों से होते हुए गुजरना पडेगा। राग-द्वेषादि का क्षय हो जाएगा और सर्वज्ञता-वीतरागता प्रगट हो जाएगी, फिर सवाल ही कहां रहा? पूर्ण परमात्मा बन गये।

ऐसे परमात्मा बनने के लिए पूर्व में बने हुए परमात्मा का आलम्बन लेना, उनकी स्तुति-स्तवना करना, उनकी प्रतिमा समक्ष दर्शन-वंदन-पूजन-पूजा करना उसी पद को पाने का आलम्बन है, भक्ति मार्ग है। अतः पूजा-भक्ति यह उपासना मार्ग है। जाप-नामस्मरण-ध्यान-साधना आदि कई प्रकार उपास्य की उपासना के हैं, एक भी गलत नहीं है। दर्शन-पूजा-पूजन आदि को गलत कहना भी गलती है, भूल है। यही मार्ग है भक्ति का-जिससे भक्त भगवान बन सकता है। स्वयं परमात्मा ने पामरता को यह मार्ग दिखाते हुए परमात्मा बनने का तरीका बताया है।

इस दृष्टि से सिर्फ कर्ता के स्वरूप में ईश्वर को न मानते हुए जैन शुद्ध पूर्ण परमेश्वर परमात्मा-अरिहंत-वीतराग-तीर्थंकर-सर्वज्ञ को भगवान - ईश्वर मानते है।ईश्वर ही नहीं परमेश्वर मानने वाले जैनों को परमेश्वरवादी, परमात्मवादी, सर्वज्ञात्मकवादी, वीतरागवादी, सिद्धात्मवादी, आदि शब्दों से नवाजना उचित होगा। सिर्फ निरीश्वरवादी कहकर नास्तिक कहने की धृष्टता करने के बजाय पूर्ण परमात्मवादी, पूर्ण परमेश्वरवादी, कहना पडेगा। इतना ही नहीं सिर्फ आस्तिक ही

नहीं जैनों को परमास्तिक कहना पडेगा। परमात्म भक्ति के उदाहरण के रूप में आज भी हजारों लाखों मंदिर जो लाखों वर्षों से विद्यमान हैं। इतने बडे तीर्थ और जिन मंदिरादि ही जैनों की परमास्तिकता-परमभक्ति की गौरव गाथा सदियों से गा रहे हैं। सदियों से पूजा हो रही है।

इस तरह जैन दर्शन ईश्वर कर्तृत्ववादी दर्शन नहीं है। अवतारवादी भी नहीं है। एकेश्वरीवादी भी नहीं है, नित्य ईश्वरवादी भी नहीं है, तो ऐसी मान्यतावाले हिन्दु धर्म की शाखा भी कैसे हो सकता है ? नीम के वृक्ष की एक शाखा मीठी कैसे हो सकती है? आम्र वृक्ष की शाखा को नीम के वृक्ष की शाखा कैसे सकते हैं? जैन दर्शन की मौलिक मान्यता, एवं सिद्धान्त की धारा हिन्दु विचार धारा से सर्वथा विपरीत ही है। दोनों में पूर्व-पश्चिम का या आसमान जमीन का अन्तर है तो फिर शाखा मानने का सवाल ही कहां उत्पन्न होता है? हिन्दु धर्म में से जैन धर्म निकला है, यह कहना भी नितांत तर्क युक्ति रहित है। अतः जैन दर्शन हिन्दु धर्म की शाखा नहीं है। न ही इसमें से निकला है। यह एक स्वतंत्र मौलिक दर्शन है। स्वतंत्र धर्म है।

अतः परमेश्वर-परमात्मा का शुद्ध स्वरूप समझने के लिए यह तर्क युक्ति पूर्वक सुदीर्घ विस्तृत चर्चा की है। जिससे संसार एवं स्वयं के सुख-दुःख के हर्ता, जगत कर्ता ईश्वर है या नहीं यह पता चल सके। अब एक पक्ष को विविध पासों में देख लिया कि ईश्वर इस संसार की यह विचित्रता, विषमता एवं विविधता तथा जीवों के सुख-दुःख का तथा कर्म फल का कारण नहीं है। यह स्पष्ट एवं निर्णय होने के बाद अन्य कारण कालादि हो सकते हैं या नहीं इसके बारे में फिर आगे सोचेंगे एक पक्ष में निर्णय हुआ अन्य निर्णय आगे देखेंगे।

।। इति शुभं भवतु ।।

कर्म सत्ता का अस्तित्व

ईश्वरवाद की चर्चा कर चुके हैं इससे यह फलित हुआ कि ईश्वर न तो सृष्टि का कर्ता सिद्ध हो सकता है और न ही ईश्वर जीवों के कर्म का कर्ता व कर्म फलदाता भी सिद्ध हो सकता है। तो फिर संसार की विचित्रता, विविधता एवं विषमता आदि का कारण कौन हो सकता है ? जीवों के सुख-दुःख का कारण कौन हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में दार्शनिकों ने काल-स्वभाव-नियति-पूर्वकृत कर्म-पुरूषार्थ एवं यदृच्छा व अज्ञानादि अन्य कई कारणों पर विचार विमर्श किया है । उसकी संक्षेप में यहां विचारणा करें ।

पांच कारणवाद :-

कालादि की कारणता :-

कालादीनां च कर्तृत्वं, मन्यन्तेऽन्ये प्रवादिनः।
केवलानां तदन्ये तु, मिथः सामग्रयपेक्षया ॥

शास्त्रवार्ता समुच्चय महाग्रंथ में तार्किक शिरोमणि पूज्य हरिभद्र सूरि महाराज ने द्वितीय स्तबक में कालादि की चर्चा करते हुए लिखा है कि कुछ एकान्तवादी विचारक एक मात्र काल या स्वभावादि को ही कार्य का हेतु मानते हैं। अर्थात् संसार की विचित्रता आदि तथा जीवों के सुख-दुःखादि में कारण रूप से काल-स्वभाव-नियति-पूर्वकृत कर्मादि भिन्न-भिन्न को कारण मानते हैं । यह निरपेक्ष एकान्तवादी विचारधारा है। इससे भिन्न अनेकान्तवादी साक्षेपदृष्टि से कालादि को सापेक्ष रूप से सहकारी-सहयोगी कारण मानते हैं। कारण समूह-सामग्री के घटक रूप में सहकारी होकर कार्य के कारण होते हैं। व्यक्तिगत किसी भी एक को ही सम्पूर्ण कारण नहीं मान सकते। सिर्फ एकान्त पक्ष लेकर कालवादी, स्वभाववादी, नियतिवादी आदि दार्शनिक विचारधाराओं का स्वतंत्र पक्ष क्या है? उसकी संक्षेप में थोड़ी समीक्षा यहां देखें।

कालवाद :-

कालः पचति भूतानि, कालः, संहरति प्रजा ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो ही दुरतिक्रमः ॥

सिर्फ काल को मानकर चलने वाले एकान्त कालवादीयों का कहना है कि-काल ही उत्पन्न पदार्थों का पाक करता है । काल पृथ्वी-अग्नि-वायु आदि भूतों को पकाता है । काल ही प्रजा का संहार करता है । काल ही सोये हुए को जगाता है

। सृष्टि निर्माण भी काल ही करता है । योग्य काल में ही गर्भ परिपक्व होता है । गर्भ निर्माण में भी काल कारण है । मुंग की दाल सिगड़ी पर रखने मात्र से ही नहीं पकती अपितु योग्य काल अपेक्षित है । इस तरह सृष्टि-स्थिति और प्रलय आदि की कारणता काल में ही है । अतः काल का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता । यह कालवादियों का पक्ष है । अथर्ववेद कालसूक्त में कहा है कि- 'काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया, काल के आधार पर सूर्य तपता है, काल के आधार पर ही समस्त भूत रहते हैं, काल के कारण ही आंखे देखती है, काल ही ईश्वर है, वह प्रजापति का भी पिता है । इत्यादि कहा है। (अथर्ववेद १९५३-५४) अतः सृष्टि का मुख्य कारण ईश्वर के स्थान पर काल को मानने का सिद्धान्त रखा है। महाभारत में भी समस्त जीव-सृष्टि के सुख-दुःख एवं जन्म-मरणादि सब का आधार कर्म को कारण माना गया है । यहां तक कह दिया है कि कर्म, यज्ञ-यागादि अथवा किसी के भी द्वारा किसी को सुख-दुःख नहीं मिलता सिर्फ काल द्वारा ही प्राप्त होता है । समस्त कार्यों में काल ही कारण रूप है । यह कालवादी पक्ष है ।

लेकिन एकान्त काल को ही समस्त कार्यों का कारण मानना भी उचित नहीं है । युक्ति संगत सिद्ध नहीं होगा। चूंकि काल जड़ तत्त्व है। अजीव पदार्थ है। अस्तिकाय रूप भी नहीं है। दूसरी तरफ एक काल में एक पदार्थ की उत्पत्ति मानोगे, उसी समय आपको समस्त पदार्थों की उत्पत्ति मान लेनी पड़ेगी। क्योंकि काल जो एक में है वही सभी में सम्मिहित है। काल को आकाश की तरह सर्वत्र सर्व व्यापी मानना पड़ेगा। सभी जीवों की उत्पत्ति आदि सभी एक साथ ही माननी पड़ेगी। चूंकि काल का आधार तो सबको मिला है। दूसरी तरफ सब कुछ काल से ही होता तो गर्भ के लिए माता-पिता के शुक्र-शोणित आदि की आवश्यकता भी नहीं पड़ती और काल से ही सभी जीवादि सृष्टि उत्पन्न हो जाती। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। गर्भ के मूल कारण रूप में माता-पिता को स्वीकारना पड़ता है। हां, काल गर्भ की परिपक्वता में सहायक-अपेक्षित कारण जरूर है। अतः कालवादी का एकान्त काल पक्ष सुसंगत नहीं ठहरता। काल सभी कार्यों का असाधारण नियतपूर्ववर्ति कारण नहीं ठहरता। फिर तो कुम्हार मिट्टी-पानी-चक्र-दण्ड से घड़ा क्यों बनाता है ? काल से ही घड़ा बनाना चाहिए । लेकिन नहीं यह भी प्रत्यक्ष विरुद्ध है । अतः काल को उपयोगी-सहयोगी कारण जरूर मान सकते हैं परन्तु जनक कारण नहीं मान सकते।

स्वभाववाद :-

न स्वभावातिरेकेण, गर्भ-बाल शुभादिकम् ।
यत्किञ्चिज्जायते लोके, तदसौ कारणं किल ।।
सर्वे भावाः स्वभावेन, स्व-स्वभावे तथा तथा।

वर्तन्तेऽथ निवर्तन्ते, कामचारपराङ्मुखा ।।

दूसरे पक्ष में स्वभाववादी आ रहे हैं। स्वभाववादी कहते हैं कि–गर्भ, बालक, शुभ, स्वर्ग आदि जो भी कोई कार्य संसार में होता है वह सब स्वभाव के कारण ही होता है। बिना स्वभाव के कुछ भी नहीं होता। सभी भाव कार्य अपने अपने स्वभाव में अवस्थित होते हैं। भावों (पदार्थो) का नाश भी उनके स्वभाव से ही नियत–देशकाल में ही होता है, क्योंकि वे पदार्थ इच्छानुसार स्वतंत्र न होकर अपने स्वभाव के प्रति परतंत्र होते हैं। मूंग का पाक भी सिर्फ काल से ही नहीं होता। क्योंकि अश्वमाष–पथरिले उडिद या पथरिले (कोरडा) मूंग घण्टों या दिनों तक भी सिगड़ी पर गरम पानी में उबलते रहें तो भी उसमें पाक नहीं आता है। अतः काल नहीं स्वभाव प्रमुख कारण है। श्वेताश्वेतर उपनिषद में स्वभाववाद का उल्लेख है। वहां तो यहां तक लिखा है कि–जो कुछ होता है वह स्वभाव से ही होता है। स्वभाव के अतिरिक्त कर्म या ईश्वरादि कोई कारण नहीं है। बुध्द चरित एवं गीता, महाभारत में स्वभाववाद का उल्लेख है। दूसरे गणधर अग्निभूति ने भी कर्म की शंका के विषय में भगवान महावीरस्वामी से चर्चा करते समय स्वभाववाद की चर्चा की है। वे भी स्वभाव को ही प्रमुख कारण मानने के पक्ष की बात करते थे, तब प्रभु ने कहा– स्वभाव से जगद्–वैचित्र्य मानना अयुक्त है। चूंकी–स्वभाव क्या है? क्या स्वभाव वस्तु विशेष है? या वस्तु धर्म है? स्वभाव को वस्तु भी नहीं कह सकते। वह द्रव्य स्वरूप में दिखाई भी नहीं देती। स्वभाव मूर्त है या अमूर्त? यदि मूर्त मानोगे तो स्वभाव कर्म के जैसा ही है। फिर तो कर्म का दूसरा नाम स्वभाव हो जाएगा। यदि अमूर्त मानोगे तो स्वभाव किसी का भी कर्ता सिध्द नहीं होगा। जैसे आकाश अमूर्त है तथा कर्ता नहीं है वैसे ही स्वभाव भी अमूर्त होगा तो कर्ता नहीं होगा। शरीरादि मूर्त पदार्थों का कारण भी मूर्त ही होना चाहिए। अतः स्वभाव भी कर्ता नहीं हो सकता। अच्छा, यदि स्वभाव को वस्तु धर्म मान लो। अर्थात् स्वभाव सिर्फ आत्मा का धर्म मानें तो वह भी अमूर्त धर्म सिध्द होगा। अमूर्त से मूर्त शरीरादि कैसे उत्पन्न होंगे? यदि स्वभाव को अमूर्त वस्तु का धर्म माना जाय तो ठीक ही है। वह कर्म के पुद्गल पर्याय विशेष रूप में हुआ। इस तरह स्वभाव कर्म के रूप में सिध्द हो जाएगा। अतः कर्म से कुछ नहीं होता सब कुछ स्वभाव से ही होता है यह पक्ष भी न्यायसंगत सिध्द नहीं होता है। अतः केवल स्वभाववाद पक्ष भी जगद् वैचित्र्य का कारण सिद्ध नहीं हो सकता।

नियतिवाद :–

नियतेनैव रुपेण सर्वे, भावा भवन्ति यत् ।
ततो नियतिजा ह्येते, तत्स्वरूपानुवेधतः ।।

कालवादी, स्वभाववादी के बाद तीसरे क्रम पर नियतिवादी दार्शनिक आए। एकान्त नियतिवाद को मानने वाले नियतिवादियों का कहना है कि – सभी पदार्थ नियतरूप से ही उत्पन्न होते हैं। नियतरूप का अर्थ है – वस्तु का वह असाधारण धर्म जो उसके सजातीय और विजातीय वस्तुओं से व्यावृत्त होता है। सभी पदार्थ किसी ऐसे तत्त्व से उत्पन्न होते हैं जिससे उत्पन्न होने वाले पदार्थों में नियतरूपता का नियमन होता है, पदार्थों के कारण भूत उस तत्त्व का ही नाम 'नियति' है। उत्पन्न होने वाले पदार्थों में नियति मूलक घटनाओं का ही सम्बन्ध होता है। इसलिये भी सभी को नियतिजन्य मानना आवश्यक है। उदाहरण के रूप में कहते हैं कि – तीक्ष्ण शस्त्र का प्रहार होने पर सभी नहीं मरते परन्तु कुछ ही मरते हैं, कई जीवित रहते हैं। एक ही औषधि के सेवन से नियत लोग ही अच्छे होते हैं, कई अनेक मरते हैं। अतः प्राणियों का जन्म–मरण नियति पर नियत है, निर्भर है। जिसका मरण जब नियति सम्मत होता है तभी वह मरता है, अन्यथा नहीं। जिसका जीवन जब नियति सम्मत रहता है तब वह जीवित रहता है। मृत्यु का प्रसङ्ग आने पर भी वह नहीं मरता। यह नियतिवादी का प्रतिपादन है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इसका उल्लेख है। नियतिवादी कहते हैं कि संसार में सब कुद निश्चित प्रकार से नियत है, और नियत रहेगा। सभी जीव नियति के चक्र में फंसे हुए हैं। इस चक्र में परिवर्तन करने की जीव की शक्ति नहीं है। नियति एक चक्र है जो सतत घूमता रहता है। जीवों को नियत क्रमशः इधर–उधर घूमाता रहता है।

तथागत बुद्ध के सामने पूरण काश्यप नियतिवाद का समर्थन करता था। ऐसा त्रिपिटक में उल्लेख है। भगवान महावीरस्वामी के सामने मंखली गोशालक नियतिवाद का समर्थक था। महावीर प्रभु ने अपने काल में अनेक विख्यात नियतिवादियों के मत में परिवर्तन कराया है ऐसा उपासकदशाङ्ग सूत्र के अध्ययन ७ में उल्लेख है। धीरे–धीरे आजीवकमत जैन परम्परा में सम्मिलित होकर लुप्त हो गया। श्री भगवतीसूत्र में तथा श्री सूत्रकृतांग आगम में नियतिवाद का वर्णन किया गया है। अक्रियावाद भी नियतिवाद से मिलता–जुलता है। नियतिवाद की मुख्य घोषणा यह है कि–

प्राप्तव्यो नियति बलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा ।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाऽभाव्यं भवति न भावीनोऽस्ति नाशः ॥

अर्थात्–जो कार्य जिस कारण से जिस रूप में उत्पन्न होने का नियति से निर्दिष्ट होता है वह उस समय उसी कारण से उसी रूप में उत्पन्न होता है। अभावि हो नहीं सकता और भावि टल नहीं सकता, अर्थात् जो वस्तु जिससे नहीं होने वाली है वह बहुत प्रयत्न करने पर भी उससे नहीं होती, और जो होने वाली होती है उसका

कभी नाश याने विघटन नहीं हो सकता। इस तरह नियति-वाद की पुष्टि की गई है। सब कुछ ठीक लेकिन निरपेक्ष वृत्ति से एक मात्र नियति को ही कारण मानने से भी नहीं चलेगा। चूंकि नियति सत्ता का अस्तित्व किस स्वरूप में है? क्या यह वस्तु विशेष है या वस्तु धर्म? क्या यह मूर्त है या अमूर्त? क्या यह दृश्यमान कर्ता है या अकर्ता? क्या यह सिर्फ काल है या अकाल? नियतिः स्वतः स्वतंत्र सत्ता है या परतंत्र-पराधीन है? ऐसे कई प्रश्न खड़े होते हैं। अतः नियति सर्वथा नहीं है ऐसी भी बात नहीं है। परंतु सिर्फ नियतिवाद को ही एक स्वतंत्र कारण मानकर चलना संभव नहीं है। अन्य कोई कारण न स्वीकारें और एक मात्र नियति ही समस्त संसार का कारण है या जीवों के सुख-दुःखादि का कारण है यह कहना भी युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होगा।

पूर्वकृत-कर्मवाद :-

न भोक्तृव्यतिरेकेण, भोग्यं जगति विद्यते ।
न चाकृतस्य भोक्ता, स्यान्मुक्तानां भोगभावतः ।।
भोग्यं च विश्वं सत्त्वानां, विधिना तेन तेन यत् ।
दृश्यतेऽध्यक्षमेवेदं तस्मात्, तत् कर्मज हि तत् ।।

चौथे पक्षवाले-पूर्वकृत कर्मवादी है, वे कर्मवादी कहते हैं कि इस चराचरात्मक जगत् में भोग्य की सत्ता भोक्ता की सत्ता पर ही निर्भर है, क्योंकि भोग्य यह सम्बन्धी सापेक्ष पदार्थ है। अतः भोक्तारूप संबंधी के अभाव में उसका अस्तित्व ही नहीं हो सकता । भोक्ता भी अकृत कर्म का भोग नहीं कर सकता क्योंकि जो जिसके व्यापार से उत्पन्न होता है वही उसका भोग्य होता है । यदि अकृत कर्म का भी भोग मानेंगे तो मोक्ष में बिराजमान मुक्तात्मा में भी भोग की आपत्ति आएगी। अतः जगत् भोक्ता के कर्मों से ही उत्पन्न होता है। सृष्टि की कारणता जीव-कर्मों में ही है। अन्य सभी कारण व्यभिचरित है यही सुसंगत सिद्ध होता है। अतः जीवों का पूर्वोपार्जित कर्म ही सुख-दुःखादि का कारणभूत है। इस तरह पूर्वकृत या पूर्वोपार्जित कर्म को कारणरूप में स्वीकार किया गया है।

पूरुषार्थवाद :-

सन्मतितर्क महाग्रन्थ में वादीमतंगज सिद्धसेन दिवाकरसूरि महाराज ने पांचवे पक्ष में पुरुषार्थवाद की चर्चा करते हुए "**पुरिसकारणेगंता**" शब्द से '**पुरुष कारण विशेष**' की मान्यता का समर्थन किया है। कई लोग काल-स्वभाव नियति-पूर्वोपार्जित कर्म आदि तथा ईश्वरादि कोई कारण न स्वीकारते हुए एकमात्र पुरूषार्थवाद का ही पक्ष मानते हैं। ये सब कुछ नहीं है। पुरुष अपने प्रयत्न विशेष से

जो करता है वही होता है। सबका आधार एक मात्र कर्ता के ऊपर निर्भर करता है। अतः एक मात्र पुरुष कृति ही समर्थ कारण है। पूर्व कर्म में है तो क्या हुआ? हम तो ऐसा नहीं ऐसा करेंगे। अतः हमारा पुरुषार्थ कारण बनेगा। क्या जरूर है कि हम दैववाद (भाग्य) या कर्म या ईश्वर को कारण मानें? कोई आवश्यकता नहीं है। ईश्वरादि तथा पूर्वकृतकर्मादि सभी अदृष्ट-अदृश्य अप्रत्यक्ष कारण है,अतः वे सभी संदेहात्मक-संशयात्मक है। एक मात्र पुरुषकृतित्व कारण ही दृश्य एवं प्रत्यक्ष कारण है। सुख-दुःख आदि भी पुरुषेच्छाधीन है। पुरूष अपने कारण से ही सुखी या दुःखी होता है। हम कर्माधीन ही मरेंगे ऐसी भी बात नहीं है। नियति ही हमें मारेगी ऐसी भी बात नहीं है। हम स्वेच्छा से आत्महत्या करके अभी मर सकते हैं। सब कुछ अभी ही अपनी कृति से कर सकत हैं। खेती करता पुरुष प्रयत्न पर निर्भर है। इस तरह पुरुषार्थवादी एक मात्र पुरुष कारणता को ही स्वीकार करते हैं। पुरुष चाहे वही कर सकता है। उसी की धारणानुसार सब कुछ होता है। अन्य कोई कारण नहीं है।

उपरोक्त पांच कारण मुख्य रूप से माने गए हैं। काल-स्वभाव-नियति-पूर्वकृत कर्म एवं पुरुषार्थवाद ये पांच कारण प्रमुख है। इसके अलावा भी श्वेताश्वेतर उपनिषद में यदृच्छावाद भी माना गया है। यह भी एक वाद था। यह भी एक पक्ष था। महाभारत में भी यदृच्छावाद का उल्लेख शांति पर्व में है। 'यदृच्छा' शब्द का अर्थ 'अकस्मात्' किया जाता है। अर्थात् किसी भी कारण के बिना। इनका कहना है कि किसी भी कारण के बिना निष्कारण ही कांटे में तीक्ष्णता होती है। उसी तरह अनिमित्त-निमित्त के बिना भावों की उत्पत्ति होती है। अनिमित्तवाद, अकस्मातवाद और यदृच्छावाद ये समानार्थक है। यदृच्छावादी मुख्य रूप से कारण की सत्ता को ही अस्वीकार करते हैं।

इसी तरह बुद्ध चरित में संजय बेलट्ठी के अज्ञानवाद को भी एक वाद के रूप में कहा गया है। सभी पदार्थों का ज्ञान संभव ही नहीं है। कहकर अज्ञानवाद की तरफ झूकने वाले अज्ञान-वादी का भी एक पक्ष था। सूत्रकृतांग सूत्र में भी अज्ञानवादी के निरसन की चर्चा की गई है। ये दोनों सामान्य कारण है। मुख्य कालादि पांच कारण है। इनमें क्या समझना? किस पक्ष को सत्य समझें? काल सही है? या नियति सही है? या स्वभाव? या अन्य? प्रत्येक का एक-एक का स्वरूप देखने पर ऐसा लगता है कि एक ही कारण सही है। कालवादी की बातें सुनते हैं तब वही सही लगती है। स्वभाववादी की बात सुनते हैं तब ऐसा लगता है कि यही पक्ष सही है। हम द्विधा में फस जाते हैं! कौनसा पक्ष स्वीकारें? कौनसा सही है? इसके उत्तर में सन्मतितर्क महाग्रंथ में कहा है कि -

कालो-सहाव-णियई-पुव्वकम्म पुरिसकारणेगंता।

मिच्छत्तं तं चेव उ, समासओ हुंति सम्मत्तं ।।

सिद्धसेन दिवाकरसूरि महाराज फरमाते हैं कि – काल–स्वभाव–नियति–पूर्वकृतकर्म एवं पुरुषार्थ (पुरुषकारणता) इन सभी को एकान्त निरपेक्ष बुद्धि से भिन्न–भिन्न मानना, या किसी एक को ही मानना, या स्वतंत्र रूप से ही एक ही कारण मानना ही मिथ्यात्व है। यदि इन पांचों कारणों को समवाय रूप से, पांचों को सापेक्षभाव से सभी को साथ में माने, समुदाय रूप से, समास–संयुक्त रूप से माने तो सम्यक् मान्यता होगी। तभी सम्यक्त्व होगा। अतः पांचों का सम्मिलित रूप ही स्वीकारना चाहिए। इसी बात को विशेष पुष्ट करते हुए पूज्य हरिभद्र सूरि महाराज ने शास्त्रवार्ता समुच्चय ग्रंथ में कहा है कि –

अतः कालादयः सर्वे समुदायेन कारणम् ।
गर्भादेः कार्यजातस्य विज्ञेया न्यायवादिभिः।।
न चैकैकत एवेह क्वाचित्किञ्चिदपीक्ष्यते ।
तस्मात् सर्वस्य कार्यस्य सामग्री जनिका मता।।

कालादि पांचों की संयुक्त कारणता :–

काल–स्वभाव–नियति–पूर्वकृत कर्म एवं पुरुषार्थ ये सभी कार्य में एक–एक प्रत्येक रूप से कारण नहीं है। स्वतंत्र निरपेक्ष कारण मानने पर दोष आयेगा। अतः ये पांचों कारणों का समन्वय करना ही सम्यग् धारणा है। कालादि अन्य निरपेक्ष होकर कार्य के उत्पादक नहीं होते अपितु अन्यहेतुओं के सामग्रीघटक होकर कार्योत्पादकता होते हैं। नियति आदि एक एक कारणमात्र से जगत् में किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं देखी जाती किन्तु कारण सामग्री से ही देखी जाती है और कारण सामग्री उस कारण से कथंचित् भिन्नऽभिन्न होती है। अतः एकैक कारण भी सामग्रीविधिया कार्य का कारण होता है। यदि निरपेक्ष हो तो अकारण होगा। कारण समुदायात्मक सामग्री में कार्य की उपादेयकता बतायी है। कारणों को कार्य की उत्पत्ति में अव्यवहित उत्तर क्षण में बताया जाता है। कार्यरूपी पालकी को उठाने के लिए एक कारण सक्षम नहीं होता है। पांचों कारण परस्पर सापेक्षभाव से मिलकर ही एक साथ उठायें तभी उठा सकेंगे। इन पांच कारणों में गौण–मुख्य भाव अपेक्षा से है। किसी भी कार्य में पांचों ही सम्मिलित होकर जरूर रहेंगे। लेकिन ये सभी गौण–मुख्य भाव से रहेंगे। जिसकी बलवत्तरता होगी वह प्रमुख और अन्य गौण अर्थात् पुरुषार्थ की प्रधानता होगी तो दूसरों की गौणरूप से कारणता होगी परंतु होगी जरूर।

उदाहरण के रूप में किसान खेती करता है तो उसमें वर्षाऋतु के काल की अपेक्षा रहती है। काल अनुकूल होना चाहिए। बीज में अंकुर उत्पन्न करने का

स्वभाव होना चाहिए। बीज जला हुआ दग्ध होगा तो उगने का स्वभाव नष्ट होने के बाद कहां से उगेगा? नियति या भवितव्यता अनुकूल होनी चाहिए। नहीं तो टिड्डे आदि फसल को खतम कर दें अथवा बाढ़ भी आ सकती है। अतिवृष्टि-अनावृष्टि भी फसल को खतम कर सकती है । अतः नियति भी सानुकूल होनी चाहिए। पूर्वकृतकर्मानुसार किसान का भाग्य भी ठीक होना चाहिए। वह भी पूरा साथ दे यह आवश्यक है। यदि पूर्वकर्मानुसार किसान रोग-ग्रस्त बीमार हो गया तो भी खेती नहीं हो पायेगी। ये चारों कारण ठीक तरह से हो परंतु पांचवां पुरुषार्थ यदि ठीक न हो तो, अर्थात् किसान आलसी हो, पुरुषार्थ करने में प्रमादी हो तो क्या होगा? सब कुछ होते हुए भी खेती नहीं हो पायेगी। काल-स्वभावादि सब अनुकूल हो और एक भी विपरीत हो तो भी कार्य नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि खेती के एक कार्य में वर्षाऋतु का काल, बीज में अंकुरोत्पादक स्वभाव, अतिवृष्टि-अनावृष्टि न हो, बाढादि का न आना ऐसी सानुकूल नियति, पूर्वोपार्जित किसान का भाग्य जिससे जमीनादि अच्छी उपजाऊ मिलना और अन्त में किसान का अप्रमत्त पुरुषार्थ, पूरे ध्यान से उत्साह-उमंग पूर्वक कार्य करना ये पांचों कारण सहकारी रूप से इकट्ठे होंगे तब एक खेती का कार्य होगा। ठीक इसी तरह समस्त जगत के सभी कार्य होंगे। इन पांचों कारणों का समुदाय रूप से शामिल होकर रहना अनिवार्य है। एक की अनुपस्थिति कार्य में बाधक बन जाएगी।

इसी तरह उदाहरणार्थ मोक्ष प्राप्ति एक कार्य है। इसके लिए भी पांचों कारणों का होना अनिवार्य है। जैसे-मोक्ष प्राप्ति में चरमावर्त काल का होना और तथाभव्यत्व की परिपक्वता होनी चाहिए। मनुष्य भव चाहिये। धर्म सामग्री आदि देने वाला पूर्वकृत कर्म (पुण्य) चाहिये। इन सबके होते हुए भी स्वयं जीवात्मा चारित्र प्राप्त कर मोक्षमार्ग पर अग्रसर होने के लिए कर्मक्षय का पुरुषार्थ करे यह भी आवश्यक है। इन कालादि पांचों कारणों के समुदाय रुप से सहयोगी होने से ही मोक्ष प्राप्ति का कार्य सिद्ध होगा। अन्यथा एक की भी कमी कार्य सिद्धि में बाधक बन जाएगी।

पांचों के स्वीकार में सम्यक्त्व :-

''एकान्ता सर्वेऽपि एकेकाः''कालः,स्वभावः,नियति,पूर्वकृत्, पुरुषकारणरूपाः मिथ्यात्वम्। त एव समुदिताः परस्पराऽजहद्वृत्तयः सम्यक्त्वरूपतां प्रतिपद्यन्ते।।''

सिद्धसेन दिवाकरसूरि महाराज विरचित सन्मति तर्क महाग्रंथ के तीसरे कांड की ५२ वीं गाथा की टीका में पूज्य अभयदेवसूरिजी महाराज कहते हैं कि - ये

कालादि सभी एकान्त रूप से एक एक स्वतंत्र कारण मानें तो मिथ्यात्व कहलाएगा। इन्हीं पांचों को समुदाय रूप से परस्पर अजहत्वृत्ति से स्वीकार करें तो अर्थात् सापेक्षभाव से पांचों को मानें तो ही सम्यक्त्व = अर्थात् सही ज्ञान होगा।

चावल गरम पानी में डालते ही सिगडी पर पक नहीं जाते हैं। उसमें भी काल लगता है। चावल में पकने का स्वभाव भी होना ही चाहिये, भवितव्यता भी अनुकूल ही चाहिए। कहीं स्टवादि फटकर दुर्घटना न हो जाय, तथा करने वाले का पूर्वोपार्जित प्रबल भाग्य भी चाहिए। चावलादि की प्राप्ति भी होनी चाहिए, तथा ईंधनादि लाना, पानी लाना, चढ़ाना आदि प्रयत्न पुरुषार्थ भी करना ही पड़ेगा, वैसे ही दूसरा दृष्टांत लो- बेटे को पढ़ाना है, पण्डित बनाना है। तो एक ही दिन में पण्डित नहीं बनेगा काल ५-१०-१२ साल लगेंगे। बेटे का पढ़ने का स्वभाव भी होना चाहिए। पढ़ाई में उसकी रुचि होनी चाहिए। नियति में-देश-क्षेत्र भी योग्य हो, जहां स्कूल-कालेज आदि एवं शिक्षकादि उपलब्ध होने चाहिए। पूर्वकृत कर्मानुसार बेटे की बुद्धि भी अच्छी होनी चाहिए। यादशक्ति भी अच्छी हो, तथा पांचवां पुरुषार्थ होना भी जरूरी है। वह नियमित २-४ घंटे पढ़े। खेलने में ही समय न बिता दे। इस तरह कोई भी उदाहरण लीजिए। इन पांचों समवायि कारणों का कार्य के लिए होना अपेक्षित है। तभी कार्य होगा। अतः कर्मवाद में भी ये पांचों अपेक्षित है। एक मात्र अकेला कर्म ही सब कुछ नही है। एक बीज बोया लेकिन उसके फलित होने में भूमि, हवा, प्रकाश, पानी आदि जिस तरह सहयोगी-उपयोगी कारण है उसी तरह एक कर्म के लिए भी कालादि सहयोगी कारण है। चाहे कर्म का बंध हो या कर्म का उदय हो चाहे सुख हो या दुःख हो उसमें भी कालादि पांचों कारण बाह्यदृष्टि से अलग-अलग स्वतंत्र दिखाई देते हुए भी तात्त्विक दृष्टि से पांचों ही हिलमिलकर समुदित रूप से ही कार्योत्पत्ति में कारण बनते है। अतः अलग-अलग मानना, या एक को मानना और दूसरे को न मानना यह भी ठीक नहीं है। संयुक्त रूप से पांचों मानना, यही सम्यक् पक्ष है। कभी कभी अत्यधिक पुरुषार्थ करने पर भी जब कार्य सिद्धि नहीं होती है। तब पूर्व कर्म को बलवान मानना पड़ता है। उसी तरह कभी पूर्व कर्म कमजोर हो, शिथिल हो तो नया पुरुषार्थ उसे भी बदल देता है। इस तरह गौण-मुख्य भाव की प्राधान्यता से पांच समवायिकारणवाद को स्वीकारना सम्यक् पक्ष है।

कर्म का कर्ता कौन ?

ईश्वर कर्तृत्ववाद के बारे में काफी विस्तार से परामर्श तर्क-युक्ति पूर्वक किया है। जिससे स्पष्ट निष्कर्ष यह निकलता है कि ईश्वर न तो सृष्टि का कर्ता है और न ही जीवों का कर्ता, तथा जीवों के शुभाशुभ कर्मों का कर्ता भी वह नहीं है। उसी तरह जीवों को कर्म का फल देनेवाला फलदाता भी वह सिद्ध नहीं हो सकता। यद्यपि

गीता में कर्तृत्ववाद के ही आधार पर श्रीकृष्णजी अर्जुन को कह रहे हैं कि – **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** हे अर्जुन ! कर्म करने में ही तेरा अधिकार है। तू कर्म करता रहे, फल की चिन्ता मत करना। फल देने का कार्य मेरे हाथ में है। यह भी विचारणीय है। कर्म हम करें और फल देने का कार्य ईश्वर के हाथ में भी क्यों ? हमारे किये हुए कर्मानुसार हमें फल मिल जाता है तो फिर नाहक ईश्वर को वैसा फल देने के लिए बीच में क्यों घसीटें ? फल देने में भी ईश्वर का स्वरूप पुनः विकृत हो जाएगा। कर्ता जीव स्वयं ही जैसा करता है वैसा फल पाता है। स्वोपार्जित कर्म उस जीव के साथ है। आत्मा के साथ संलग्न है। जन्म–जन्मान्तर तक कर्म आत्मा के साथ रहते हैं और ठीक समय पर उदय में आकर वह अपना फल दिखा जाते हैं। फिर क्या आवश्यकता है कि कर्म फल का दाता ईश्वर को मानें ? चावल सिगड़ी पर है, गर्मी मिल रही है, पानी है उसमें विदलन की क्रिया–पकने की क्रिया स्वतः हो रही है फिर ईश्वर को मानने की आवश्यकता ही कहां पड़ी ? गाय ने घास खाई और उसके शरीर में दूध बना। यह घास खाने की क्रिया का फल है। यहां क्रिया के फल के रुप में ईश्वर की आवश्यकता कहां पड़ी ? और यदि बलात् भी आप फल के लिए ईश्वर को मानेंगे तो सभी गायें घास खाती है सभी में दूध क्यों नहीं बनता है ? फिर ईश्वर सभी को समान फल नहीं देता है, क्यों नहीं ? फल देने में भी ईश्वर पक्षपात करता है। ईश्वर स्वार्थाधीन हो जाता है, तो फिर ईश्वर में ईश्वरीय गुण ही नहीं रहे। और ईश्वरीय गुणों के अभाव में हम उसे ईश्वर ही कैसे कहें ? सामान्य मानवी सिद्ध हो जाएगा। दूसरी तरफ ईश्वर तो परम दयालु है। अनुग्रह बुद्धिवाला करुणामय कारुणिक है तो फिर वह तो जीव के कर्म को देखकर दयाभाव से माफ ही कर देगा। जीव को फल दिये बिना ही छोड़ देगा। यही होना चाहिए। और दयाभाव है तो सभी जीवों के प्रति समान भाव से दया आनी चाहिए,सभी के कर्मों को माफ कर देना चाहिए। फिर किसी के कर्मों को माफ करता है और किसी के कर्मों को नहीं। ऐसा क्यों ? अच्छा जिनके कर्मों को ईश्वर माफ नहीं करता है तो क्यों नहीं करता है ? वहां ईश्वर ही दया करुणा कहां चली गई ? दया के अभाव में क्रूरता मानोगे तो ही नरकादि का फल देने का कार्य ईश्वर में संभव हो सकेगा। चूंकि नरकादि का फल तो क्रूरता से क्रूरवृत्ति से ही सम्भव है। ईश्वर यदि क्रूर–निष्ठूर बन जाएगा तब ईश्वर का स्वरूप कैसा बनेगा ? तो फिर नरक संत्री परमाधामी नरपिशाच उन राक्षसों को ही ईश्वर मान लें क्या ? चूंकि वे महा क्रूर होते हैं हिंसक वृत्ति वाले होते हैं। नरक गति के जीवों को मारना, काटना, पकोड़े की तरह उबलते तेल में तलना, चमड़ी उतार देना आदि नाना प्रकार से जीवों को कर्म का फल देते हैं। तो क्या ऐसे परमाधामी नरकसंत्री को ईश्वर मानें ? क्या यह ईश्वर का स्वरूप हो सकता है ? और ऐसा विकृत हिंसक एवं क्रूर स्वरूप

ईश्वर का हो तो फिर उसकी उपासना कैसे करें? मोक्ष दाता के रूप में उसे कैसे मानोगे? इत्यादि विचारणा करने से फल दाता के रूप में भी ईश्वर को बीच में लाने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

दूसरी तरफ सृष्टि रचना के पहले तो जीवों में कर्म नहीं होंगे। फिर सृष्टि की रचना करके निरर्थक ईश्वर ने उन जीवों को दुःख के सागर में क्यों गिरा दिया? वह भी सिर्फ अपनी लीला दिखाने के लिए। सिर्फ अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए। दूसरी तरफ जब जीवों को कठपुतली की तरह रखा है। ईश्वर ही उनका नियन्ता है। ईश्वर की क्रिया से ही वे सभी जीव क्रियान्वित होते हैं अर्थात् इन कठपुतली जैसे जीवों के पास ईश्वर ही क्रिया कराता है। सब कुछ ईश्वर की इच्छा के आधीन ही होता है। वह करावे वही होता है। जीव स्वयं कुछ भी नहीं करता ईश्वर ही जीव के हाथों ऐसा कार्य ऐसी क्रिया कराता है। अच्छा, मानलें कि ईश्वर ही स्व इच्छानुसार जीवों के पास कराता है। जीवों में होती अच्छी बूरी-सभी क्रियाओं का कर्ता ईश्वर सिद्ध होता है। अब ये क्रियाएं ईश्वर ने कराई है इसमें स्पष्ट है कि जीव तो क्रिया का कर्ता है ही नहीं। वह तो बिचारा कठपुतली की तरह निष्क्रिय है। अच्छा अब जब क्रिया=कर्म हो चुके तो फिर ईश्वर उसको अच्छा-बूरा फल क्यों देता है? फल देते समय ईश्वर सुख-दुःख दोनों देता है। सुख-दुःख देने के लिए सुख की गति और दुःख की दुर्गति में जीवों को भेजता है। तो यह क्यों? कोई जीव यह कहे कि हे भगवान्! मुझे नरक में मत भेजिए। मुझे ऐसा दुःख मत दीजिए, क्योंकि मैंने तो कोई पाप मेरी स्वेच्छा से किए ही नहीं है आपने ही आपकी इच्छानुसार मेरे से पाप करवाया है। वैसी क्रिया करवाई है तो उसमें मेरा क्या कसूर है? अब उसका फल मुझे मत दीजिए। लेकिन ईश्वर किसी की सुनता ही नहीं है। वेद-स्मृति-श्रुति-पुराण कहते हैं कि ईश्वर तो जीवों के कर्मानुसार फल देता है। तो ये कर्म जीवों के कर्म कहे जाएंगे? या ईश्वर के खुद के? चूंकि ईश्वर ने जीव के पास करवाए हैं फिर जीव के कर्म कैसे कहे जाएंगे? यदि जीव के कर्म नहीं कहे जा सकते तो उसका फल जीव को क्यों मिलता है? वाह! पहले जीवों के पास ईश्वर वैसी क्रिया करवाये और फिर उसका फल भी ईश्वर दें। यह कैसा अज्ञान लगता है? यह किस घर का न्याय? निर्दोष बिचारे जीव को निरर्थक फल देना। यह तत्त्वज्ञान की सही दिशा ही नहीं है। अतः तत्त्वज्ञान का सम्यग् सही स्वरूप समझने के लिए ईश्वर को बीच में लाओं ही मत। जीव स्वयं ही राग-द्वेषाधीन होकर वैसे शुभाशुभ कर्म करता है। अतः कालान्तर में उस किये हुए कर्मों का फल भी जीव स्वयं ही पाता है। पूर्वोपार्जित कर्मानुसार जीव स्वर्ग-नरक में जाता है। तथाप्रकार के सुख-दुःख भोगता है। ईश्वर की बीच में आवश्यकता ही नहीं है। हां,

उपासना के लिए, परम आलम्बन के स्वरूप में उपास्य तत्त्व के रूप में परमात्मा-परम विशुद्ध रागद्वेष रहित वीतराग-सर्वज्ञ भगवान की उपासना के लिए हम आलम्बन अवश्य लें जिससे कर्मक्षय में वैसी सुंदर प्रेरणा प्राप्त हो। उसके जैसा बनने की दिशा प्राप्त हो इसलिए परमात्मा-परमेश्वर की उपासना आवश्यक है। जाप-स्तुति-पूजा-पूजन-ध्यानादि उपासना के तरीके हैं। इन माध्यमों से उपासना होगी। ऐसी उपासना में उपास्य तत्त्व परमात्मा को, आलम्बन-उच्च ही नहीं सर्वोच्च आदर्श के रूप में बिराजमान करने के लिए सुंदर मंदिर होना जरूरी है। सुंदर मंदिर में प्रभु की सुंदर प्रतिमा, अर्थात् प्रभु की प्रतिकृति होना भी आवश्यक है। वही आलम्बन है। भाव विशुद्धि आदि के लिए द्रव्य के माध्यम से भक्ति-पूजा-दर्शन आदि आवश्यक है। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि जीवों के कर्म का कर्ता ईश्वर नहीं जीव स्वयं है। सुख-दुःख का कर्ता भी जीव स्वयं है। फलदाता भी ईश्वर नहीं जीव स्वयं है। चेतनात्मा ही स्वयं कर्म का कर्ता है, वही कर्म करता है और कृत कर्मों का फल भी वही भुगतता है। यही जीव का स्वरूप बताते हुए हरीभद्रसूरि महाराज ने लिखा है कि -

यः कर्ता कर्म भेदानां, भोक्ता कर्म फलस्य च ।
संसर्ता परिनिर्वाता, सह्यात्मा नान्य लक्षणः ।।

जो स्वयं कर्म का कर्ता हो, और किये हुए कर्मों के फल का भोक्ता हो, तथा जो संसार में सतत परिभ्रमण करता हो वही संसारी जीव है। कर्म एक क्रिया विशेष जन्य है। अतः क्रिया अपने आप हो नहीं सकती। क्रिया का कोई न कोई कर्ता होना ही चाहिए। वह कर्ता ईश्वर नहीं जीव है। जीवात्मा ही कर्म करती है और किये हुए कर्मों का फल भी वह स्वयं भुगतती है।

कर्म सत्ता न मानें तो क्या ?

रोटी न खाएं तो क्या होगा? भोजन न करें तो क्या होगा? शादी न करें तो क्या होगा? पढ़ाई न करें तो क्या होगा? व्यापार-नोकरी न करें तो क्या होगा? खाना, भोजन करना, पढ़ाई करना, नौकरी करना आदि क्रियाएं है। इन सभी क्रियाओं का कर्ता तो एकमात्र जीव है। जीव नहीं होगा तो क्रिया करेगा कौन? क्रिया का कर्ता कौन सिद्ध होगा? कर्ता के अभाव में कोई क्रिया नहीं होती है। अतः क्रियाएं जगत में होती है तो उसका कर्ता जीव भी अवश्य मानना ही पड़ेगा। उसी तरह कर्म भी क्या हैं? कर्म क्रिया जन्य है। अतः इस क्रिया का कर्ता भी जीव ही है। वही कर्म करता है । यदि ऐसे कर्मों को न माना जाय तो क्या होगा? यह विचार करिए। अभी तक जो हम सोचते आए हैं, जिस बात पर विचार किया हैं कि जगत है, जगत विचित्रताओं से भरा पड़ा है। समस्त संसार में नाना प्रकार की विचित्रता,

विविधता एवं विषमता भरी पड़ी है। जबकि इनका कर्ता ईश्वर किसी भी रुप में सिद्ध हो ही नहीं सकता, तो फिर जीव ही कर्ता के रूप में सिद्ध होगा; और उस जीव कर्ता की क्रिया के रूप में कर्म सिद्ध होगा। अतः समस्त संसार की सारी विचित्रताओं, विषमताओं आदि का एकमात्र कारण कर्म ही सिद्ध होगा। अतः ये कर्मजन्य विचित्रता, विषमता आदि है। अब कर्म सत्ता को ही नहीं मानेंगे तो पुनः विसंगति आएगी। जबकि विचित्रता आदि तो संसार में प्रत्यक्ष दिखाई देती है। इनका तो कोई निषेध नहीं कर सकता, चूंकि सभी जीवों की आंखों के सामने समस्त संसार की विचित्रताएं, विषमताएं आदि स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। ये तो संसार में भरी पड़ी हैं। अतः इनके पीछे कर्म की कारणता अवश्य स्वीकारनी पड़ेगी।

जैसे हम धूंए को देखकर अग्नि का निर्णय करते हैं। चूंकि यह निश्चित है कि जहां-जहां भी धूंआं रहता है वहां अग्नि निश्चित रूप से अवश्य ही रहती है। धूंए का अग्नि के साथ अविनाभाव संबंध है । धूंआं अग्नि के बिना उत्पन्न ही नहीं होता है अतः उसके बिना रह भी नहीं सकता। हम मकान के ऊपर से या दूर से धूंआं देखते हैं। धूंआं पहले दिखाई देता है। जबकि अग्नि दिखाई नहीं भी देती। परन्तु धूंए को प्रत्यक्ष देखकर आग लगी है यह अनुमान लगाते है यह ज्ञान भी सही है। चूंकि कार्य कारणभाव सही है अतः ज्ञान भी सही है।

ठीक इसी तरह संसार की विचित्रता, विषमता, विविधता को देखकर कम अनुमान ज्ञान सही ठरहता है। चूंकि विचित्रता आदि का कर्म के साथ अविनाभाव-संबंध है, कार्य कारणभाव का संबंध है, विचित्रता आदि का कार्य है। कार्य कभी कारण के बिना हो नहीं सकता। अतः विचित्रता आदि कार्य के पीछे कर्म की कारणता अनिवार्य है। ईश्वरादि की कारणता सिद्ध हो नहीं सकती। कर्म की कारणता कसौटी पर खरी उतरती है। अतः कर्म ही समस्त संसार की विचित्रता आदि का एकमात्र कारण सिद्ध होता है।

अनुमान से कर्म सिद्धि :-

निश्चित-युक्ति संगत अनुमान भी ज्ञान की प्रक्रिया है। श्रुतज्ञान का साधन है। अतः अनुमान यदि अकाट्य और सही है तो ज्ञान की धारा भी निश्चित सही है। अनुमान का भी मूल आधार प्रत्यक्ष होता ही है। जैसे अग्नि के अनुमान ज्ञान में धूएं का प्रत्यक्ष होता है। धूंआ तथा अग्नि की अन्वय व्याप्ति होती है। व्याप्ति सम्बन्ध से निश्चित ज्ञान होता है। अतः धूम्र को देखकर अग्नि की सिद्धि करते हैं। उसी तरह संसार में सुख-दुःख सामने दिखाई दे रहे हैं। सुख दुःख तो गुण स्वरूप है, अतः गुण दिखाई नहीं देते हैं। गुण किसी द्रव्य के आधार पर ही रहते हैं। गुण-गुणी का अभेद

सम्बन्ध रहता है। अतः गुण किसी गुणी में ही रहेंगे। सुख-दुःख वाला गुणी सुखी-दुःखी कहलाएगा। अब आप बताईये कि संसार में सुखी-दुःखी लोग है कि नहीं? इस बात में कौन ना कह सकेगा? मना करना सम्भव ही नहीं है। सुखी-दुःखी प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। सैंकड़ों नहीं लाखों करोड़ों हैं। हम स्वयं भी सुखी-दुःखी है, सुखी सुख के कारण है, दुःखी दुःख के कारण है।

अब बात यह है कि सुखी-दुःखी क्या है ? कार्य है या कारण ? उदाहरणार्थ धूंए और अग्नि मैं धूंआं कार्य है उसका उत्पादक कारण अग्नि है । जैसे घड़ा कार्य है और मिट्टी कारण है । कारण नहीं होता तो कार्य बनता ही नहीं । अग्नि नहीं होती तो धूंआं निकलता ही नहीं । मिट्टी नहीं होती तो घड़ा बनता ही नहीं । कार्य बिना कारण के नहीं होता, कार्य का कारण के साथ निश्चित सम्बन्ध है । उसी तरह यहां सोचिए कि सुखी-दुःखी क्या है ? ये कार्य है या कारण है ? कारण तो हो नहीं सकतै । कारण मानें तो सुखी-दुःखी से फिर आगे कार्य क्या मानें ? अतः कार्य ही मान सकते हैं । ये कार्य है तो इनका कारण क्या ? सुखी-दुःखी का कारण ईश्वर को मान नहीं सकते चूंकि सैंकड़ो दोष आते हैं और ईश्वर का स्वरूप भी विकृत हो जाता हैं फिर भी कार्य स्वरूप सुखी-दुःखी ईश्वर के कारण सिद्ध नहीं हो सकते हैं। अब कार्य है यह निश्चित है तो कारण भी निश्चित मानना ही पड़ेगा चूंकि कार्य कारण के बिना सम्भव नहीं हो सकता । अतः कार्य के लिए कारण अवश्य ही मानना पड़ता हैं ।

सुख-दुःख कार्य के कारण रूप में कर्म को मान सकते हैं, कर्म ही एकमात्र कारण ऐसा सिद्ध होगा जो सर्वथा सर्व दोष रहित होगा । अग्नि से जैसे धूंआं निकलता है । यहां अग्नि कारण और धूंआं कार्य है । मिट्टी घड़े के लिए कारण है । ठीक उसी तरह सुख के लिए जीव के शुभ कर्म कारण है । शुभ कर्म को ही शास्त्रीय परिभाषा में पुण्य कहते हैं । अतः पुण्यानुसार ही सुख प्राप्त होता है ।

कार्य ←—— सुख ←—— दुःख
↓ ↑
कारण ——→ शुभ (पुण्य) कर्म——→अशुभ (पाप) कर्म

इसलिए शुभ पुण्य-कर्म सुखरूपी कार्य का कारण सिद्ध होता है । उसी तरह दुःख भी कार्य है । इसका कारण अशुभ पाप कर्म है । अशुभ पाप कर्म जीव ही उपार्जित करता है । उसी कारण दुःख भोगता है । इसलिए दुःख का एकमात्र कारण जीव द्वारा उपार्जित अशुभ कर्म ही है । कार्य का कारण के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रहता है । उसी तरह सुख-दुःख रूप कार्य का शुभाशुभ कर्म ही कारण हो सकता है । सुख-दुःख का अविनाभाव सम्बन्ध शुभाशुभ कर्म के साथ निश्चित रूप से है । शुभा-शुभ कर्म नहीं रहेंगे तो सुख दुःख रूपी कार्य भी नहीं रहेंगे । अतः यही न्याय

संगत सिद्ध होता है । अन्य कोई भी कारण सिद्ध हो नहीं सकता । ईश्वरादि अविनाभाव सम्बन्ध भी नही गिने जाएंगे । कालादि भी सम्भव नहीं है । कार्य के लिए कारण की अनन्यथा सिद्ध नियत पूर्ववर्ती होती है । कारण का लक्षण ही ''अनन्यथासिद्धत्वे सति नियतपूर्ववर्तित्वं कारणस्यलक्षणं'' बताया गया है । इस तरह भी सोचें तो सुख-दुःखात्मक कार्य के लिए अनन्यथासिद्ध नियतपूर्ववर्ति कारण शुभा-शुभ कर्म ही हो सकता है । अतः सुख-दुःख के आधार पर कर्म की सिद्धि होती है ।

सुख-दुःख वाला जो सुखी-दुःखी व्यक्ति विशेष उसी के उपार्जित शुभाशुभ कर्म का वह कार्य है। अतः किसी को सुखी देखें तब यह कारण समझना चाहिये कि इस जीव ने शुभ पुण्य कर्म उपार्जित किया है। जो भूतकाल में किया था और आज वर्तमान में यह सुख रूप फल भोग रहा है। किसी दीन-दुःखी दरिद्र को देखकर उसने अशुभ पाप कर्म उपार्जित किया होगा अतः उस कर्मानुसार आज यह दुःखी है। अग्नि के लिए धूम का प्रत्यक्ष होना जिस तरह अनिवार्य है उसी तरह कर्म के अनुमान के लिए सुखी दुःखी का प्रत्यक्ष होना अनिवार्य है। अतः सुखी-दुःखी को प्रत्यक्ष देखकर शुभाशुभ कर्मों का सही ज्ञान होता है। ये कर्म चाहें एक व्यक्ति के हों या चाहे समष्टि के हों। संसार में अनन्त जीव है। अनन्त जीव सभी कर्म-ग्रस्त है। सभी कर्म बांधते हैं अतः सभी कर्म फल भोगतें हैं। अब यह सोचें कि कर्म क्या है? जीव क्या है? क्यों जीव कर्म बांधता है? यह संसार क्या है? इस संसार में क्या है? इत्यादि।

लोक-अलोक स्वरूप :-

अनन्ताकाश स्वरूप लोकालोक है। लोक शब्द यहां क्षेत्र वाची है। इस अनन्त आकाश के दो विभाग किये जाते हैं। एक अलोक एवं दूसरा लोक। अलोक एवं लोक इन दोनों शब्दों के साथ आकाश शब्द जोड़कर एक शब्द बनाकर व्यवहार करें तो (१) अलोकाकाश एवं (२) लोकाकाश शब्द बनेंगे। जिस क्षेत्र का अन्त ही नहीं है वह अनंत आकाश स्वरूप है। जिस लोक में रहने वाली कोई भी वस्तु नहीं रहती वह अलोक है। जीव या अजीव अलोक में कुछ भी नहीं रहता है अर्थात् एक सूक्ष्म जीव भी अलोक में नहीं रहता है उसी तरह अजीव तत्त्व के पुद्गल का सूक्ष्म परमाणु भी जहां नहीं रहता है वह अलोक है। तो फिर अलोक में क्या है? इसका उत्तर इसीके वाचक शब्द से मिल जाता है। अलोक + आकाश = अलोकाकाश अर्थात् अलोक में सिर्फ आकाश है। आकाश आधार द्रव्य है। जो जीव-अजीव द्रव्यों का आधार है। आकाश अवकाश देने में सहायक है। जीव एवं अजीव को रहने के लिए स्थान-जगह प्रदान करना इसका गुण है। परन्तु अलोक में जीव अजीव

दोनों ही नहीं है अतः जगह दे तो भी किसको दे ? इसीलिए अलोक कहलाता है। इस अलोक का आकाश रिक्त आकाश कहलाता है। अतः इसे शून्याकाश भी कहते है। शून्य = अर्थात् रिक्त स्थान-खाली जगह। जहां कुछ भी नहीं है। सिर्फ यह अलोकाकाश अनंत है। इसका अंत ही नहीं है। सीमातीत है।

लोक स्वरूप :-

इस अनंत अलोकाकाश के केन्द्र में लोक है। जैसा कि चित्र में दिखाया गया है कि पुरुष अपने दोनों हाथ कमर पर रखे हुए और दोनों पैर फैला कर खड़ा है।

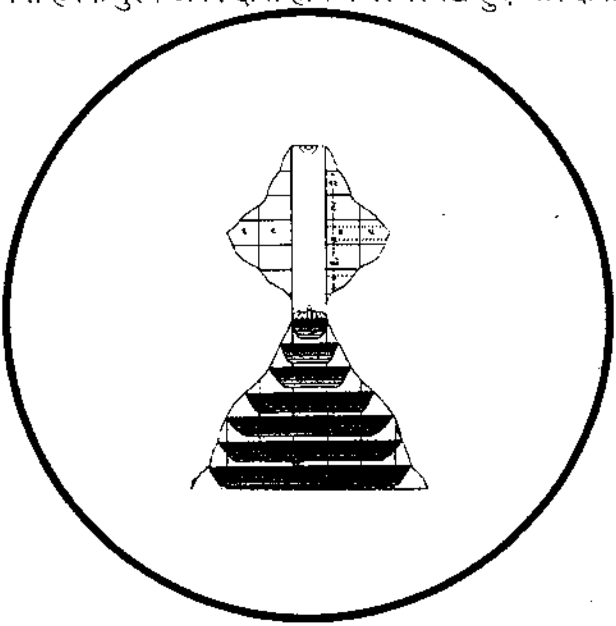

इसी आकृति का लोक है। अतः इसे लोक पुरूष भी कहा जाता है। जिसे हम विराट ब्रह्मांड कहते है वही यह विराट लोक है। अनंत अलोकाकाश के केन्द्र में रहे इस लोक स्वरूप की सीमा बताने के लिए पुरुषाकृति दी गई है चूंकि अलोकाकाश तो अनंत है परन्तु लोकाकाश अनंत नहीं है। वह तो सीमित है। परिमित क्षेत्र में ही है। इसलिए लोक की सीमा बताने के लिए पुरुषाकृति उद्बोधक है। जिस तरह पुरुष खड़ा है। उतनी ही लोकाकाश की सीमा है, अर्थात् दोनों पैर के अंतर के समान नीचे ज्यादा चौड़ा है। फिर ऊपर-ऊपर चढ़ते हुए अंतर कम होता जाता है। कमर के भाग की तरह बिल्कुल कम है। फिर दोनों हाथ की स्थित के अनुरूप पुनः थोड़ा चौड़ा होता जाता है। फिर पुनः संकड़ा होता जाता है। गले के भाग तक जाकर बिल्कुल संकड़ा होता है। ऊपर मष्तक के भाग की तरह है। इसीलिए पुरूषाकृति के आधार पर लोक पुरूष का नाम दिया जाता है। यही लोक है।

लोक पुरुष के अंदर का भाग लोकाकाश कहलाता है और उसके बहार का मात्र अलोकाकाश कहलाता है। अलोकाकाश सीमातीत अनंत है। जबकि

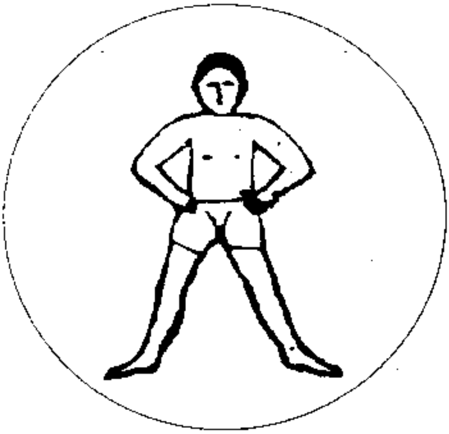

लोकाकाश सीमित परिमित है। इसे १४ रज्जु प्रमाण कहते हैं। रज्जु एक माप विशेष है। ऐसे नीचे से ऊपर तक १४ रज्जु प्रमाण यह लोक है। रज्जु राज को भी कहते हैं। १ रज्जु बराबर १ राजलोक ऐसे १४ राजलोक हैं। इसलिए १४ राजलोक प्रमाण इस विराट ब्रह्मांड को कहते हैं। इसी को लोकाकाश भी कहते हैं। तथा लोक के बाहरी प्रदेश को अलोक या अलोकाकाश कहते हैं। चाहे लोक का आकाश हो या अलोक का आकाश, आकाशस्वरूप से दोनों समान ही है। दोनों विभाग में प्रसृत आकाश द्रव्य एक ही है। आकाश एक अखंड अविभाजित द्रव्य है। सिर्फ लोक-अलोक की उपाधि के कारण औपाधिक नाम लोकाकाश और अलोकाकाश पड़ा है। उदाहरणार्थ घटाकाश, मठाकाश यदि कहते हैं, अर्थात् एक घड़े का भीतरी आकाश, एक मठ हो उसके अंदर का आकाश। यह आकाश का उपाधि जनित नाम है। इससे अखंड आकाश के टुकड़े नहीं होते हैं। जैसे भारतीय आकाश, पाकिस्तानी आकाश। ये नाम जो रखे गए हैं क्षेत्र के आकाश के आधार पर है। परन्तु आकाश खंडित नहीं होता है। उसी तरह लोकाकाश और अलोकाकाश भी एक अखंड आकाश के दो औपाधिक नाम मात्र है। परन्तु लोक और अलोक दोनों का आकाश एक अखंड आकाश ही है।

लोकाकाश का ही संक्षिप्त नाम लोक कहते हैं। यही १४ रज्जु प्रमाण होने से १४ राजलोक कहते हैं। इस लोकाकाश में तीन लोक हैं। जैसा कि १४ राजलोक का नक्शा पृष्ठ पर दिया गया है। तीन लोक में (१) ऊर्ध्व लोक-जिसे देवलोक-स्वर्ग भी कहते हैं। (२) तिर्च्छालोक-तिर्यक् लोक और मृत्यु लोक या मनुष्य लोक भी कहते हैं,और तीसरा है अधो लोक। जिसे पाताल या नरक-लोक भी कहते हैं। इन्हीं तीनों लोकों में जीव राशि रहती है। अतः उनके नाम के आधार पर भी लोक का नाम पड़ा है। जैसे ऊपर स्वर्ग के देवी-देवता रहते हैं इसलिए देव-लोक नाम रखा। मनुष्यों के रहने के कारण मनुष्य लोक नाम रखा। तिर्च्छा के कारण तिर्यक् लोक नाम भी प्रचलित है। नीचे अधो लोक में नरक के नारकी जीव रहते हैं अतः नरक भी कहा। इस तरह तीन लोक हैं। तीनों लोक का सम्मिलित पूरा नाम १४ राजलोक है। समस्त जीव सृष्टि इसी १४ राजलोक में रहती है। इसके बाहर एक सूक्ष्म जीव भी नहीं है।

इसी तरह अजीव द्रव्य भी इसी १४ राजलोक में है। इसके बाहर अर्थात् लोक के बाहर अजीव द्रव्य का एक परमाणु भी नहीं है जो भी कुछ है वह सब कुछ इस लोक में ही है अलोक में कुछ भी नहीं है सिवाय आकाश।

दो द्रव्य और पंचास्तिकाय :-

इस तरह लोक और अलोक दोनों में मिलाकर यदि द्रव्यों का विचार किया जाय तो सिर्फ दो ही मूलभूत द्रव्य है। दो के अलावा इस अनन्त ब्रह्मांड में तीसरा कोई द्रव्य ही नहीं है (१) जीव (२) अजीव। अन्य सभी जो भी द्रव्य है वे इन्हीं दो द्रव्यों के अंतर्गत ही गिने हैं। परन्तु द्रव्य सत्ता में मूलभूत दो ही गिने जाते हैं। अन्य इन्हीं के अवांतर भेद हैं।

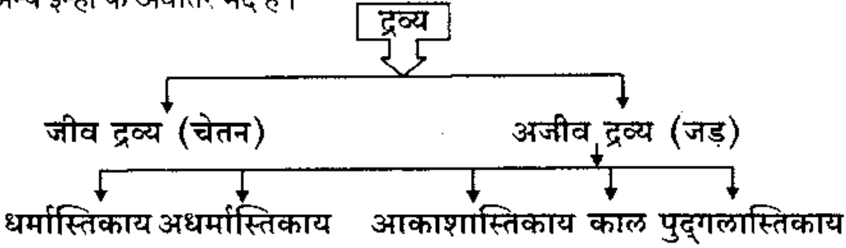

मुख्य दो द्रव्यों में जीव द्रव्य को ही चेतन नाम भी दिया गया है। इसी चेतन द्रव्य को आत्मा संज्ञा भी दी जाती है । अतः आत्मा, जीव, चेतन ये सभी समानार्थक पर्यायवाची नाम हैं। इससे भिन्न अजीव द्रव्य है। जिसे जड भी कहा है। यह अजीव द्रव्य जीव से सर्वथा पृथक भिन्न इसलिए है कि जीव के गुणधर्म अजीव में नहीं है। जीव-चेतन द्रव्य में ज्ञान-दर्शनादि गुण है, सुख-दुःख की संवेदना अनुभव करने का गुण है। परन्तु अजीव द्रव्य में जानने और देखने की क्रिया करने वाले ज्ञान-दर्शन गुण नहीं है इसी तरह अजीव-जड द्रव्य में सुख-दुःख का अनुभव करने की संवेदना भी नहीं है । अतः अजीव द्रव्य जीव द्रव्य से सर्वथा भिन्न है। अ + जीव = जो जीव नहीं है वह अजीव । निर्जीव = निर् + जीव = जो जीव रहित है वह निर्जीव । द्रव्यों में भेट करता है । जीव के गुण भिन्न है। उसी तरह अजीव के गुण भी भिन्न है अतः दोनों स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए स्वतंत्र द्रव्य है । हम समस्त संसार में यही प्रत्यक्ष देखते हैं । जब भी देखते हैं, जो भी देखते हैं उनमें इन्हीं दो को ही देखते हैं। तीसरे द्रव्य का अस्तित्व ही नहीं है ।

अजीव द्रव्य के पांच भेद है (१) धर्म द्रव्य (२) अधर्म द्रव्य (३) आकाश द्रव्य (४) काल द्रव्य और (५) पुद्गल द्रव्य। धर्मादि नाम से भ्रम न हो अतः इनका नाम ध्यान में रखें । (१) धर्मास्तिकाय(२) अधर्मास्तिकाय (३) आकाशस्तिकाय (४) काल (५) पुद्गलास्तिकाय। अस्तिकाय अर्थात् प्रदेश समूह। अस्तिकाय

शब्द जोड़ने से ये द्रव्य अस्तिकायात्मक कहलाते हैं। इसी तरह जीव के साथ भी अस्तिकाय शब्द जोड़ने पर जीवास्तिकाय कहलाता हैं। प्रदेश समूहात्मक अस्तित्व रखनेवाले ये कुल पांच हैं। अतः इन्हें पंचास्तिकाय कहते हैं। काल एक ही द्रव्य प्रदेश समूहात्मक नहीं है,अतः काल को अस्तिकाय नहीं कहते हैं। अस्तिकाय वाले सभी द्रव्य इकट्ठे किए जाय तो ये पांच होते हैं। ये पांचों द्रव्य तथा काल मिलाकर कुछ छः द्रव्य होते हैं। अतः षड्द्रव्य कहते हैं षड् = अर्थात् छ। 'छ' यह संख्यावाची शब्द है। षड् द्रव्य कहने से –छ द्रव्य कहने;से छ द्रव्य लिए जाते है। पंचास्तिकाय से पांच अस्तिकाय वाले ही द्रव्य गिने जाते हैं। काल नहीं लिया जाता। इस तरह षड्द्रव्य कहो या पंचास्तिकाय कहो ये दोनों ही मूलभूत तो जीव-अजीव दो द्रव्यों में ही समाते हैं। जीव–अजीव दो द्रव्यों के ही भेद हैं। दो द्रव्यों का ही विस्तार हैं। अतः मूलभूत द्रव्य तो दो ही गिने जाएंगे। जीव और अजीव।

चेतन, जीव – एक चेतन द्रव्य है। इसी को आत्मा कहते हैं। सिर्फ नाम भेद–अर्थात् शब्द भेद है। अर्थ भेद नहीं है। इससे सर्वथा भिन्न अचेतन द्रव्य अजीव या जड़ द्रव्य कहलाता है। इसके पांच भेद है जो ऊपर चार्ट में दिखाए गए हैं। इस तरह चेतन एक और ये अचेतन पांच मिलाकर कुल षड् द्रव्य–छ द्रव्य हुए।

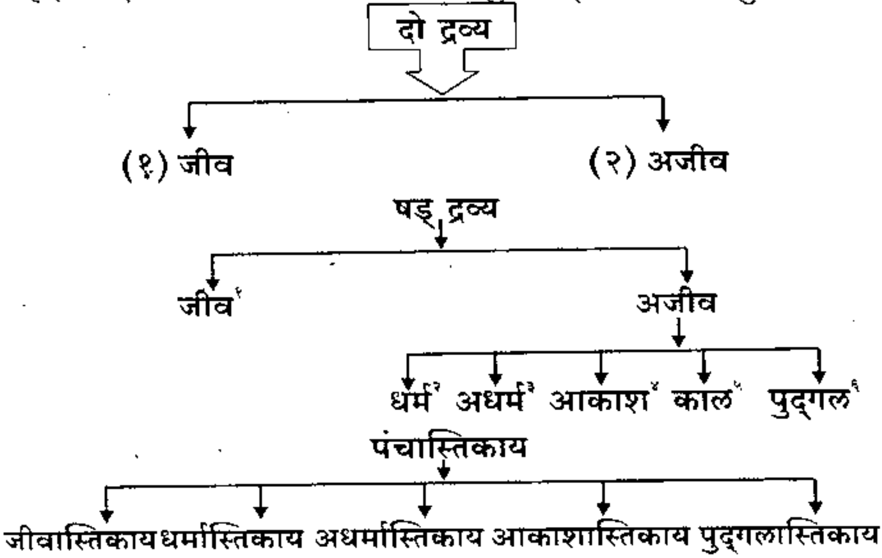

चेतन द्रव्यस्वरूप :–

'गुण–पर्यायवद् = द्रव्यम्' तत्त्वार्थाधिगम सूत्र का यह सूत्र कहता है कि – गुण और पर्याय वाला जो हो वह द्रव्य कहलाता है। अतः गुण–पर्याय के समूह का नाम द्रव्य है। द्रव्य–गुण को छोड़कर अलग नहीं रहते हैं। गुण गुणी में ही रहते हैं।

गुणी को ही द्रव्य कहते हैं। गुणोंवाला, गुणसमूह द्रव्य कहलाता है। उदाहरणार्थ सूर्य को छोड़कर सूर्य की किरणें या प्रकाश कहीं अन्यत्र नहीं रहते है। भिन्न-भिन्न नहीं रहते हैं। गुणों का आधार स्थान या आश्रयस्थान गुणी-द्रव्य ही है। पर्याय आकृति को कहते हैं। मूलद्रव्य की आकृति - Shape जो होती है उसे पर्याय कहते हैं। उदाहरणार्थ सोना मूल द्रव्य है। सोनेरी रंग-पीलापन उसका मूल गुण है,और अंगूठी-कंगन-हार आदि सुवर्ण द्रव्य की पर्याय है आकृति विशेष है।

आत्मा भी एक द्रव्य है। ज्ञान दर्शनादि आत्मा के मुख्य ८ गुण है।

(१) अनंत ज्ञान गुण (२) अनंत दर्शन गुण
(३) अनंत चारित्र गुण (४) अनंत वीर्य (शक्ति) गुण
(५) अनामी-अरूपी गुण (६) अगुरूलघु गुण
(७) (अव्याबाध) अनंत सुख गुण (८) अक्षय स्थिति गुण

ये आठ गुण आत्मा के मूलभूत प्रमुख गुण है। तद्वान आत्मा अर्थात् इन गुणों वाला आत्म द्रव्य है। ज्ञानदर्शनात्मक चेतना शक्तिवाली होने से आत्मा को ही चेतन द्रव्य भी कहते हैं। अरूपी आत्मा जब किसी आकृति विशेष वाले शरीर में रहती है तब वह आकृति उसकी पर्याय बनती है। उदाहरणार्थ उपरोक्त ८ गुणों वाली आत्मा मनुष्य, देव, नारकी, तिर्यंच पशु-पक्षी-हाथी-घोड़े के स्वरूप में है अतः ये आत्मा की पर्यायें कहलाएगी। ज्ञान गुण की क्रिया है-जानना, दर्शन गुण की क्रिया है देखना। ज्ञान-दर्शनात्मक चेतना शक्ति वाला द्रव्य ही जानने-देखने की प्रवृत्ति करता है। तद् भिन्न अजीव द्रव्य जानने-देखने की प्रवृत्ति नहीं करता क्योंकि उसमें ज्ञान-दर्शन गुण नहीं है। उसी तरह सुख-दुःख की संवेदना का अनुभव भी आत्मा ही करती है। यह आत्मा का ही गुण है । इससे भिन्न अजीव द्रव्य सुख-दुःख की संवेदना का अनुभव नहीं करता चूंकि सुखानुभव यह अजीव का गुण नहीं है। अतः जानना-देखना आदि जो क्रियाएं जगत में प्रत्यक्ष दिखाई देती है अतः इन क्रियाओं का कर्ता कोई अवश्य होना ही चाहिए। क्रिया कर्ता के बिना सम्भव नहीं है। वह कर्ता जीव है, चेतन है । चेतन जीव अपने ज्ञानादि गुणानुरूप ही क्रिया कर सकता है यदि वह कर्मग्रस्त है तो उसकी क्रिया आत्म गुणों के अनुरूप न होकर कर्मानुसार होगी। चेतन जीव द्रव्य कर्ता है। सक्रिय द्रव्य है। अतः इसे ही कर्म बंध की क्रिया का कर्ता कहा जाता है।

अजीव द्रव्यस्वरूप :-

जीव द्रव्य के ज्ञानादि गुण अजीव में नहीं है अतः यह अजीव द्रव्य कहलाता है। यह न तो जानता है न ही देखता है, नहीं रसास्वाद करता है, नहीं श्रवणादि करता है। न ही सुख-दुःखादि का अनुभव करता है। जीव के गुण इसमें न

होने से जीव द्रव्य से सर्वथा भिन्न अजीव द्रव्य कहलाता है। अजीव स्वयं कर्ता भोक्ता नहीं है। अजीव के मुख्य भेद में जो धर्मास्तिकाय आदि है उनका मुख्य स्वरूप इस प्रकार है –

(१) धर्मास्तिकाय द्रव्य – यह गति सहायक द्रव्य है। जीव और पुद्गल परमाणु को चौदह राजलोक में गति करने में सहायक माध्यम धर्मास्तिकाय नामक द्रव्य है। यह चौदह राज परिमित लोक व्यापी द्रव्य है। स्वयं निष्क्रिय, अरूपी असंख्य प्रदेशात्मक अस्तिकाय द्रव्य है।

(२) अधर्मास्तिकाय द्रव्य – यह स्थिति सहायक द्रव्य है। जीव एवं पुद्गल परमाणु जो गति करने वाले द्रव्य है उनको रूकने के लिए स्थिति में सहायक यह अधर्मास्तिकाय द्रव्य है। यह भी लोक व्यापी अरूपी द्रव्य है। स्वयं निष्क्रिय है। जीवादि इसकी सहायता से स्थिति धारण करते हैं। असंख्य प्रदेशी अस्तिकाय युक्त

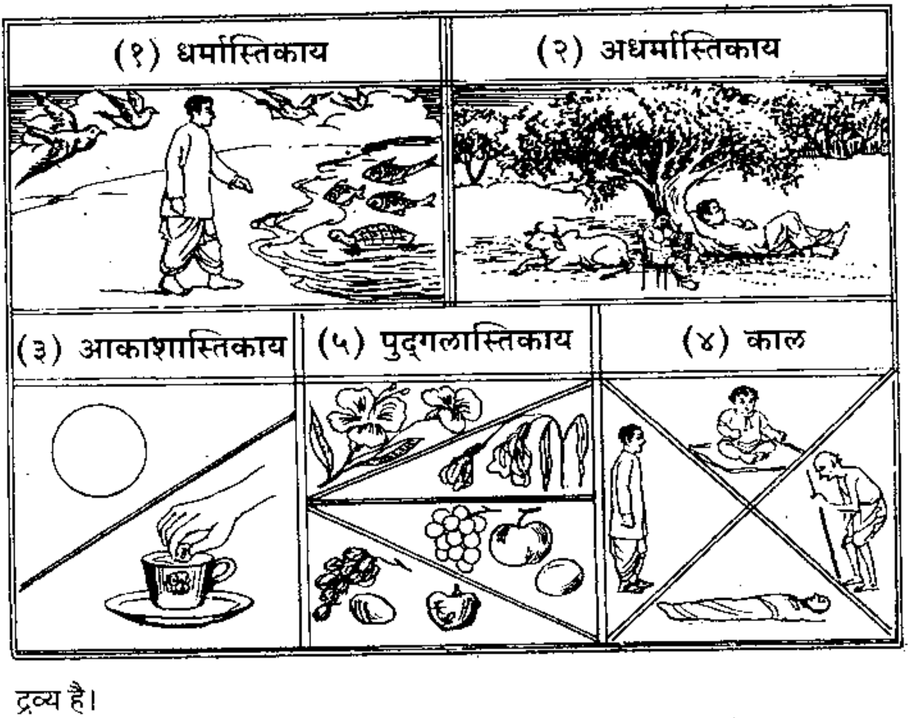

द्रव्य है।

(३) आकाशास्तिकाय द्रव्य – लोकालोक व्यापी यह अनंत आकाश द्रव्य है। जीव–पुद्गल–आदि द्रव्यों को रहने के लिए जगह देने वाला, अवकाश प्रदान करने वाला यह आकाशास्तिकाय द्रव्य है। यह भी सप्रदेशी होने से अस्तिकाय युक्त अरूपी द्रव्य कहलाता है। यह सभी अन्य द्रव्यों के लिए आधारभूत द्रव्य हैं। हम सब इसी में रहते हैं।

(४) काल – यह अजीव द्रव्य है। **'वर्तनालक्षणो काल:'** वर्तना अर्थात् – परिवर्तन । नया–पुराना, आज का–कल का इत्यादि परिवर्तन कालानुसार होता है। यह अप्रदेशी होने से अस्तिकाय में गिना नही जाता है।

(५) पुद्गलास्तिकाय द्रव्य – पूरण–गलन स्वभाव वाला यह पुद्गल द्रव्य है अर्थात् बनने–बिगड़ने के स्वभाव वाले को पुद्गल द्रव्य कहते हैं। यह प्रदेश–समूहात्मक होने से सप्रदेशी अस्तिकाय द्रव्य है स्कंध–देश–प्रदेश और परमाणु इसकी ४ अवस्थाएं है।अणु–परमाणु सिर्फ पुद्गल के ही विभाग में गिने जाते हैं। **'वर्ण–गंध–रस–स्पर्शात्मको पुद्गल:'** जो वर्ण–गंध–रस–स्पर्शादि गुण वाला हो उसे पुद्गल कहते हैं। अतः जगत की सभी वर्णादि गुण वाली वस्तुएं पौद्गलिक कहलाती है । यह भी चौदह राजलोकव्यापी द्रव्य है।

अजीव द्रव्य के १४ भेद

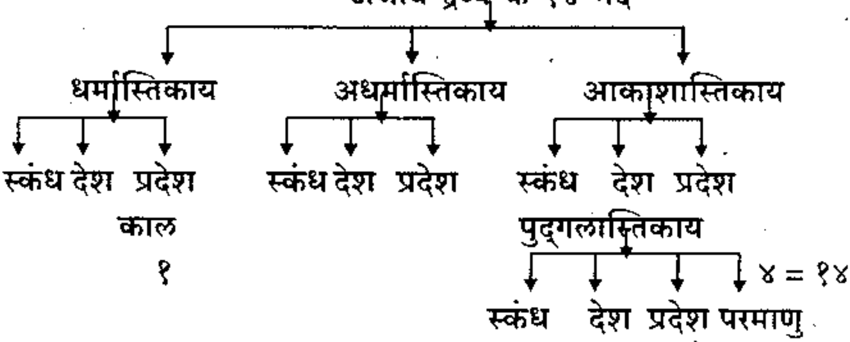

एक अखंड द्रव्य स्कंध कहलाता है। उसी स्कंध का अविभाजित अल्प भाग, छोटा भाग देश कहलाता है। तथा उसी स्कंध और देश का अविभाजित एक छोटा सूक्ष्मांश प्रदेश कहलाता है । तथा वही सूक्ष्मतम अंश प्रदेश जो स्कंध देश से अलग हो जाता है तब वह परमाणु कहलाता है। धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय में तीनों सर्वलोक व्यापी अखंड स्कंध द्रव्य है। असंख्य प्रदेशी है। परंतु इनका एक भी प्रदेश अलग नहीं होता है। अतः इनमें परमाणु का भेद नहीं पड़ता है।

पुद्गल के चार भेद है (१) स्कंध – कोई भी पौद्गलिक एक अखंड वस्तु स्कंध कहलाती है। चाहे वह छोटी हो या बड़ी हो परंतु एक अखंड होनी चाहिए (२) इसी का अविभाजित छोटा भाग देश कहलाता है (३) उसी का एक सूक्ष्मतम अंश जो अविभाजित हो, स्कंध से अलग न हुआ हो वह प्रदेश कहलाता है (४) वही सूक्ष्मतम अदृश्य प्रदेश स्कंध से अलग हो जाय, विभक्त हो जाय वह स्वतंत्र रूप से अणु कहलाता है। जैन दर्शन में अणु को ही परमाणु कहते हैं। अणु–परमाणु में कोई भेद नहीं है।

परमाणु का स्वरूप :-

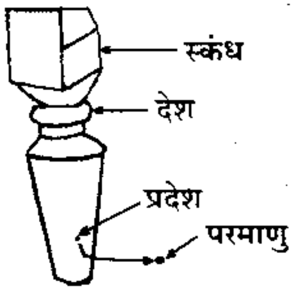

स्कंध का सूक्ष्मतम प्रदेश जो स्कंध से विभाजित होकर अलग हो गया है अब वह स्वतंत्र रूप से स्वयं अविभाजित हो वह परमाणु कहलाता है। परमाणु अछेद्य-अभेद्य-अदृश्य-अकाट्य-अदाह्य होते हैं। जिनको छेदन करने से छेद नहीं सकते क्योंकि वे अछेद्य है, भेदन करने पर भेद नहीं सकते वह अभेद्य, आंखो से जो दिखाई नहीं देते वह अदृश्य तथा जो जलते भी नहीं वे अदाह्य परमाणु होते हैं। साथ ही Undivideble अविभाज्य होते हैं। विज्ञान ने अणु को एक स्वतंत्र सूक्ष्मतम इकाई माना है। पहले अणु को अविभाजित मानते थे अब विभाज्य मानते हैं। विस्फोट करते हैं। एक परमाणु के साथ इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन, न्युट्रॉन और अब पॉजिट्रॉन को संयुक्त रूप से माना है। अतः ऐसा लगता है कि यह परमाणु के बजाय स्कंध हो गया। परमाणु तो एक अणु ही होता है। जब वह द्वयणुक, त्र्यणुक, चतुर्णुक आदि अधिक संख्या में यदि दो-तीन-चार-पांच अणु मिलते हैं तब वे अणु-अणु नहीं रहते पुनः स्कंध का रूप धारण कर लेते हैं। संघात-विघात की क्रिया से ही पुद्गल में परिवर्तन होता है। संघात से परमाणु रूप बन जाता है। मिट्टी के परमाणु असंख्य-अनंत की संख्या में इकट्ठे होकर घड़ा बन जाते है। अब वह एक स्कंध कहलाएगा। एक दिन घडा फुट गया और पुनः मिट्टी के कणकण में विभाजित हो गया। उस मिट्टी का एक सूक्ष्मतम अविभाजित अंश परमाणु कहलाएगा। इस तरह संसार में संघात-विघात की क्रियाएं सतत चलती रहती है। अतः अणु स्कंध में और स्कंध पुनः अणु रूप में सतत परिवर्तित होते ही रहते हैं। परमश्चासौ अणुः परमाणुः। जो परम सूक्ष्म अणु है वही परमाणु है। उसे ही अणु कहते हैं। अणु शब्द के आगे ही परम विशेषण लगा दिया है। अर्थ की दृष्टि से अणु और परमाणु दोनों शब्द समार्नाक है। अर्थ भेद नहीं है। ये परमाणु पुद्गल द्रव्य के ही सूक्ष्मतम अंश है।

स्कंध देश प्रदेश परमाणु

स्कंध-देश-प्रदेश-परमाणु ये चारों अवस्था पुद्गल की ही है अतः परमाणुओं में भी पुद्गल के गुणधर्म मौजुद रहते हैं। वर्ण-गंध-रस-स्पर्श-शब्द आदि जो पुद्गल के गुण धर्म है वे परमाणु में रहते हैं। पांच वर्णों में से कोई १ वर्ण, २ गंध में से कोई एक गंध, पांच रसों में से कोई १ रस और ८ स्पर्श में से कोई २ स्पर्श। या तो शीत या उष्ण, अथवा तो स्निग्ध या रूक्ष, अथवा गुरू (भारी) या लघु (हल्का) इस तरह परमाणु में वर्ण-गंध-रस-स्पर्श-ध्वनि आदि गुणधर्म रहते ही हैं। तभी परमाणु के स्कंध बनने से उसमें प्रगट होते हैं। यदि रेती के एक-एक कण में भी

तेल नहीं होता है, अतः उस रेती के लाखों कण यदि घानी में पीले भी जाय तो भी तेल नही निकलता है। उसी तरह परमाणु में ही तथाप्रकार के वर्ण-गंध-रस-स्पर्शादि गुणधर्म भरे पड़े हैं अतः वे ही संघात प्रक्रिया के बाद स्कंध में प्रगट होते हैं।

पुद्गल के लक्षण :-

सद्दंधयार उज्जोअ, पभा छायाऽऽ तवेहिय ।
वण्ण-गंध-रसा-फासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ।।

नवतत्त्व प्रकरण के इस श्लोक में शब्द, अंधकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप तथा वर्ण-गंध-रस स्पर्शादि ये सभी पुद्गल के लक्षण बताए हैं। अतः शब्दादि ये सभी पौद्गल हैं।

शब्द - {कसी भी प्रकार की ध्वनि-शब्द ये पौद्गलिक है। सचित्त-अचित्त-एवं मिश्र इस तरह ३ प्रकार की ध्वनि होती है। नैयायिकों ने शब्द को आकाश का गुण माना है यह न्याययुक्त नहीं है। रेडियो, टी.वी., टेलीफोन के माध्यम से शब्द पकड़े जाते हैं अतः पौद्गलिक है।

उद्योत - अर्थात् शीत (ठंडा) प्रकाश। चंद्र तथा चंद्रकान्तमणि आदि शीतल वस्तुओं का शीतल प्रकाश यह उद्योत भी पौद्गलिक है।

छाया - प्रतिबिंब को छाया कहते हैं। आज छाया चित्र बनते हैं। प्रकाश का अवरोध करके पड़ने वाली छाया भी पौद्गलिक है।

अन्धकार - अन्धेरा, रात्रि का अन्धेरा या जहां प्रकाश नहीं पहुँचता ऐसे तलघर का अन्धेरा आदि। अन्धेरा-अन्धकार जो दिखाई देता है यह भी पौद्गलिक है। नैयायिकों की तरह तेज का अभाव तम नहीं है। यह अन्धेरा भी स्वतंत्र पुद्गल

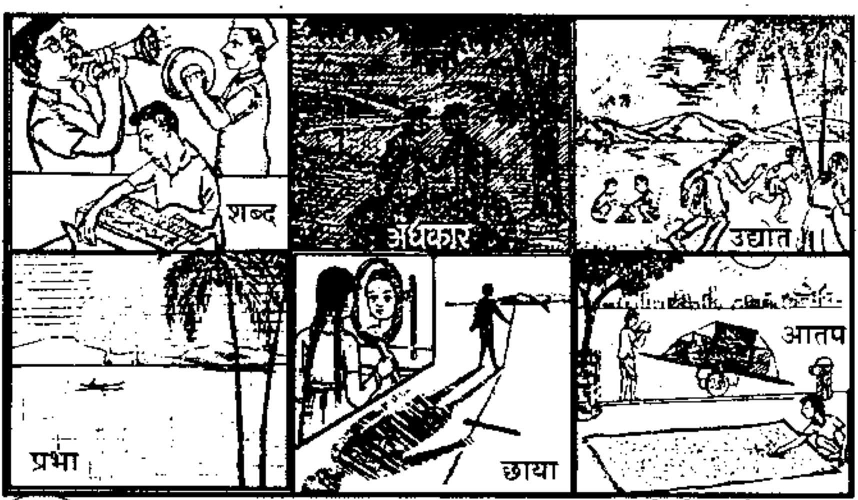

परिणाम विशेष है।

प्रभा – सूर्योदय के पूर्व अरूणोदय का प्रकाश पौफटन के पूर्व का प्रत्यूह, प्रकाश जबकि किरणें नहीं निकली है वह प्रकाश प्रभा कहलाता है। या मकान में धूप न आती हो वह उप प्रकाश भी प्रभा है। तथा रत्नकांति, तेज आदि पौद्गलिक प्रभा है।

आतप – सूर्य की सीधी धूप को आतप कहते हैं। अथवा सूर्यकांत मणि एवं सूर्य के उष्ण प्रकाश को आतप कहते हैं।

वर्ण–गंध–रस–स्पर्शादि :–

इस चित्र में वर्ण गंध–रस–स्पर्शादि बताए गए हैं। काला–हरा–लाल–पीला–सफेद ये पांच प्रकाश के वर्ण होते हैं। सुगंध तथा दुर्गंध २ गंध है। खट्टा–तीखा–मीठा–तुरा एवं कडवा ये पांच प्रकार के रस है। तथा शीत,उष्ण,स्निग्ध,रूक्ष, लघु, गुरू अर्थात् हल्का–भारी, तथा मृदु,कर्कश ये ८ प्रकार के स्पर्श है। अजीव तत्त्व के पुद्गल विभाग का यह विवेचन किया है, चूंकि कर्म भी पौद्गलिक है पुद्गल परमाणुओं से जन्य है। अतः कर्म की पौद्गलिकता को समझने के लिए पुद्गल को पहचानना जरूरी है इसलिए पुद्गल का स्पष्ट विवेचन किया है। पुद्गल एक स्वतंत्र द्रव्य है। यह जीव नहीं, सजीव नहीं अजीव द्रव्य है, इतना ख्याल आना जरूरी है चेतन आत्मा ही एक मात्र जीव द्रव्य है। जबकि अन्य सभी अजीव द्रव्य है। अजीव

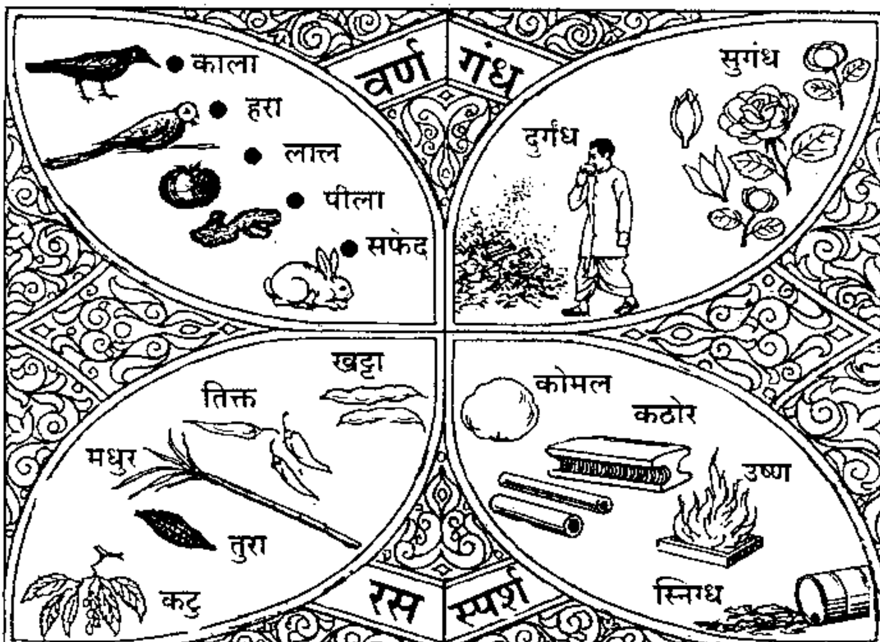

द्रव्य के ५ भेदों में पांचवा भेद जो पुद्‌गल का है उसके लक्षण तथा गुणधर्म का यह विवेचन यहां पर किया है। इससे पुद्‌गल का स्वरूप स्पष्ट समझ में आ जाय यह जरूरी है। समस्त संसार की अनंत जड़ वस्तुएं सभी पौद्‌गलिक है। जो भी आंखों से दिखाई देती है ऐसी किसी न किसी प्रकार के वर्ण-गंध-रस-स्पर्शादि वाली वस्तुएं पौद्‌गलिक है। पुद्‌गल जन्य पदार्थ दृश्यमान जगत सब पौद्‌गलिक है। यहां तक की हमारा शरीर भी पौद्‌गलिक है। वह भी पुद्‌गल से बना है,तथा आत्मा पर लगते कर्म भी पौद्‌गलिक है । ये शरीर तथा कर्मादि किस तरह पौद्‌गलिक है? किन पुद्‌गल परमाणुओं से बनते हैं? कौन से इनके घटक द्रव्य है? इसका विवेचन आगे किया जा रहा है।

परमाणु वर्गणा स्वरूप :-

जैन शास्त्र में जिसे पुद्‌गल कहा है उसे ही आधुनिक विज्ञान ने MATTER -पदार्थ कहा है। पुद्‌गल यह जैन शास्त्रों द्वारा ही प्रयुक्त एक विशेष अर्थवाला शब्द है। इस शब्द का प्रयोग जैन शास्त्र बाह्य कहीं भी नहीं मिलता। पुद्‌गल की ४ अवस्था में जिसे स्कंध कहा जाता है उसे विज्ञान Molecule कहता है,और परमाणु को Atom कहा है। यह समस्त ब्रह्मांड़ अनंतानंत परमाणुओं से भरा हुआ है। पुद्‌गल द्रव्य का स्वतंत्र अस्तित्व दो स्वरूप में है। एक परमाणु स्वरूप और दूसर स्कंध स्वरूप है। महा समर्थ ज्ञानी की ज्ञानधारा में भी जिसके दो भाग संभव नहीं है ऐसा निर्विभाज्य सूक्ष्मतम पुद्‌गल का अणु ही परमाणु स्वरूप में कहलाता है। यही परमाणु २-४-६ आदि अधिक संख्या में एकत्रित हुए हों तो उन्हें स्कंध कहा जाएगा। फिर वे द्वयणुकस्कंध, त्र्यणुकस्कंध, चतुर्णस्कंध, पंचाणुस्कंध आदि एक एक अणु की वृद्धि के आकार पर वे उतने परमाणुओं के बने हुए स्कंध कहलाएंगे। संस्थान अणुओं का स्कंध संख्याताणुकस्कंध एवं असंख्याताणुकस्कंध कहे जाएंगे। उसी तरह अनंत अणुओं से बने हुए स्कंध पुद्‌गल पदार्थ को अनंताणुकस्कंध पदार्थ कहेंगे। इन परमाणुओं में संघट्टन (संघात)विघट्टन (विघात) की क्रिया सदा ही होती रहती है। अतः संघट्टन की क्रिया से कई परमाणु संमिश्रित होकर स्कंध तूटकर पुनः परमाणु स्वरूप में आकार स्वतंत्र रहते हैं। इस तरह जुडना ओर बिखरना यह पुद्‌गल का स्वभाव ही है । यहां जैनों ने परमाणु की संघट्टन-विघट्टन आदि क्रिया में नैयायिकों की तरह ईश्वरेच्छा मानने की मूर्खता नहीं की है। जबकि पुद्‌गल का अपना स्वभाव ही है, उसी की क्रिया है फिर ईश्वरेच्छा मानने की आवश्यकता ही क्या है?

परमाणु और स्कंध रूप अस्तित्ववाले पुद्‌गल पदार्थ का भिन्न-भिन्न रूप

से जैन दर्शन शास्त्र में वर्गीकरण–विभाजन किया गया है। अनेक परमाणु संमिश्रित–सम्मिलित होकर समूह रूप में – पिंडीत रूप में रहे उसे स्कंध कहते हैं। समान संख्या प्रमाण परमाणु वाले स्कंधों की एक वर्गणा बनती है, वर्गणा अर्थात् अनेक परमाणुओं के समूह विशेष। समस्त ब्रह्मांड में ऐसी १६ महावर्गणाएं है ऐसे जैन शास्त्रों में बताया गया हैं।

(१) औदारिक अग्रहण योग्य महावर्गणा।
(२) औदारिक ग्रहण योग्य महावर्गणा।
(३) औदारिक तथा वैक्रिय शरीर के लिए अग्रहण योग्य महावर्गणा।
(४) वैक्रिय शरीर के लिए ग्रहण योग्य महावर्गणा।
(५) वैक्रिय तथा आहारक शरीर के लिए अग्रहण योग्य महावर्गणा।
(६) आहारक शरीर के लिए ग्रहण योग्य महावर्गणा।
(७) आहारक तथा तैजस शरीर के लिए अग्रहण योग्य महावर्गणा।
(८) तैजस शरीर के लिए ग्रहण योग्य महावर्गणा।
(९) तैजस शरीर और भाषा के लिए अग्रहण योग्य महावर्गणा।
(१०) भाषा के लिए ग्रहण योग्य महावर्गणा।
(११) भाषा और श्वासोच्छवास के लिए अग्रहण योग्य महावर्गणा।
(१२) श्वासोच्छवास के लिए ग्रहण योग्य महावर्गणा।
(१३) श्वासोच्छवास और मन के लिए अग्रहण योग्य महावर्गणा।
(१४) मन के लिए ग्रहण योग्य महावर्गणा।
(१५) मन और कर्म के लिए अग्रहण योग्य महावर्गणा।
(१६) कर्म के लिए ग्रहण योग्य महावर्गणा।

इस तरह ये १६ महावर्गणाएं है। इनमें ग्रहण योग्य वर्गणाएं आठ प्रकार की है। तथा अग्रहण योग्य वर्गणाएं भी आठ प्रकार की है। इसीलिए ८ + ८ =१६ बताई गई है। इनमें ८ ग्रहण योग्य वर्गणाओं का विशेष विचार करें। चौदह राजलोक परिमित इस लोक में सर्वत्र प्रसरी हुई अर्थात् काजल की डिब्बी में काजल ठूंस ठूंसकर भरी हो इस तरह इस ब्रह्मांड में ये वर्गणाएं ठूंस–ठूंसकर भरी हुई है। एक सूंई प्रवेश करा सकें इतनी भी जगह अनंत ब्रह्माण्ड में खाली नहीं है। ऐसी प्रमुख ८ वर्गणा का चित्र इस प्रकार है।

वर्गणाओं का कार्यक्षेत्र :–

चित्र में दर्शाएं अनुसार समस्त लोक में ठूंस–ठूंसकर भरी हुई ये पुद्गल परमाणुओं के संमिश्रित समूह रूप है। इसी लोक में अनंत जीव भी रहते हैं। वर्गणाएं

जीवों के लिए उपयोगी है। शरीर, भाषा, मन आदि बनाने में काम आती है। आत्मा इन्हीं पुद्गल परमाणुओं को खिंचकर उनका पिंड बनाकर शरीर, भाषा, मन, कर्मादि बनाती है। अतः ये Raw Material के रूप में जीवों के शरीरादि निर्माण में उपयोगी है। सभी भिन्न-गुणधर्म वाली है। अतः भिन्न भिन्न कार्य के उपयोग में आती है –

अष्ट महावर्गणा

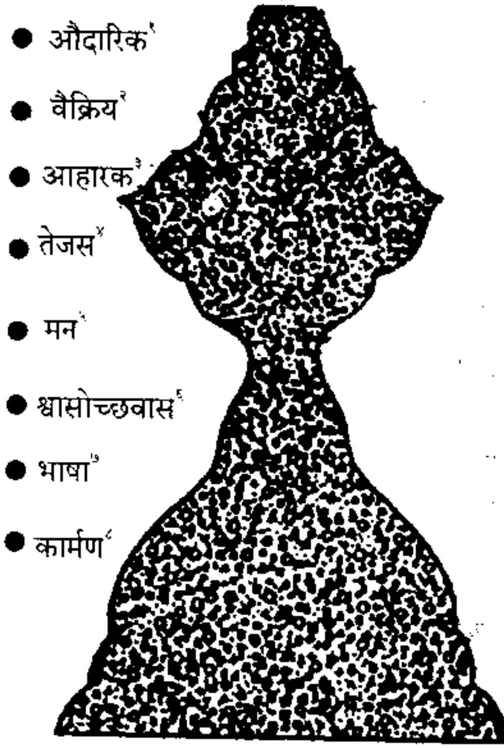

(१) औदारिक वर्गणा – मनुष्यों तथा तिर्यंच गति के पशु-पक्षियों के लिए औदारिक शरीर बनाने योग्य ऐसे पुद्गल परमाणुओं के समूह को औदारिक वर्गणा कहते हैं। इसी से हमारा शरीर बनता है अतः औदारिक शरीर कहलाता है।

(२) वैक्रिय वर्गणा – स्वर्ग के देवताओं का तथा नरक गति के नारकी जीवों का शरीर वैक्रिय शरीर है। अतः इन्हें उनका वैक्रिय शरीर बनाने के लिए बाह्य वातावरण में से जो उस योग्य पुद्गल परमाणुओं का समूह ग्रहण करना पड़ता है वह वैक्रिय पुद्गल परमाणु वर्गणा कहलाती है।

(३) आहारक वर्गणा – १४ पूर्वधारी मुनिराज महाविदेह आदि क्षेत्रों में तीर्थंकर के पास प्रश्न पूछने जाते समय आहारक शरीर की रचना करते हैं। तद् योग्य पुद्गल परमाणुओं को आहारक वर्गणा कहते हैं। इसी को ग्रहण कर वे आहारक शरीर बनाते हैं।

(४) तैजस वर्गणा – आत्मा के साथ रहे हुए सूक्ष्म तैजस शरीर बनाने योग्य वर्गणा को तैजस वर्गणा कहते हैं।

(५) श्वासोच्छवास वर्गणा – संसारस्थ सभी जीव श्वासोच्छ्वास लेते ही है। अतः श्वासोच्छ्वास लेने योग्य पुद्गल परमाणुओं को श्वासोच्छ्वास वर्गणा कहते हैं। जीव यही ग्रहण करता है।

(६) भाषा वर्गणा – जो व्यक्त–अव्यक्त भाषा बोलते हैं उन जीवों को बोलने के लिए भाषा वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं की आवश्यकता पड़ती है। इसे ग्रहण करके ही जीव बोल सकते हैं। अतः बोलने योग्य ग्रहण करने के लिए भाषा वर्गणा है।

(७) मन वर्गणा – संज्ञी समनस्क पंचेन्द्रिय सभी जीव विचार करते हैं। सोचने की क्रिया करने के लिए–विचारने के लिए जीव बाहरी वातावरण में से मनो वर्गणा को खिंचकर उसका पिंड बनाता है । उसे हम मन कहते हैं, अतः मन आत्मा नहीं है । मन आत्मा से भिन्न पौद्गलिक पिंड है। अजीव है।

(८) कार्मण वर्गणा – जीव राग–द्वेष–कषायादि के आधीन होकर आश्रव मार्ग में स्थित होकर बाहरी वातावरण में से कर्म योग्य कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं के समूह को खिंचता है। ग्रहण करता है उसे कर्मण वर्गणा कहते है। यही कार्मण वर्गणा कर्म रूप में परिणमन होती है, अर्थात् कार्मण वर्गणा का ही कर्म बनता है। कर्म बनाने योग्य पुद्गल परमाणुओं के समूह को कार्मण वर्गणा कहते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि कर्म पौद्गलिक है। जड़ है। आत्मा पर बाहरी आवरण विशेष है। सूक्ष्मतम होने के कारण अदृश्य है।

यह १६ महावर्गणाओं में ग्रहण योग्य अष्ट महावर्गणाओं का स्वरूप है। क्रमशः इनमें उत्तरोत्तर सूक्ष्म–सूक्ष्म होती जाती है। वैसे सभी सूक्ष्म है। परंतु पहली से दूसरी ज्यादा सूक्ष्म है। दूसरी से तीसरी और भी ज्यादा सूक्ष्म है। उसी तरह अन्तिम कार्मण वर्गणा सबसे ज्यादा सूक्ष्मतम है।अतः अत्यन्त सूक्ष्मतम होने से दृश्य नहीं है। उदाहरणार्थ जैसे समझीए–गेहूं का आटा कितना बारीक है। उससे भी उसका चापट कैसा स्थूल है ? तथा गेहूं का मैदा कितना ज्यादा बारीक है । उससे तरह इन वर्गणाओं में सूक्ष्म से सूक्ष्मतर का भेद है। इनमें सबसे ज्यादा अन्तिम कक्षा की सूक्ष्मता कार्मण वर्गणा में है। संसारस्थ जीव संसार में पुद्गल के आधार पर रहता है। अतः जीव के रहने के लिए जिस पर (शरीर) की आवश्यकता पड़ती है उसे निर्माण करने के लिए लोक में रही औदारिक आदि शरीर योग्य वर्गणा के समूह को ग्रहणकर जीव शरीर बनाता है। उसी तरह श्वासोच्छ्वास वर्गणा ग्रहण कर श्वासोच्छ्वास लेता है। उसी तरह भाषा वर्गणा के पुद्गल–परमाणुओं को ग्रहण कर जीव बोलता है। भाषाकीय वचन व्यवहार करता है। उसी तरह विचार करने के लिए मनोवर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण कर मन बनाता है। तभी जीव सोच सकता है – विचार कर सकता है,अन्त में संसार में परिभ्रमण करने हेतु–एक गति से दूसरी गति–जाति आदि में जाने एवं जन्म–मरणादि धारण करते हुए ८४ लक्ष जीव योनियों के चक्कर में चारों गति में घूमने के कारणभूत कर्म बनाने के लिए जीव कार्मण वर्गणा ग्रहण करता है।

उसी कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का बनाया हुआ पिंड ही कर्म कहलाता है। जब तक कार्मण वर्गणा आत्मा से नहीं मिली है अर्थात् आत्म प्रदेशों में कार्मण वर्गणा का प्रवेश नहीं हुआ है वहां तक वे कर्म नहीं कहलाते हैं। जब जीव कार्मण वर्गणा ग्रहण कर उसे कर्म पिंड रूप बनाता है तभी वह कर्म कहलाता है।

असंख्य प्रदेशी आत्मा :-

जैसे एक कपडे में तंतु से बना धागा खडी और आडी दो पंक्तियों में लगा रहता है। उन दोनों धागों के क्रोस पोइन्ट होते हैं। उसी तरह आत्मा एक द्रव्य है। उसमें असंख्य प्रदेश होते हैं। अतः यह असंख्य प्रदेशी एवं अखंड द्रव्य है। इन्ही असंख्य प्रदेशों पर बाहर से आई हुई कार्मण वर्गणा चिपकती है, परंतु इन असंख्य प्रदेशों में केन्द्र के आठ रुचक प्रदेश ऐसे हैं जिन पर कदापि कोई कार्मण वर्गणा नहीं चिपकती।

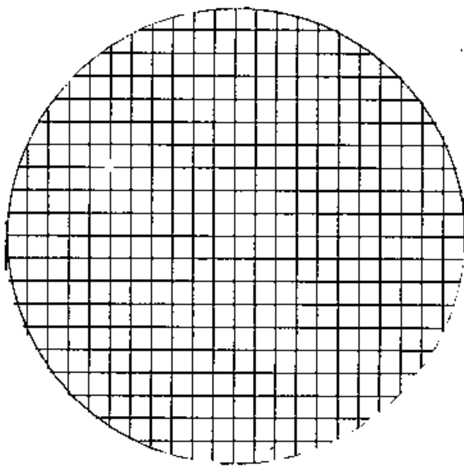

ये आठ रुचक प्रदेश सदा के लिए कर्म से अछूते ही रहते हैं। शुद्ध मूलभूत स्वरूप में रहते हैं। इनका स्वरूप कभी भी बदलता नहीं है। आत्मा के आठ मूल गुणों को व्यक्त स्वरूप में प्रगट रखने वाले ये आठ रूचक प्रदेश हैं। असंख्य में ये सिर्फ आठ ही ऐसे हैं। अन्य असंख्य प्रदेशों पर कार्मण वर्गणा लगती है। आत्मा इन असंख्य प्रदेशों का समूह स्वरूप एक अखण्ड द्रव्य है। यह आत्मा की रचना का स्वरूप है। कभी भी एक प्रदेश भी खंडित होकर अलग नहीं होता है। चाहे अकस्मात्न में अंग कट भी जाय तो भी कटे हुए अंग में रहे आत्म प्रदेश पुनः मूल शरीरी आत्मा में आ जाते हैं, परंतु कट कर अलग नहीं हो जाते। चाहे कितना भी छेदन-भेदन-विदारण-काटना आदि नरक में या कतलखाने में कहीं भी हो परंतु आत्मा कटती नहीं है। खंडित नहीं होती - सदा ही अखंड स्वरूप में रहती है। संकोच-विकासशील स्वभाव वाली आत्मा अपने असंख्य प्रदेशों का अत्यन्त संकूचन करके एक छोटे से छोटे या सूक्ष्म शरीर में भी समा कर रह जाती है। उसी तरह जब बड़ा स्थूल विशाल शरीर मिलता है तब फैलकर उसमें रहती है। तब आत्मा अपने आत्म प्रदेशों को फैला देती है। पक्षी के पंख जिस तरह फैलने पर लम्बे दिखाई देते हैं। और सिकुडने पर छोटे हो जाते हैं। समेट कर बन्द कर लेता है। मोर अपने पंख फैलाता है तब कितना क्षेत्र रोकता है और समेट लेता है तब कितनी जगह

घेरता है। दूसरा भी एक दृष्टांत है जब एक बल्ब को हॉल में लगाते हैं तो उसका प्रकाश पूरे हॉल में फैलता है। उसे ही यदि १०'X १०' की रूम में लगा दें तो प्रकाश रूम के क्षेत्र में ही फैलेगा। उसी तरह यदि उस बल्ब को एक छोटे बक्से में रखकर प्रज्वलित किया जाय तो प्रकाश सिर्फ उस बक्से में ही फैलेगा। प्रकाश के विस्तार का आधार क्षेत्र पर है। उसी तरह आत्मा के असंख्य प्रदेशों के विस्तार का आधार मिले हुए शरीर पर आधारित हैं। केवलि समुद्घात आदि करते समय आत्मा आत्म प्रदेशों को फैलाकर चौदह राजलोक व्यापी बना देती है। इतना विस्तार कर सकती है।

अनंत काल में अनंत कार्मण वर्गणाएं खिंचकर अनंत बार जीव ने कर्म बांध और अनंत बार सकाम या अकाम निर्जरा करके कर्म खपाए। वे ही कार्मण वर्गणाएं निर्जरित होते समय आत्म प्रदेशों को छोड़कर जाते समय एक आत्म प्रदेश को भी खिंचकर नहीं ले जा सकते है। अतः अनंत काल में भी आत्मा का एक प्रदेश भी छूटकर अलग नहीं होता है। इसीलिए आत्मा एक अखंड असंख्य प्रदेशी द्रव्य है।

कार्मण वर्गणा का ग्रहण :-

कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव जीव का गुण है अतः जीव ही कर्ता-भोक्ता कहलाता है। आत्मा में ही राग-द्वेषादि के द्वारा तथाप्रकार के स्पंदन होते हैं जिससे बाहरी प्रदेश में रही हुई कार्मण वर्गणा को आत्मा खिंचती है। समस्त चौदह राजलोक के इस अनंत ब्रह्मांड में कर्म योग्य कार्मण वर्गणा जो पुद्गल परमाणु के रूप में भरी पड़ी हैं। काजंल की डिब्बी मे भरी हुई काजल की तरह ठूंस ठूंस कर भरी पड़ी है।

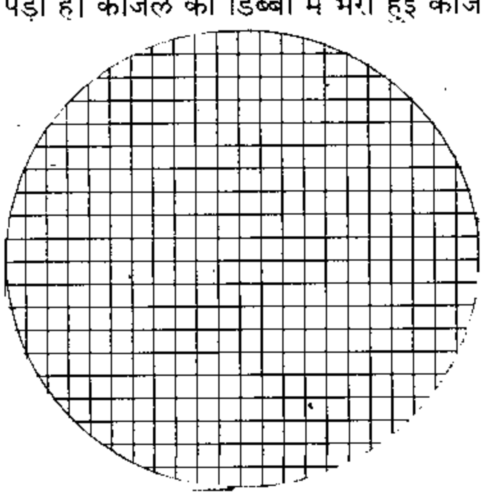

उसी कार्मण वर्गणा को जीव खिंचता है। यह जीव की ही क्रिया है। राग-द्वेषासक्त जीव में ऐसे स्पंदन पैदा होते हैं और वे कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को खिंचकर आत्मसात करते हैं। उदाहरणार्थ शांत सरोवर के स्थिर जल में यदि एक कंकड डाला जाय तो पानी की शांति एवं स्थिरता भंग हो जाती है और पानी में वमळ उत्पन्न हो जाते हैं। वे गोल वलय के रूप में फैलते-फैलते किनारे तक जाते हैं। वहां की रजकण को स्पर्श करके उसे अपने में खिंच लेते हैं। उसी तरह आत्मप्रदेशों में हुए राग-द्वेष जन्य स्पंदन के कारण आत्मा बाहरी प्रदेश की कार्मण

वर्गणा खिंच लेती है। आकर्षण का यह गुण और क्रिया आत्मा के गुण और क्रिया रूप में हैं। दूसरा दृष्टांत हम लोहचुम्बक का लें, चुम्बक में चुम्बकीय शक्ति पड़ी है। जिसके कारण चुम्बक स्वयं ही बाहरी लोहे के कणों को खिंचता है। बाहरी लोह कण आकर चुम्बक के साथ चिपक जाते हैं। यह चुम्बक की अपनी आकर्षण शक्ति से ही हुआ है। ठीक उसी तरह कर्तृत्व शक्ति सम्पन्न आत्मा सक्रिय द्रव्य है। कर्म के बीज भूत मूल कारण जो राग-द्वेषादि है इनके कारण आत्मा में हुए स्पन्दनों से आत्मा में कार्मण वर्गणाएं खिंचकर आती है। आकर्षित होती है। बार-बार की इस क्रिया से असंख्य कार्मण वर्गणाओं का आगमन आत्मा में होता है। ये धीरे-धीरे आत्म प्रदेशों पर जम जाती है।

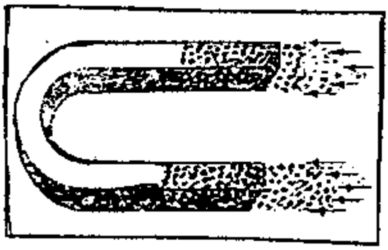

आश्रव मार्ग से कार्मण वर्गणा का आगमन :-

आश्रव

इन्द्रियाश्रव[1]	कषायाश्रव[2]	अव्रताश्रव[3]	योगाश्रव[4]	क्रियाश्रव[5]	
५	४	५	३	२५	= ४२

आश्रव - आ + श्रव = आश्रव अर्थात् आगमन - आना। आत्मा में बाहर से कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं के आने की क्रिया को आश्रव कहते हैं। नौं तत्त्वों में आश्रव को भी एक तत्त्व गिना गया है। आश्रव के मुख्य पांच द्वार कहे गये हैं। जिन माध्यमों से या जिस क्रिया से आत्मा में कार्मण वर्गणा आती है वे आश्रव द्वार है।(१) इन्द्रियाश्रव(२) कषायाश्रव (३) अव्रताश्रव (४) योगाश्रव और (५) क्रियाश्रव ये मुख्य पांच द्वार है। इन प्रवृत्तियों में रहा हुआ जीव कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को अपने में आने देता है। यह क्रिया जीव की ही है। उदाहरणार्थ सोचिए! चारों तरफ पहाड़िओं से घिरे सरोवर में जैसे पहाड़ों से बहते झरने के माध्यम से पानी आता है। नदी के माध्यम से पानी आता है और बीच का सरोवर भरता जाता है। दूसरा उदाहरण है - जैसे सरोवर के पानी के बीच तैरती हुई एक नौका में नीचे छिद्र पड़ गया। नौका काष्ठ-लकड़े की है। लकड़े का पानी पर तैरने का स्वभाव है। परंतु नौका में छिद्र पड़ने से पानी नौका में आता जा रहा है। पानी यदि भरता ही गया, नौका में बढ़ता ही गया तो थोड़ी देर में नौका के डूबने की संभावना खड़ी हो जाएगी। ठीक इसी तरह आत्मा कर्म के अभाव में हल्की है। परंतु राग-द्वेष के छिद्र के माध्यम से बाहरी आकाश प्रदेश से कार्मण वर्गणा आत्मा में प्रवेश कर रही है। नौका में तो एक ही छिद्र था परंतु आत्मा में कार्मण वर्गणा के आने के पांच द्वार मुख्य है।

इन्द्रियाश्रव आदि पांचों प्रवेश द्वारों से कार्मण वर्गणा का आश्रव आत्मा में हो रहा है। सोचिए, चेतन आत्मा में जड-पुद्गल परमाणुओं को आश्रव से आत्मा पर भार बढ़ता ही जाएगा। पुद्गल पदार्थ में तो वजन रहता ही है। जबकि आत्मा तो वजन रहित अगुरुलघु गुणवाली है परंतु कार्मण वर्गणा के भार से आत्मा भारी होकर नौका की तरह डूबती जाएगी। इन्द्रियाश्रव आदि पांच प्रकार के आश्रव द्वार की प्रवृत्ति कर रही आत्मा कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को अंदर खिंचती है।

(१) इन्द्रियाश्रव में इन्द्रियों की प्रवृत्ति के द्वारा आश्रव होता है। इन्द्रियां पांच है।

(१) स्पर्शेन्द्रिय	-	चमड़ी	-	स्पर्श विषय	-	८
(२) रसनेन्द्रिय	-	जीभ	-	रस विषय	-	५
(३) घ्राणेन्द्रिय	-	नाक	-	गन्ध विषय	-	२
(४) चक्षुइन्द्रिय	-	आंख	-	वर्ण विषय	-	५
(५) श्रवणेन्द्रिय	-	कान	-	ध्वनि विषय	-	३
पांच इन्द्रियों के				कुल-विषय	-	२३

संसार में सभी जीव सशरीरी है और शरीर है तो इन्द्रियां अवश्य है जो सभी को समान नहीं मिलती कम-ज्यादा मिलती है। किसी को १ किसी को २,३,४ और ५. अतः जीवों में एकेन्द्रिय,दोइन्द्रिय,तीनइन्द्रिय,चारइन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय के भेद है। इन्द्रियों के माध्यम से शरीरस्थ जीव उन उन विषयों को ग्रहण करता है। स्पर्शेन्द्रिय से ८ प्रकार के स्पर्श का ही ग्रहण होगा। उससे आत्मा को स्पर्शानुभव ज्ञान होता है।

इसी प्रकार पांचों इन्द्रियां अपने अपने विषय को ग्रहण करती है, तथाप्रकार के विषयों में आत्मा राग-द्वेष के आधीन होती है। कुछ विषय प्रिय लगते है। सुगंध प्रिय है, दुर्गंध अप्रिय है। मीठा-मधुर रस प्रिय है। कटु-कडवा रस अप्रिय लगता है। इस तरह २३ विषयों में कुछ में जीव ने प्रिय की बुद्धि बनाई है और कुछ में अप्रिय की बुद्धि बनाई है। ये प्रिय-अप्रिय भाव राग-द्वेष के कारण होते हैं। अतः राग-द्वेष के आधीन होकर आत्मा कई कर्मों का आश्रव करती है। इस प्रकार के राग-द्वेष में इन्द्रियां निमित्त बनी है अतः इन्द्रियाश्रव कहलाएगा। यह ५ प्रकार का है ।

(२) कषायाश्रव – क्रोध-मान-माया और लोभ ये ४ कषाय है। कष् + आय = कषाय। कष् अर्थात् संसार और आय अर्थात् = लाभ। अर्थात् कषाय का अर्थ संसार का लाभ होता है। आत्मा इन क्रोधादि कषायों के आधीन जब भी होती है तब आत्मा का संसार बढ़ता है। इसलिए ये कषाय भी आत्मा में कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को खींचकर लाने का आश्रव का कार्य करते हैं। अतः चार प्रकार का कषायाश्रव कहलाता है।

(३) अव्रताश्रव – व्रत ५ है । अहिंसा-सत्य-अस्तेय ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह ये ५ व्रत धर्मस्वरूप है। आत्मा इनमें रहे तो कर्माश्रव नहीं होता है,उपर से कर्म क्षय होता है। परंतु सभी जीव इन पांच व्रतों में नहीं रहते है। अधिकांश जीव इनसे विपरीत अव्रतों में रहते हैं। अ + व्रत = अव्रत। अर्थात् व्रत का अभाव = अव्रत। व्रत से विपरीत चलना यह अव्रती का कार्य है। हिंसा-झूठ-चोरी-मैथून सेवन तथा परिग्रहवृत्ति ये पांच अव्रत है। व्रत से सर्वथा विपरीत अव्रत है। जीव जब हिंसा-झूठ-चोरी आदि अव्रतों का आचरण करता है, तब आत्मा में कार्मण-वर्गणा का आश्रव होता है। काफी ज्यादा प्रमाण में कर्म लगते हैं। अतः ५ प्रकार के हिंसादि अव्रताश्रव है।

(४) योगाश्रव – मन, वचन और काया (शरीर) ये ३ योग कहलाते है। संसारी जीवों को ये तीन साधन मिलते हैं। प्रत्येक जीव को शरीर तो अवश्य मिलता ही है। बिना शरीर के कोई जीव संसार में रहता ही नहीं है। अशरीरी सिर्फ सिद्ध-मुक्त ही कहलाते हैं। द्वीन्द्रिय से उपर के जीवों को दूसरा वचन योग मिलता है। तथा सिर्फ संज्ञि पंचेन्द्रिय जीवों को ही मन मिलता है। इस तरह ये ३ साधन जीवों को मिलते हैं। इन्हीं के जरिए जीव कर्मबंध या कर्मक्षय की प्रवृत्ति करता है। तत्त्वार्थधिगमसूत्र में कहा है - **"काय-वाङ-मनःकर्मयोगः"**Ÿ& काया वचन और मन के द्वारा जीव कर्म से जुडता है। कर्मयोग इनके माध्यम से होता है। अशुभ पाप कर्म भी ये ३ ही बंधाते है और शुभ पुण्य कर्म भी ये ३ ही बंधाते हैं। अतः योगाश्रव में इन ३ को आश्रव का कारण गिना है।

(५) क्रियाश्रव – संसारी जीव विविध प्रकार की क्रियाएं करता है।

गमना-गमन जिस तरह क्रिया है, उसी तरह विदारणी, राग करना, प्रेम करना, द्वेष शस्त्रादि बनाना, हिंसा करना, आरम्भ समारंभादि करना ये सब क्रियाएं हैं। ऐसी २५ प्रकार की मुख्य क्रियाएं हैं। जीव जब इस प्रकार की क्रियाओं के आधीन होता है तब जीव में कार्मण वर्गणा का आश्रव होता है। जीव कर्माणुओं से लिप्त होता है। कौन सा जीव संसार में क्रिया नहीं करता है? सभी करते हैं। अतः सभी कर्मों से बंधते हैं। सिद्धात्मा ही सिर्फ अक्रिय-निष्क्रिय है यानी सर्वथा क्रिया रहित है।

इस प्रकार पांच मुख्य आश्रव द्वारों के ४२ भेद हुए। इन ४२ तरह से जीव में कार्मण वर्गणा का आश्रव होता है। आत्म प्रदेशों में कार्मण परमाणु भर जाते हैं।

आश्रव के बाद बन्ध :-

जैसा कि चित्र में बताया गया है - दो ग्लास दूध के हैं। पहले ग्लास में दूध में शक्कर डाली जा रही है। दूध में बाहर से शक्कर का आना यह आश्रव मार्ग है। वैसे ही बाहर से कार्मण वर्गणाओं का आत्म प्रदेश में आना यह आश्रव है। परंतु शक्कर के

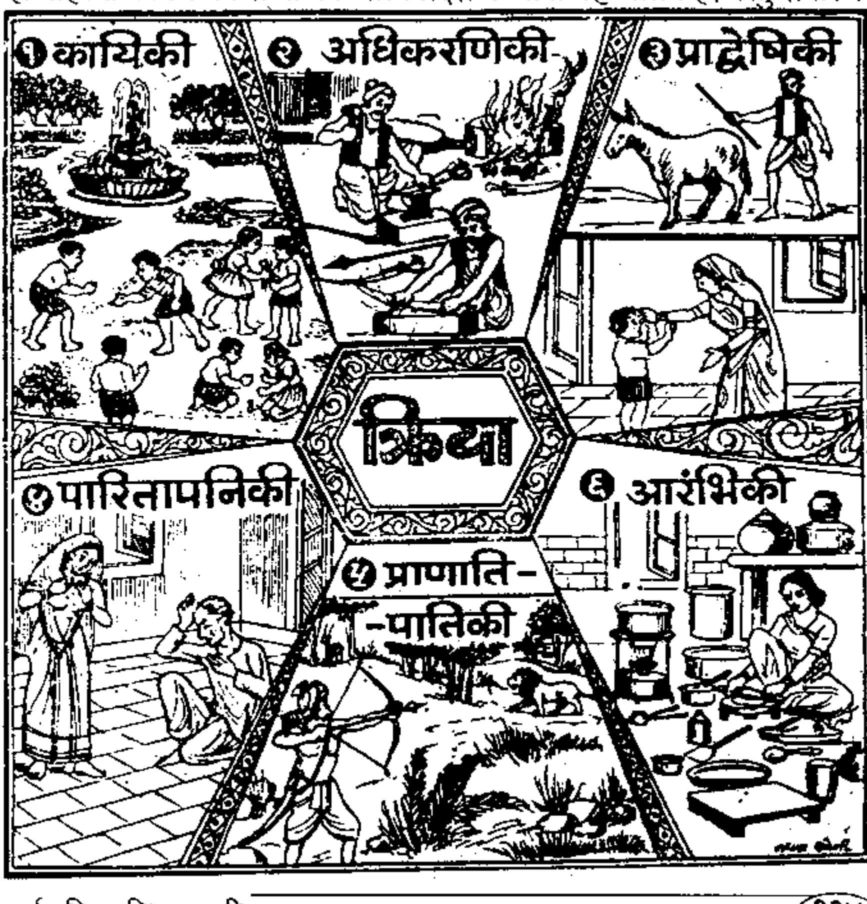

आने मात्र से ही दूध मीठा नहीं हो जाता। एक मां ने बेटे को चीनी डालकर एक ग्लास दूध पीने के लिए दिया, परंतु दूध फीका लगते ही बेटे ने पीने से इन्कार कर दिया और रोने लगा दूध फीका है मैं नहीं पीऊंगा। माँ कहती है फीका नहीं है मीठा है, मैंने बहुत ज्यादा चीनी डाली है। बेटा कहता है, बिल्कुल चीनी नहीं है। मां बेटे के बीच के संघर्ष को पिता ने सुलझाया। एक चम्मच लेकर ग्लास में खूब हिलाया। २ मिनिट में शक्कर पिघल गई। बेटा मीठा दूध पीकर खुश हो गया। जो हिलाने की क्रिया करके दूध-शक्कर को एक रस बनाया गया, शक्कर सर्वथा पिघल गई और दूध में मिल गई-

मिश्रित हो गई, उसी तरह बाहर से आई हुई कार्मण वर्गणा आत्म प्रदेशों के साथ मिलकर, मिश्रित होकर एक रस बन जाय उसे बंध तत्त्व कहते हैं।

दूसरे चित्र में एक प्याले में पांच ग्लासों का पानी + दूध मिश्रित किया जा रहा है। पांचों ग्लासों में अलग-अलग द्रव्य है। किसी में दूध तो किसी में पानी है। सभी का मिश्रण एक प्याले में हो रहा है। एक प्याले में भिन्न-भिन्न पदार्थों के आगमन की क्रिया को आश्रव कहते हैं। उसी तरह आत्मरूपी एक प्याले में इन्द्रियाश्रव आदि पांच द्वारों से कार्मण वर्गणा का जो आगमन होता है वह आश्रव कहलाता है, परंतु प्यालें में पांचों ग्लासों का द्रव्य एकत्र हो गया। मिश्रित हो गया। अब दूध-अलग,पानी अलग,चीनी अलग इस तरह अलग-अलग नहीं दिखाई देंगे। चीनी पिघलकर दूध-पानी में मिलकर तदाकार बन गई है। यह मिश्रण अब एकाकार दिखाई देगा। ठीक उसी तरह भिन्न-भिन्न इन्द्रियाश्रवादि आश्रव मार्गों से आई हुई कार्मण वर्गणा आत्म प्रदेशों के साथ मिलकर एक रस हो जाते हैं। इसे क्षीर-नीरवत् बन्ध कहते हैं। आत्म+कर्म का एकरसात्मक मिश्रण यह बंध कहलाता है।

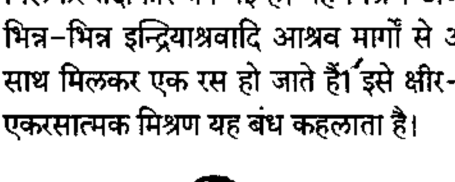

तिसरा एक दृष्टान्त है। सिगड़ी के जलते अंगारे पर एक लोहे का गोला रखा जाय। देखते ही देखते थोड़ी देर में वह लाल बन जाएगा। अग्नि की ज्वाला में तपकर लाल बन गया। गोला लोहे का है। देखने में बिल्कुल काला है,परंतु अग्नि के संयोग

में लाल बन गया। सोचने की बात यह है कि लोहे के मजबूत गोले में जहां सूंई भी नहीं प्रवेश कर सकती, पानी भी प्रवेश नहीं कर सकता। तनिक भी जगह नहीं है फिर भी अग्नि कैसे प्रवेश कर गई ? अग्नि गोले के आर-पार चली गई। सारे गोले का काला रंग बदल दिया। लाल कर दिया। मानों अग्नि और गोला एक रस हो गए हो। अग्निमय गोला हो गया। ठीक इसी तरह आत्मा भी एक गोले जैसी है। असंख्य प्रदेशी चेतन द्रव्य है। बाहर से आई हुई कार्मण वर्गणा आश्रव मार्ग से आकर आत्म प्रदेशों

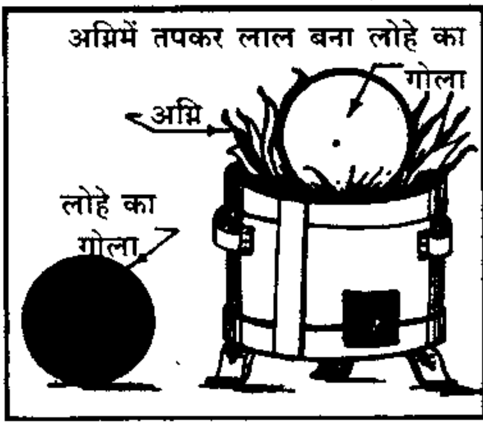

में चिपक;गई है। आत्म प्रदेशों की संख्या से तो अनंतगुनी ज्यादा कार्मण वर्गणाएं आकर आत्मा के साथ मिलकर एकरस बन गई है। अतः "**तप्तअयः पिण्ड**" तपे हुए लोहे के गोले की तरह आत्मा + कर्म पुद्गलों का मिश्रण ही बंध तत्त्व कहलाता है। लोहे में अग्नि की तरह आत्मा में कार्मण वर्गणाओं का प्रवेश होता है। वे मिलकर तदरूप तन्मय बन जाती है। अब आत्मा कर्म में भेद नहीं दिखाई देता है। ऐसा एक रसात्मक मिश्रण हो जाता है, यह कर्मबन्ध कहलाता है। अब आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में नहीं दिखाई देती। कर्म संयोग से मलीन, कर्ममय दिखाई देती है।

आत्म गुणों को ढकने वाले कर्म :-

समझने के लिए एक चित्र पास में दिया है। ८ प्रकार के भगोने हैं। जिनमें भिन्न-भिन्न खाद्य सामग्री है। किसी में चाय, किसी में दूध, किसी में सब्जी-चावल-दाल आदि। उन भगोनों पर ढक्कन ढक दिया है, इससे ये पदार्थ उन भगोनों में ढक गए-छिप गए। ठीक उसी तरह आत्मा के भिन्न-भिन्न ८ गुण है। उन गुणों पर बाहर से आई हुई कार्मण वर्गणा जम गई। जैसे १-२ महिने के लिए घर बन्द कर बाहर गांव जाते हैं और वापिस आने के बाद घर खोलते ही घर में धूल के ढेर दिखाई देते हैं। कितनी भी अच्छी मारबल की टाइल्स हो परंतु धूल के रजकणों से आच्छादित होने से टाइल्स का रूप-रंग-डिजाइन दिखाई नहीं देंगे। ठीक उसी तरह आश्रव मार्ग से आई हुई कार्मण वर्गणा आत्म प्रदेशों पर छा जाती है-जम जाती है। परिणाम स्वरूप आत्म गुण दब जाते हैं-ढक जाते हैं। स्पष्ट दिखाई नहीं देते। अतः भगोनों को ढकने

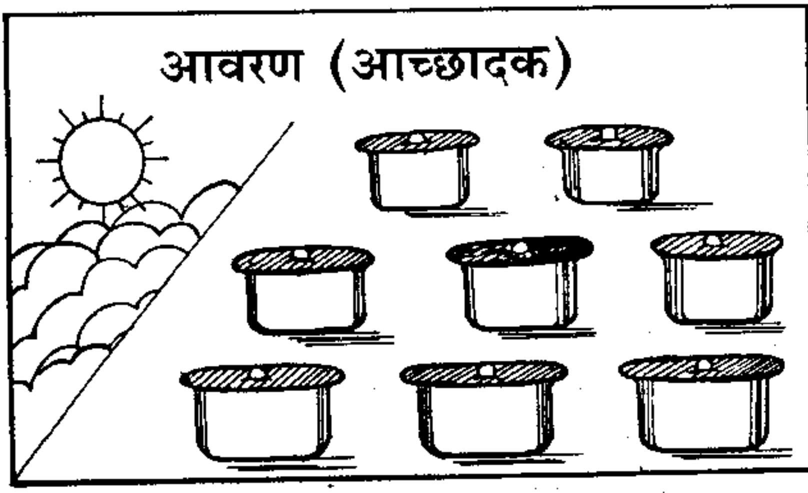

वाले ढक्कन की तरह आत्म गुणों को ढकने वाले कर्मों को आवरण कहते हैं। आवरण = अर्थात् ढकना। बाधक तत्त्व। आवरण यह संस्कृत शब्द है। ढक्कन यह हमारा चालु भाषा का शब्द है। अतः कर्मों ने क्या किया? कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं ने क्या किया? आत्म गुणों को ढक दिया-दबा दिया-छिपा दिया, यह ढकना-दबाना-छिपाना आवरण क्रिया कहलाती है। आवरण की क्रिया अर्थात् आच्छादन करने वाले कर्म आवरणीय कर्म कहलाते हैं।

कर्मों के नाम अलग से नहीं कहलाते हैं। कर्मों के अपने स्वतंत्र नाम नहीं पडे हैं। आत्मा के जिस गुण को कर्म ढकते हैं। उस गुण के आवरणीय वे कर्म कहलाएंगे। जैसे जन्मे हुए जातक का नाम उस राशी और नक्षत्र के चरणानुसार पड़ते हैं। वैसे ही कर्मों के नाम आत्मा के गुणों को ढकने वाले आवरक के रूप में पड़ते हैं। आत्मा के गुण भिन्न-भिन्न है अतः कर्मों के नाम भी भिन्न-भिन्न पड़ेंगे। आत्मा के गुण ८ है इसलिए कर्म भी ८ है।

आत्म गुण	**आवरक कर्मों के नाम**
(१) अनंत ज्ञान गुण	- ज्ञानावरणीय कर्म
(२) अनंत दर्शन गुण	- दर्शनावरणीय कर्म
(३) अनंत चारित्र गुण	- मोहनीय (चारित्रावरणीय) कर्म
(४) अनंत वीर्य गुण	- अंतराय कर्म
(५) अनामी-अरूपी गुण	- नाम कर्म
(६) अगुरुलघु गुण	- गोत्र कर्म
(७) अनंत (अव्याबाध) सुख गुण	- वेदनीय कर्म
(८) अक्षय स्थिती गुण	- आयुष्य कर्म

(१) आत्मा के अनंत ज्ञान गुण को ढकने वाले कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं के पिंड रूप बने कर्मावरण का नाम ज्ञानावरणीय कर्म है। आत्मा के आठ विभाग गुणानुसार किए गए हैं। आत्म प्रदेशों पर आई हुई कार्मण वर्गणा उन उन विभाग के आधार पर उन उन गुण को ढकने वाले आवरक कर्म के नाम से पहचानी जाती है। इसलिए आत्म गुण के नाम को जोड़कर आवरण शब्द लगाकर कर्म का नाम बनाया है। या दूसरा तरीका है उस गुण के ढक जाने से – दब जाने से उस कर्म ने क्या किया है, क्या असर है उस रूप से भी नामकरण की व्यवस्था की गई है।

(२) आत्मा के अनंत दर्शन गुण को ढकने वाले कर्म को दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

(३) आत्मा के अनंत चारित्र गुण को ढकने वाले कर्म को चारित्रावरणीय कर्म भी कहते हैं। या दूसरी रीत से आत्मा के अव्याबाध स्वरूप को जो कि शुद्ध स्वरूप है उसे रोक कर मोहग्रस्त करने वाले कर्म को मोहनीय कर्म कहते हैं।

(४) आत्मा में अनंत वीर्य गुण है। वीर्य यहां शक्ति अर्थ में प्रयुक्त है। इस अनंत वीर्य गुण का आवरक अर्थात् अवरोधक अंतराय कर्म के नाम से पहचाना जाता है।

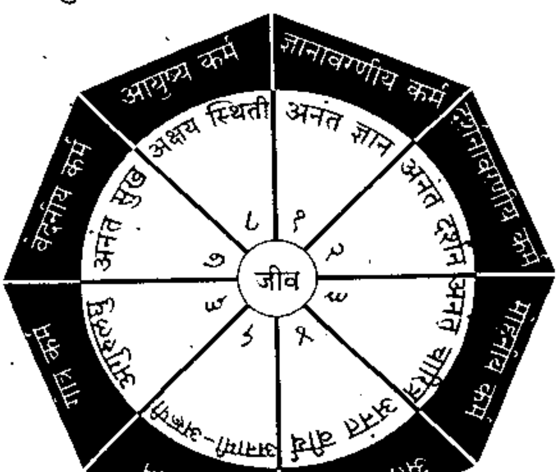

अंतराय करना अर्थात् विघ्न डालना–अवरोध करना। इस पर से अंतराय कर्म नाम पड़ा। यह आत्मा की शक्तियों को, उपलब्धियों को प्रगट होने में विघ्न अंतराय करता है।

(५) चेतन आत्म द्रव्य स्वस्वरूप अनामी है। अरूपी है। आत्मा का कोई नाम नहीं है। आकार विशेष भी नहीं है। आत्मा का कोई रंग–रूप भी नहीं है। आत्मा कोई हाथ–पैर वाली आकृति विशेष भी नहीं है। फिर भी आत्मा को रुप–रंग वाला, नाम–आकृति–गति–जाति–शरीरादि वाला बनाने का काम करने वाला नाम कर्म है।

(६) आत्मा हल्की–भारी भी नहीं है। ऊंच–नीच–छोटे–बड़े आदि का आत्मा से कोई संबंध नहीं है। ऐसी अगुरुलघु स्वभाव वाली आत्मा को उच्च वर्ण (जाति) कुल तथा नीच वर्ण–कुल–जाति आदि में ले जाने वाला गोत्र कर्म है। यह छोटा है,

यह इससे बड़ा है। जाति-कुल में ऊंच-नीच का भेदभाव गोत्र कर्म कराता है।

(७) आत्मा अनंत सुखस्वरूप है। अनंत रूप से सुख आत्मा में भरा पड़ा है। आनंद ही आनंद है। आनंदघन स्वरूप, सच्चिदानंद स्वरूप, चिदानंद स्वरूप आत्मा का सुख अव्याबाध है, अर्थात् किसी से व्याबाध पाने वाला नहीं है। परंतु संसारी अवस्था में ४ गति में भिन्न-भिन्न गति-जाति में सुख-दुःख का शाता-अशाता का अनुभव कराने वाला वेदनीय कर्म है। जो वेदन-संवेदना पीड़ा, सुख-दुःखादि का अनुभव कराता है वह वेदनीय कर्म है।

(८) आत्मा सर्वतंत्र स्वतंत्र है। आकाश के उड़ते पक्षी की तरह स्वैरविहारिणि आत्मा को एक देहपिंजर में नियत काल तक बन्दिस्त बनाकर रखने का काम आयुष्य कर्म का है। अक्षय = अ + क्षय = अक्षय। कभी भी क्षय अर्थात् नाश न होने वाली आत्मा की अक्षय स्थिति है। परंतु इस गुण पर आवरण रूप आकर आयुष्य कर्म आत्मा को जन्म-मरण के काल चक्र में फसा देता है। इसी आयुष्य कर्म के कारण जीव को देव-मनुष्यादि ४ गति में मिले शरीर में नियत काल अवधि तक बन्दिस्त बनकर रहना पड़ता है।

जिस तरह उदित हुए सूर्य पर चारों तरफ से घनघोर घटाटोप काले श्याम बादल छा जाते हैं, जिसके परिणाम स्वरूप सूर्य की किरणें-पृथ्वीतल पर नहीं पहुंच पाती है। अंधेरा छा जाता है। रात्री का भ्रम भी कभी-कभी पैदा कर देता है। सूर्य के होते हुए बादलों के कारण यह स्थिति निर्माण हो जाती है। ठीक इसी तरह आत्मा भी एक ज्ञानवान अनंत शक्ति आदि गुणवान तेजस्वी सूर्य समान प्रकाश पुञ्जवद् द्रव्य है। सूर्य जैसे प्रकाश फैलाता है वैसे आत्मा ज्ञानादि गुणों का आविर्भाव करती है। परंतु आत्मा पर कई परदे आ जाय तो क्या स्थिति हो? सूर्य पर बादलों की तरह आत्मा पर कर्मावरण रूपी बादल छा जाते हैं अब इन आवरक बादलों से कितना प्रकाश प्रकट होगा? उदाहरणार्थ सूर्य का प्रकाश काले घटाटोप बादलों में से जितना आता है उतना ही आत्मा में से ज्ञानादि अल्पमात्रा से बाहर प्रकट होगा। आठ कर्म के आठ आवरण है। इनमें से निकलता हुआ जो अल्पतम मात्रा में ज्ञानादि गुणों का

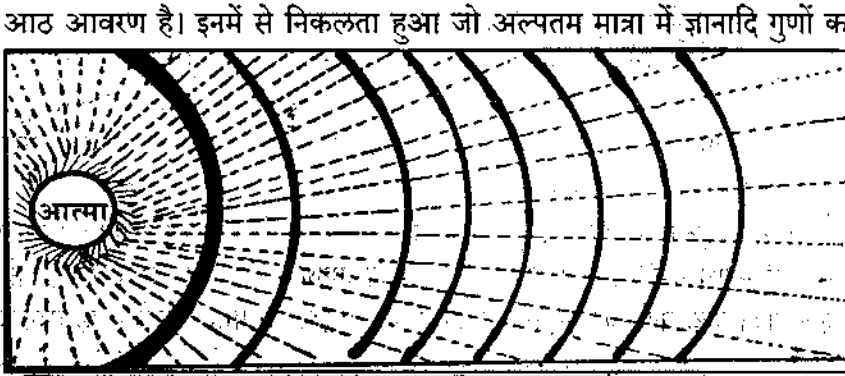

प्रकाश होगा वही नाम मात्र व्यवहार में आएगा। सूर्य पर से बादल हवा के झोके से खिसक भी जाते हैं। परंतु आत्मा पर से कर्मावरण इतनी जल्दी या हवा के झोके से नहीं हट जाते। परिणाम स्वरूप आत्मा पर कर्म डट कर जम जाते हैं। यह कर्मावरण का कार्य है। इन आठ कर्मों के कार्य क्षेत्र को समझने के लिए शास्त्रकार महर्षियों ने ८ उदाहरण दिये हैं। उन्हें समझने से उनकी साम्यता सादृश्यता के कारण आठ कर्म भी समझ में आ जाएंगे। वे दृष्टान्त निम्न प्रकार है।

८ कर्म की उपमा वाले ८ दृष्टान्त :–

पड–पडिहार–ऽसिमज्ज–हड–चित्त–कुलाल–भंडगारीणं ।
जह एएसिं भावा, कम्माणऽवि जाण तह भावा ॥

आंख पर पट्टी, द्वारपाल (चौकीदार), मधुलिप्त तलवार, मदिरापान, जंजीर, चित्रकार, कुम्हार तथा भण्डारी आदि के जैसे स्वभाव एवं कार्य है वैसे ही स्वभाव तथा कार्य कर्मों के हैं। क्रमशः आठों के बारें में सोचें।

(१) ज्ञानावरणीय कर्म – आंख पर पट्टी जैसा । आंख से देखते हैं । देखने

की शक्ति–ज्योति आंख में होते हुए भी जब आंख पर पट्टी बांधी जाती है तब कुछ भी नहीं दिखाई देता। देखता मनुष्य भी अंध की तरह चलने लगता है। दर्शन की शक्ति–ज्योति होते हुए भी आंख पर बंधी पट्टी देखने में बाधक बन गई। आवरण बन गई। देखने की शक्ति को आच्छादित कर दी। ठीक इसी तरह आत्मा में अनंत ज्ञान शक्ति है। जिससे आत्मा सब कुछ जान सकती है। परंतु उस ज्ञान गुण पर आए हुए ज्ञानावरणीय कर्म ने आंख पर की पट्टी की तरह काम किया। ज्ञान गुण को ढक दिया–छिपा दिया। अब अंधे की तरह बेचारा जीव अज्ञानाधीन प्रवृत्ति करता है। स्पष्ट समझ में नहीं आता। याद नहीं रहता। भूल जाता है इत्यादि सैकड़ों समस्याएं ज्ञान के क्षेत्र में उत्पन्न होती है। अतः ज्ञानावरणीय कर्म को आंख पर बंधी पट्टी की उपमा दी है।

(२) द्वारपाल के जैसा दर्शनावरणीय

कर्म – राजमहल के बाहर द्वारपाल = चौकीदार जो खड़ा रहता है उसे पडिहार–प्रतिहार कहते हैं, किसी को भी राजमहल में जाने से पहले द्वारपाल रोकता है। द्वारपाल के द्वारा रोका गया मनुष्य जिस तरह राजा के दर्शन नहीं कर पाता

है। ठीक उसी तरह आत्मा को देखने की शक्ति अनंत है। अतः अनंत दर्शन गुण कहा जाता है। परंतु इस अनंत दर्शन पर आया हुआ दर्शनावरणीय कर्म इस गुण को ढक देता है - दबा देता है। परिणाम स्वरूप अनंत दर्शन शक्ति होते हुए भी आत्मा सब कुछ देख नहीं पाती । यह दर्शनावरणीय कर्म का कार्य है। जिससे इन्द्रियां हीन मिलती है। क्षीण होती है। दिखाई देना, सुनाई देना आदि कार्य में बाधा पहुँचती है।

(३) मधुलिप्त तलवार जैसा वेदनीद कर्म - जैसे एक मनुष्य तलवार पर मधु को लगाकर चाट रहा है। मधु मधुर लगता है तब तक चाट रहा है, परंतु मधु समाप्त होने पर स्वादासक्ति के कारण चाटते रहने पर जब जीभ कट जाती है, तब निकलते खून के कारण वेदना होती है-पीड़ा होती है। मधु चाटते समय सुख आनंद और मधु की समाप्ति के बाद जीभ कटने पर दुःख होता है। ठीक उसी तरह आत्मा पर वेदनीय कर्म है। वेदना-संवेदना सुखात्मक और दुःखात्मक उभय प्रकार की होती है। वेदनीय कर्म के दो कार्य है। सुखानुभव को शाता वेदनीय और दुःखानुभव को अशाता वेदनीय कर्म कहते हैं। अतः वेदनीय कर्म को मधुलिप्त तलवार की उपमा दी गई है।

(४) मदिरापान के जैसा मोहनीय कर्म - मोहनीय कर्म का स्वभाव मदिरापान किये हुए मनुष्य के जैसा है, जैसे एक मनुष्य शराब पीता है। शराब से शराबी विवेक-भान-भूल जाता है। और अंट-संट बकने लगता है। बोलने का भी विवेक नहीं और क्रिया-व्यवहार का भी विवेक नहीं रहता, उसी तरह मोहनीय कर्म से ग्रस्त जीव का अनंत चारित्र गुण ढक जाता है। परिणाम स्वरूप वास्तविकता-यथार्थता भूलकर मिथ्या प्रवृत्ति करता है। जो मेरा नहीं है उसे भी मेरा मानता है। मेरेपने की ममत्व-मोहवाली बुद्धि बन जाती है। यही मोहनीय कर्म का स्वभाव एवं कार्य मदिरापान किये हुए मनुष्य के जैसा है।

(५) बेड़ी (हथकड़ी) जैसा - आयुष्य कर्म - एक अपराधी को पकड़कर हथकड़ी लगाकर जेल में डाल दिया जाता है। घूमने-फिरने वाला मनुष्य जिस तरह जेल में बंदिस्त-कैदी होकर

पड़ा रहता है। निश्चित काल अवधि तक सजा भोगता रहता है। उसी तरह अक्षय स्थिति गुण वाले जीव को आयुष्य कर्म काल अवधि में बांध देता है। परिणाम स्वरूप जीव को जन्म-मरण धारण करने पड़ते हैं। मिले हुए देह में निश्चित आयुष्य की अवधि तक रहना पड़ता है। स्वैर-विहारी पक्षी को जैसे पिंजरे में कैद रहना पड़ता है उसी तरह आयुष्य कर्म के कारण जीव को इस देह पिंजरे में कैदी बनकर रहना पड़ता है।

(६) चित्रकार-आर्टिस्ट के जैसा - नाम कर्म - एक कलाकार भिन्न-

भिन्न चित्र बनाता है। एक स्त्री-पुरुष के चित्र में जिस तरह हाथ-पैर, मुंह-नाक-कान-गला आदि बनता है। रंग भरता है। एक पेपर पर कुछ भी नहीं था और कलम-ब्रश-रंग से सब कुछ बना देता है। ठीक वैसे ही वर्ण-गंध-स्पर्शादि रहित-अरूपी-अनामी-अनाकार आत्मा को नाम कर्म एक शरीर के ढांचे में ढाल देता है। अनाकार को साकार बना देता है। अंग-उपांगादि वाला अब वह हाथी-बैल-मनुष्य-देव-कीड़े-मकोड़े आदि के आकार में दिखाई देता है। अरूपी जीव अब काला-गोरा वर्ण-रंग वाला बनता है। अनामी का अब नाम व्यवहार होता है। इस तरह गति-जाति-शरीर आदि बनाने का कार्य नाम कर्म चित्रकार-आर्टिस्ट की तरह करता है।

(७) कुम्हार के जैसा - गोत्र कर्म - गोत्र कर्म की तुलना कुम्हार के साथ

की गई है। जिस तरह कुम्हार मंगल कलश, छोटे-बड़े तथा उच्च एवं निम्न दोनों श्रेणी के घड़े बनाता है। कोई सुवर्ण मोहरें भरने के लिए तद्योग्य ऊंचे घड़े ले जाते हैं तो कोई शराब भरने के लिए भी वैसे घड़े ले जाते हैं। इस तरह उच्च एवं निम्न दोनों श्रेणी के घड़े की तरह गोत्र कर्म भी आत्मा को ऊंच-नीच गोत्र में ले जाता है,वैसे आत्मा की दृष्टि से सभी समान हैं। आत्मा अगुरुलघु स्वभाव वाली है। गुरु अर्थात् भारी, बड़ी और लघु अर्थात् हल्की, छोटी इत्यादि। उसके सामने निषेधार्थक 'अ' अक्षर आया है,अर्थात् अगुरुलघुआत्मा न छोटी है न बड़ी है। न भारी है न हल्की है। परंतु गोत्र कर्म किसी जीव को उच्च कुल में और किसी को नीच कुल में ले जाता है। किसी को राजकुल में जन्म मिलता है तो किसी को हरिजन-भंगी-चमार मेतर कुल में जन्म मिलता है। एक उच्च गोत्र पूजनीय गिना जाता है तो दूसरा नीच गोत्र निंदनीय गिना जाता है। यह सारा कार्य गोत्र कर्म का है।

(८) भंडारी के जैसा – अंतराय कर्म – राज दरबार के भंडार को संभालने वाला जो भंडारी होता है उसके पास राजाज्ञा प्राप्त पुरुष कोई एक हजार सोनामहोर लेने आया है। ऐसे समय भंडारी राजा की आज्ञा होते हुए भी मनाई करता है। नहीं मिलेंगे। पहले का हिसाब लाओ। क्या किया? कहां गए? अब नहीं मिलेंगे। भले ही राजा की आज्ञा हो। ठीक इसी तरह अंतराय कर्म है। यह विघ्नकर्ता है। दान–लाभ आदि प्राप्त होते हो उसमें विघ्न करने का काम अंतराय कर्म भंडारी की तरह करता है। इस अंतराय कर्म के कारण आत्मा अपने अनंत दानादि, अनंत शक्ति आदि गुणों को प्राप्त नहीं कर सकती है। होने पर भी बीच में विघ्न करता है वह अंतराय कर्म है। इसे भंडारी की–खजानची की उपमा दी गई है।

इस तरह इन आठ कर्मों को अच्छी तरह से समझ सकें इसके लिए शास्त्रकार महर्षियों ने आठ प्रकार के लौकिक दृष्टान्तों को लेकर उपमा देते हुए समझाया है। जो स्वभाव इन आठ कर्मों का है। अनंत शक्तिमान आत्मा अपने अंदर ज्ञानदर्शनादि सब कुछ मूलभूत गुण एवं शक्तियां अनंत के प्रमाण में पड़ी हुई होते हुए भी इन आठ कर्मों से दबकर कुछ भी नहीं कर सकती है। यह कितने बड़े आश्चर्य की बात है? इसीलिए कर्माधीन जीव आज कर्म के भार से दबा हुआ होने के कारण आत्मा धारणानुसार आत्म गुणों का पूर्ण आविर्भाव नहीं कर पा रही है। यह तो तभी संभव है जब आत्मा सर्व कर्म मुक्त सिद्ध–बुद्ध–मुक्त बन जाय तब सभी गुण अपने पूर्ण स्वरूप में प्रगट हो जाएंगे। तब कोई कर्म नहीं रहेंगे। अतः धर्म की व्याख्या यही समझा रही है कि – जो आत्मा पर लगे हुए आवरक – गुण आच्छादक कर्म है उनको हटाने का पुरुषार्थ आत्मा को करना चाहिए। अनंत ज्ञान–दर्शनादि जो आत्म गुण है उन्हीं गुणों का जीव आचरण करें वही आचार धर्म हो जाएगा। ऐसे ज्ञान–दर्शन–चारित्र–तप एवं वीर्य के नाम के पांच आचार है। उन्हें पंचाचार कहते हैं। इन पांचों आचार धर्मों का पालन करना अर्थात् स्वगुणोपासना करना यह मुख्य धर्म है। इन्हीं पंचाचार के धर्मों का प्रमुख रूप से आचरण करने से उन उन ज्ञान–दर्शनादि गुणों पर ढके हुए ज्ञानावरणीय –दर्शनावरणीय आदि कर्मों का क्षय होगा। इसलिए धर्म आत्म गुण प्रादुर्भावक एवं कर्म क्षय कारक उभय रूप होना चाहिए। जिससे दोनों कार्य होंगे। एक तरफ कर्म क्षय होगा तो दूसरी तरफ जैसे जैसे कर्मावरण हटते जाएंगे वैसे वैसे आत्म गुण प्रकट होते जाएंगे। यही धर्म का सही कार्य है–फल है। अतः तदनुरूप धर्म होना चाहिए। इस तरह कर्म सिद्धि के आधार पर धर्म की व्याख्या

बनती है।

कर्म योग–संयोग :–

कर्म संसक्त संसारी आत्मा देहधारी है। आखिर जब आत्मा को संसार में–संसारी अवस्था में रहना है तो निश्चित ही उसे किसी न किसी देह में ही रहना पड़ेगा। यह देह भी कर्म निर्मित है। तथाप्रकार के कर्मानुसार आत्मा ने रहने के लिए देह का निर्माण किया है। एक गृहस्थी के लिये जिस तरह घर–मकान की आवश्यकता अनिवार्य है। अथवा किसी द्रव्य पदार्थ को रखने के लिए किसी आधार पात्र की पूरी आवश्यकता रहती है ठीक उसी तरह आत्मा एक द्रव्य है। इसको संसार में रहने के लिए तथाप्रकार के देह की पूरी आवश्यकता है। बिना आधार पात्र के जैसे पानी आदि द्रव पदार्थ आकाश में लटकते हुए नहीं रह सकते हैं, ठीक उसी तरह बिना किसी शरीर के जीवात्मा संसार में नहीं रह सकती क्योंकि आत्मा निरंजन–निराकार अरूपी–अनामी है। यह शुद्ध स्वरूप संसार रहित मुक्तावस्था में सदा काल रहता है। परंतु संसारी अवस्था में देह की आवश्यकता अनिवार्य है। संसार में बिना देह के आत्मा नहीं रह सकती। देह निर्माण के लिए कर्म कारण रूप है। देह आया कि देह के साथ इन्द्रियां आई। इन्द्रियों मे जीभ आई कि भाषा का व्यवहार करने के लिए वचन योग आया, और आगे चलकर इन्द्रियों के पीछे अतीन्द्रिय मन आया। इस तरह आत्मा देह–इन्द्रियां–वचन एवं मन के घेरे में घिर गई। परिधि के मध्य में जैसे केन्द्र है वैसे ही देहादि की परिधि के मध्य में आत्मा है। पिंजरे में बंदिस्त पोपट की तरह आत्मा इस देह पिंजर में बंदिस्त है। अतः कर्माधीन जीव न केवल कर्म के ही आधीन हुआ अपितु कर्म से जन्य शरीर–इन्द्रियां, वचन एवं मन के भी आधीन हो गया है। इसीलिए आज हम शरीर के गुलाम, परवश, इन्द्रियों के गुलाम तथा मन के गुलाम बने हुए हैं। सभी जीवों को सभी इन्द्रियां नहीं मिलती कम–ज्यादा मिलती है। उसी तरह सभी जीवों को मन नहीं मिलता है। सिर्फ संज्ञि पंचेन्द्रिय जीवों को ही मन मिलता हैं। जहां तक इन्द्रियां ही पूरी न मिली हो वहां तक मन भी नहीं मिलता। पांचों इन्द्रियां मिल गई हो उसके बाद ही मन का नंबर आता है। इसलिए मन वाले जीव पंचेन्द्रिय ही होते हैं। पांच से कम इन्द्रिय वाले जीव मन वाले नहीं होते हैं।

इस तरह जीव मन–वचन और काया के इन तीन के घेरे में घिर गया है। अब आत्मा को सारी प्रवृत्ति इन्हीं के माध्यम से करनी है। इन्द्रियां शरीर का ही भाग है। अंग विशेष है अतः इन्द्रियों को अलग से स्वतंत्र न गिनते हुए इन्हें शरीर के अंतर्गत ही गिनकर चलते हैं। अतः मुख्य रूप से शरीर–वचन एवं मनोयोग वाले जीव हुए। ये तीनों करण रूप है। क्रिया में सहायक–सहयोगी है। आत्मा इनके माध्यम से क्रिया करती है। संसारी अवस्था में सारी क्रियाएं इनकी सहायता से चलती हैं।

कर्माधीन जीव इन्द्रियों की सहायता से देखता-सुनता-सुंघता हैं। देखने-सुनने की क्रिया तो जीव ही करता है। परंतु देखने में आंख सहायक बनती है। इन्द्रियों के जरिये देखा-सूंघा जाता है। आत्मा शरीर में न हो और इन्द्रियां सभी पूरी हो तो वे इन्द्रियां देखने-सुनने आदि की क्रिया नहीं कर सकती। अतः मुख्य कर्ता चेतन जीव है।

शुभ-अशुभ क्रिया से कर्म :-

क्रिया का कर्ता चेतन जीव है। क्रिया में साधन रूप शरीरादि है। इन सबके माध्यम से तथाप्रकार की भिन्न भिन्न क्रियाएं होती है। शरीर के द्वारा हलन-चलन, गमन-आगमन, निद्रा-जागृति, आहार-निहारादि की सभी क्रियाएं शरीर के माध्यम से होती है। शरीरधारी जीवों की ये प्रमुख क्रियाएं है। इन्द्रियों के माध्यम से जीव देखने-सुनने-सूंघने-चखने-स्पर्श करने की क्रिया करता है। ये पांचों इन्द्रिया २३ प्रकार के वर्ण-गंध रस-स्पर्श-ध्वनि आदि क्रिया में कारक है। पांच इन्द्रियों के मुख्य २३ विषय है। वर्ण-५+गंध-२ + रस-५,+स्पर्श-८,+ध्वनि-३=२३। इन २३ विषयों की क्रिया पांच इन्द्रियों के माध्यम से होती है। ये पांचो इन्द्रियां २३ विषयों का ज्ञान कराती है, तथाप्रकार के वर्णादी के ज्ञान में सहायक है अतः ज्ञानेन्द्रियां कहलाती है। वचनयोग-भाषा बोलने की क्रिया में कारण रूप है। वचन योग के माध्यम से व्यक्त-अव्यक्त प्रकार की भाषा जीव बोलता है। भाषा व्यवहार भी संसाार में बहुत आवश्यक क्रिया है। तीसरा है-मनोयोग। मन से सोचने-विचारने की क्रिया होती है। किसी भी वस्तु या व्यक्ति के बारे में सोचना-विचारना पड़ता है। यह काम जीव मन के माध्यम से करता है। जीव ही तथा प्रकार की क्रिया के लिए इन साधनों को निर्माण करता है। तभी इनके माध्यम से तथाप्रकार की क्रिया कर सकते है। इन क्रियाओं में शुभ भी होती है और अशुभ भी होती है। दोनों प्रकार की क्रिया का कर्ता चेतन जीव है, और सहायक करण-माध्यम-काया-वचन तथा मन है। इन्हीं के जरीए आत्मा कर्म से संसक्त होती है। उमास्वाति महाराज ने तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में कहा है कि - **''काय-वाङ मनः कर्मयोगः''**। काया-वचन और मन के द्वारा कर्म का संयोग होता है। तथाप्रकार की क्रिया करता हुआ जीव कर्म से संयोग करता है। कार्मण वर्गणा के पुदगल परमाणुओं का आत्मा से संयोग होता है। यह कर्म योग आगे बंध में अच्छी तरह बंदकर एक रस हो जाता है।

क्रिया परक कर्म की व्याख्या :-

कर्म एक शब्द है। संस्कृत के धातुकोष की **''डुक्रिंग-करणे''** - क्रि = करणे धातु से कर्म शब्द बना है। अतः कर्म क्रिया परक है। क्रिया विशेष से जन्य है।अतः कर्म की क्रिया परक व्याख्या करते हुए देवेन्द्रसुरि म. ने प्रथम कर्मग्रंथ में

लिखा है कि– "**किरइ जीएण हेउहिं जेणं तो भन्नए कम्मं**" अर्थात् जीव के द्वारा हेतु पूर्वक जो क्रिया की जाय, या जो कुछ किया जाय वह कर्म कहा जाता है। इस सूत्र के अंदर एक-एक शब्द का पूरा महत्त्व है। एक भी शब्द निकाल नहीं सकते। हेउहिं–हेतु शब्द पर ज्यादा भार दिया गया है। मात्र क्रिया कर्म नहीं है। परंतु हेतु पूर्वक की गई क्रिया कर्म है । क्रिया का कर्ता जीव है । कर्ता के बिना क्रिया हो नहीं सकती उसी तरह जीव के बिना कर्म नहीं हो सकते । अतः जीव ही कर्म का कर्ता है । कर्म क्रिया जन्य है । हेतु–आशय–भाव या अध्यवसाय के संदर्भ में है। क्रिया चाहे जैसी भी हो परंतु हेतु कैसा है? इस पर बड़ा आधार है। संभव है बाहर से क्रिया अच्छी नहीं भी दिखाई देगी। क्रिया का बाह्य स्वरूप अप्रिय भी होगा परंतु हेतु–आशय अच्छा भी हो सकता है। उदाहरणार्थ मां बच्चे का बुखार उतारने के लिए कडवी दवाई पिलाती है। आशय जानती है कि इससे बुखार जल्दी उतर जाएगा। बेटा अच्छा हो जाएगा, परंतु क्रिया का बाहरी स्वरूप अच्छा नहीं लगेगा। बेटा रोता है चिल्लाता है, और मां पकड़ कर जबरदस्ती से कड़वी दवाई पिलाती है। दूसरी एक क्रिया है। पेट फाडना। इस प्रकार की क्रिया के कर्ता दो प्रकार के होते हैं । एक तो सर्जन डॉक्टर और दूसरा खूनी, छूरा चलानेवाला अपराधी । छूरा चलाने वाला भी पेट पर छूरा चलाकर भाग जाता है। पेट पर चीरा पड़ जाता है, चमड़ी कट जाती है और खून बहने लगता है। दिखने में डॉक्टर की क्रिया भी इससे मिलती–जुलती है । सर्जन डॉक्टर भी पेट पर चाकू चलाता है। चमड़ी कटती है, खून बहता है, पेट फटता है। परंतु इस प्रकार की क्रिया करने वाले दोनों कर्ता का आशय भिन्न–भिन्न है। आशय–हेतु में रात–दिन का अंतर है। डॉक्टर का आशय मरते हुए को भी बचाने का है। जबकि खूनी का हेतु जिन्दे को भी मारने का है। अतः क्रिया में आशय–हेतु महत्व की भूमिका अदा करता है, तदनुरूप कर्म बंध होता है । मरते हुए को भी बचाने का कार्य करने वाले सर्जन डॉक्टर को शुभ पुण्य कर्म लगते हैं और बचे हुए या जिन्दे को मारने का पंचेन्द्रिय हत्या का पाप खूनी को लगता है । पाप अशुभ कर्म है । इस प्रकार कर्म क्रिया जन्य है। जीव के अध्यवसाय परिणाम पर आधारित है। इसीलिए कहा गया है कि –"**क्रियाए कर्म–परिणामे बंध**" क्रिया के आधार पर आत्मा में कार्मण पुद्‌गल परमाणुओं का आगमन जरूर होता है, परंतु बंध तो जीव के परिणाम के आधार पर होगा। थाली में आटा तो लिया परंतु आटे का बंधन तो पानी के प्रमाण के अनुसार होगा। उसी तरह किसी भी प्रकार की क्रिया के अनुसार कार्मण वर्गणाएं आत्मा में आ जाएगी। यह आने की आश्रव क्रिया हुई, परंतु आश्रव के बाद जो बंध होता है वह बंध परिणाम के आधार पर होता है। जिस तरह आटे में पानी–घी–तेल आदि डाला जाता है और उसके आधार पर आटे का पिंड होता है। उसी

तरह आत्मा में आए हुए कार्मण वर्गणा के जड़ पुद्गल परमाणुओं में जीव परिणाम-अध्यवसाय रूपी रस डालता है। तथाप्रकार के रस के आधार पर उन कार्मण परमाणुओं का पिंड-वह कर्म कहलाएगा। मात्र बाहरी आकाश प्रदेश में रही हुई कार्मण वर्गणा को कर्म नहीं कहा जाता। जैसे मात्र गेहूं के चूर्ण (आटे) पर वेलन चलाने से रोटी नहीं बनती है, उसमें पानी डालकर आटे का पिंड बांधा जाय फिर रोटी बनेगी। उसी तरह कार्मण वर्गणा कर्म नहीं है। वे ही आत्मा के साथ मिलकर एक रस बन जाती है। फिर उनका पिंड जो होता है वह कर्म की संज्ञा प्राप्त करता है। यह कार्मण पिंड कर्म कहलाता है। प्रायः परिणाम के अनुसार क्रिया होती है और प्रायः क्रिया के अनुरूप परिणाम भी होते हैं। परंतु साम्यता और वैषम्य दोनों इनके बीच दिखाई देते हैं। परिणाम अच्छे भी हो और क्रिया का स्वरूप खराब भी हो सकता है। या परिणाम खराब भी हो और क्रिया अच्छा भी हो सकता है। उदाहरणार्थ मंदिर में दर्शन-पूजा करने आने की क्रिया अच्छी है परंतु भगवान का मुकुट चोरने के परिणाम खराब से खराब होने के कारण दर्शन-पूजा की क्रिया का पुण्य नहीं लगेगा परंतु मुकुट चोरने के परिणामानुसार भयंकर अशुभ कर्म बंध होगा। इस तरह परिणाम और क्रिया की चर्तुभंगी बनेगी -

(१) परिणाम अच्छे - क्रिया खराब ।
(२) परिणाम खराब - क्रिया अच्छी ।
(३) परिणाम अच्छे और क्रिया भी अच्छी ।
(४) परिणाम खराब और क्रिया भी खराब ।

इसमें परिणाम खराब वाले दोनों भंग अशुभ कर्म बंध कारक है। जबकि परिणाम अच्छे के दो भंग में परिणाम के साथ साथ क्रिया भी अच्छी है तो दोहरा लाभ है। इस तरह कर्म बंध का मुख्य आधार परिणाम की शुभाशुभता पर है।

कर्म बंध के हेतु :-

कर्म बंध के हेतु

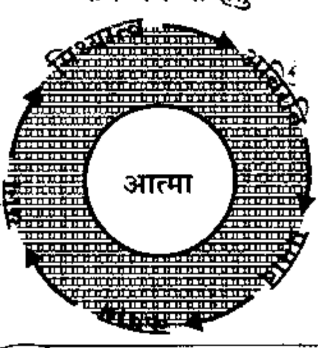

परिणाम और क्रिया का जो विचार कर्म बंध में किया है। उन कर्मों का बंध आत्मा के साथ जब होता है तब बंध के हेतु भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में बंध हेतु इस प्रकार बताए हैं - **मिथ्यादर्शना-ऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्ध हेतवः (८-१)** मिथ्यात्व अविरति-प्रमाद-कषाय और योग ये पांच बंध के हेतु है। हेतु जो कारण रूप होते हैं। आत्मा के साथ कर्म बंध का क्या कारण है?

किस कारण से कर्म बंध होता है? प्रयोजन विशेष को यहां हेतु कहा है। ऐसे हेतु के रूप में मिथ्यात्वादि पांच को कर्म बंध के कारण रूप में बताए हैं। आश्रव क्रिया से तो बाहरी आकाश प्रदेश में रही हुई सिर्फ कार्मण वर्गणा का आत्मा में आगमन मात्र हुआ है। आकर्षण हुआ है। जैसे दूध में शक्कर डाली है। परंतु डालते ही घूल नहीं जाती है। थोड़ी देर हिलाने के बाद घूलती है। घूलने पर तो ऐसी घूल जाती है कि अब एक कण भी हाथ में नही आता। समस्त दूध में मिश्रित हो गई। एक रस हो गई। दूसरी क्रिया में देखें–लोहे का गोला भट्ठी में डालते ही लाल नहीं हो जाएगा। समय लगता है। अग्नि में थोड़ी देर तपेगा फिर लाल होगा। ठीक उसी तरह आश्रव मार्ग से कार्मण वर्गणा आती है, परंतु आते ही आत्म प्रदेशों के साथ मिलकर एक रस नहीं बन जाती। यह तो सिर्फ आश्रवण–आगमन–आकर्षण हुआ है। थाली में आटा लेते ही पिंड बन नहीं जाता है। पानी डालने के बाद उसे मिलाकर एक रस बनाकर मसलने से पिंड होता है। उसी तरह आश्रव मार्ग से आत्म प्रदेश में आए हुए कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु मिथ्यात्व आदि हेतुओं से आत्म प्रदेशों के साथ मिल कर एक रस बनेंगे, तब बंध कहलाएगा।

यद्यपि देखा जाय तो आश्रव मार्ग के भेदों में भी अविरति–कषाय और योगादि है तथा ये ही भेद बंध के अंदर भी गिने गए हैं। अविरति–कषाय और योग ये बंध के भी भेद हैं तो क्या समझना? यदि ऐसी समानता है तो फिर दो भेद अलग क्यों किये गए हैं? प्रश्न सही है। सभी भेद दोनों में समान नहीं है। कुछ आंशिक साम्यता जरूर है। परंतु इससे भी ज्यादा क्रिया के स्वरूप में भेद हैं । आश्रव की क्रिया में सिर्फ बाहर से पुद्गल परमाणुओं का आकर्षण मात्र है, उनका आत्मा में आना मात्र है,और आने के बाद एक रस हो मिल जाना यह बंध है। शक्कर ही बाहर से दूध में आई और शक्कर ही दूध में मिलकर कण–कण के स्वरूप में लुप्त हो गई। दूध में पानी बाहर से आया और मिल गया। अग्नि में लोहे का गोला बाहर से आया और अग्निमय बनकर लाल बन गया। ठीक उसी तरह आश्रव के बाद बंध की क्रिया होती है। आश्रव की क्रिया से ही आए हुए कार्मण वर्गणा के पुद्गलों में मिथ्यादर्शन–अविरति आदि का रस गिरता है। तब आत्मा के प्रदेशों के साथ मिलकर एक रस बन जाते हैं। क्षीर + नीरवत् –दूध –पानी की तरह मिलकर एक रस होना, या तप्तायः पिंडवत्–लोहे का गोला और अग्नि मिलकर जिस तरह एक स्वरूप हो जाते हैं उसी तरह कार्मण वर्गणा के पुद्गल जड़ परमाणु आत्मा के प्रदेश के साथ मिलकर एक रस बन जाते हैं। यह एक रासायनिक प्रक्रिया है।

मूर्त–अमूर्त का मेल कैसे ?

प्रश्न विचित्र खड़ा होता है कि – आत्मा और कर्म पुद्गल परमाणु एक

चेतन है और दूसरा जड़ है। जड़-चेतन का क्षीर-नीरवत् मिश्रण कैसे हो सकता है? जड़ का जड़ के साथ मेल हो यह रासायनिक क्रिया तो फिर भी संभव है। परंतु जड़ का चेतन के साथ मिश्रण कैसे हो सकता है? दूसरी तरफ शास्त्र यह कहता है कि आत्मा अमूर्त है और कार्मण वर्गणा मूर्त है। पुद्गल होने से मूर्तत्व यह पुद्गल का धर्म है। मूर्त स्वरूप पुद्गल ये अमूर्त आत्मा के साथ कैसे मिल सकते हैं ? और मिले तो भी मूर्त की अमूर्त पर क्या असर हो सकती है? यह कैसे संभव है? इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। मूर्त हो या अमूर्त हो दोनों मूलभूत द्रव्य स्वरूप तो अवश्य ही हैं। एक द्रव्य दूसरे से मिलता है। दूसरे में संमिश्रित होता है। फिर कहां प्रश्न रहा? जिस तरह बुद्धि-ज्ञान के ऊपर मदिरा या ब्राह्मी की असर होती है। मदिरा के सेवन से उन्माद आता है,बुद्धि उन्मत होती है। शराबी विवेक दशा भूल जाता है। निरर्थक प्रलाप करने लगता है। मां को पत्नी और पत्नी को मां समझकर न बोलने जैसा बोलने लगता है। उसी शराबी का नशा उतर जाने के बाद उचित व्यवहार देखकर हम आश्चर्य व्यक्त नहीं करते? दूसरी वस्तु है - ब्राह्मी । ब्राह्मी के सेवन के उन्माद की स्थित टल जाती है। मनुष्य की बुद्धि का बौद्धिकविकास होता है। समझदार बनता है। इसे आप क्या समझेंगे? अमूर्त पर मूर्त का प्रभाव। इसी तरह चेतनात्मा जो अनादि काल से संसार में है। देहधारी ही है। ऐसी स्थिति में अमूर्त आत्मा यदि मूर्त पुद्गल द्रव्य ग्रहण करती है तो वे पुद्गल परमाणु आत्म प्रवेश पर चिपक कर आत्म गुणों को ढकने का काम करते हैं। जिस तरह धूल के रजकण विपुल मात्रा में आकर घर की टाइल्स पर छा जाते हैं, फिर टाइल्स की डिजाइन आदि स्पष्ट दिखाई नहीं देती। सब कुछ दब जाता है, धूल कण से ढक जाता है। ठीक उसी तरह कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु जो संपूर्ण आत्मा के असंख्य प्रदेशों पर छा जाते हैं जिससे आत्मगुण ढक जाते हैं। दब जाते हैं। यही कर्मावरण है - कर्म है।

पुद्गल ग्रहण एवं परिणमन :-

जीव के साथ कार्मण वर्गणा के संमिश्रण की इस रासायनिक प्रक्रिया में दो क्रम है। पहले तो पुद्गल ग्रहण होता है। इसे ही आश्रव मार्ग कहते हैं। आश्रव की क्रिया में सहायक कारण इन्द्रियां-अव्रत-कषाय-योग और क्रियाएं हैं। जबकि ग्रहण किये हुए पुद्गलों का आत्मा में परिणमन यह बंध तत्त्व कहलाता है। परिणमन यह क्रिया विशेष है। एक वस्तु अपना स्वरूप खो बैठती है और दूसरे में मिल जाती है। जिस तरह शक्कर जो पहले कण-कण स्वरूप में थी वह दूध में मिलकर - तन्मय बन गई। एकरस हो गई यह परिणमन है। अंग्रेजी में दो क्रियाएं प्रयोग में आती है । To Envolve. इसका अर्थ है मिलना। परंतु यह मिलना ऐसा है कि वस्तु अपना

स्वरूप खो नहीं बैठती। स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए मिलता है। एक व्यक्ति चारों में Envolve है, अर्थात् मिला हुआ है,घूला हुआ नहीं। दूसरी क्रिया है To Desolve इसका अर्थ है पिघल जाना -घूल जाना- एक रस हो जाना। शक्कर दूध में Desolve हो गई। उसी तरह कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु पहले आत्मा में Envolve होते हैं फिर कर्म बंध के मिथ्यात्वादि हेतु से Desolve होते हैं। एक रस हो जाते हैं।

उदाहरणार्थ हम भोजन करते हैं। उदर में यकृत आदि में उसकी रासायनिक प्रक्रिया शुरू हो जाती है। आंतों के अंदर उस आहार का पाचन हो जाता है। रस निर्माण होता है। वह रस रूधिरादि में परिणत होता है। नाडियों में रक्त खिंचा जाता है। इस तरह एक आहार रस-रूधिर-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा तथा वीर्य रूप सप्त धातुओं में परिणत होता है। यह परिणमन रासायनिक प्रक्रिया विशेष से चलता रहता है। जो आहार हम ग्रहण करते हैं उसमें से रस-रुधिर आदि सप्त धातुएं बनने के बाद अतिरिक्त आहार-पानी मल-मूत्र में परिणत होता है। जो शरीर की विसर्जन क्रिया करने वाले अवयवों के द्वारा विसर्जित किये जाते हैं। रक्त परिभ्रमण सारे शरीर में होता रहता है। सर्व धातुओं की पुष्टि होती रहती है। स्थूल रस अपने स्थान पर रहता है और सूक्ष्म रस धातु में मिश्रित होता जाता है। आहार में होती हुई इस रासायनिक क्रिया में ग्रहण-परिणमन की रासायनिक प्रक्रिया चलती है। दो पृथक् पृथक् वस्तुओं में एक का आकर्षित होने का दूसरी का आकर्षित कर खिंचने का स्वभाव विशेष है। इसलिए दो का संबंध होता है। आत्मा का आकर्षित करने का, खिंचने का स्वभाव है। और कार्मण वर्गणा आदि अष्ट वर्गणाओं के पुद्गल परमाणुओं का आकर्षित होने का खिंचे जाने का स्वभाव विशेष है। जैसे चुम्बक का स्वभाव है। चुम्बक आकर्षित करता है, और लोह कण आकर्षित होते हैं। खिंचे जाते है और चुम्बक के साथ चिपक जाते हैं।

आत्मिक करणवीर्य :-

आत्मिक करणवीर्य जो मन,वचन,काया की प्रवृत्ति रूप है उससे आत्मा में तथाप्रकार का कंपन निर्माण होता है। छद्मस्थ संसारी जीवों का छद्मस्थिक वीर्य जो सलेश्य-लेश्या सहित होता है। वह सकषायि और अकषायि उभय रूप होता है। यह सलेश्य क्षायोपशमिक तथा क्षायिक भाव से दो प्रकार का होता है। अभिसंधिज और अनभिसंधिज। उबलते हुए पानी में जैसा कंपन होता है वैसा कंपन कर्मसंयोग से आत्म प्रदेशों में सतत चालु रहता है। इस कंपन की असर शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक अनेक बाह्य प्रवृत्तियों से व्यक्ति को होती है। अभिसंधिज एवं अनभिसंधिज

वीर्य दोनों प्रकार के वीर्यप्रवर्तन से आत्मा में सतत कर्म योग्य कार्मण वर्गणा का प्रवेश होता ही रहता है। फिर प्रवेश हुए कार्मण परमाणु आत्म प्रदेशों के साथ एक रस होकर संबंध में आते हैं। यही बंध है।

आत्मा का प्रकंपित वीर्य जो कंपन पैदा करता है यह आत्मा के असंख्य प्रदेशों में सतत होता है। इसी के कारण आत्मा में सतत नए कर्म परमाणुओं का आगमन होता रहता है। फिर बंध होता है। आत्मा के असंख्य सभी प्रदेशों के द्वारा ग्रहण कराते उन पुद्गल स्कंध समूहों में अनन्त वर्गणाएं होती है तथा प्रत्येक वर्गणा में अनन्त परमाणु होते हैं। आत्मा के वीर्य के विपरीत प्रवृत्ति द्वारा सतत असंख्य पुद्गलों में आत्मा ढकती जाती है। यह विपरीत प्रवृत्ति मन-वचन-काया के द्वारा होते हुए करणवीर्य के द्वारा होती है। प्रति समय आत्मा के असंख्य प्रदेशों में असंख्य पुद्गल परमाणुमय कार्मण वर्गणा का ग्रहण होता है। आहार लेने के बाद जिस तरह पाचन होता है, फिर आगे रक्त-रुधिर-रसादि सप्त धातुओं में जिस तरह परिणमन होता है ठीक उसी तरह कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं के ग्रहण के बाद आत्मा में उनका परिणमन होता है। ग्रहण क्रिया आश्रव मार्ग और परिणमन की क्रिया बंध तत्त्व के रूप में गिनी जाती है। यह बंध आत्मा के साथ पुद्गल परमाणुओं के एक रस भाव को कहते हैं। क्षीर नीरवत् बंध होता है। कर्म बंध के हेतुओं में जो मिथ्यात्वादि हेतु कारण रूप है उनका थोड़ा विचार करने से वे स्पष्ट हो जाएंगे।

मिथ्यात्व :- 'तत्र सम्यग् दर्शनाद् विपरीतं मिथ्यादर्शनम्' । सम्यग् दर्शन से जो विपरीत है वह मिथ्यादर्शन कहलाता है। सम्यग् अर्थात्-यथार्थ, वास्तविक सच्चा दर्शन ही सम्यग् दर्शन कहलाता है। जो पदार्थ जैसा है जिस स्वरूप में है उसे वैसा ही देखना-कहना-मानना यह सम्यग् दर्शन है, ठीक इससे विपरीत अर्थात् जो पदार्थ जैसा है जिस स्वरूप में है उससे विपरीत देखना-कहना-मानना यह मिथ्या दर्शन है। ऐसी मिथ्या बुद्धि मिथ्यात्व कहलाती है। **'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग् दर्शनम्'** तत्त्व और अर्थ की सच्ची श्रद्धा सम्यग् दर्शन है। इससे विपरीत **'तत्त्वार्थ अश्रद्धानं मिथ्यादर्शनम्'** तत्त्व और अर्थ की अश्रद्धा-उल्टी-गलत धारणा या मान्यता यह मिथ्यादर्शन है। मिथ्या भाव को मिथ्यात्व कहा है। देवाधिदेव भगवान एक तत्त्व है। उसका जो जैसा सही स्वरूप है वैसा न मानकर उल्टी मानना, विपरीत में भी भगवान की बुद्धि रखना यह मिथ्यात्व है, अर्थात् राग-द्वेष रहित वीतराग सर्वज्ञ केवली-मोक्ष मार्ग के उपदेशक सर्व दोष रहित को भगवान मानना चाहिए यह सम्यग् दर्शन है और ऐसा मानकर इससे विपरीत रागी-द्वेषी-अल्पज्ञ एवं काम-क्रोधादि से भरे हुए को भगवान मानना यह मिथ्यात्व है। उसी तरह कंचन-कामिनी के त्यागी,

तपस्वी, पंचमहाव्रतधारी साधु महाराज को गुरू मानना यह सम्यग् दर्शन है और इससे विपरीत धन-सम्पत्ति कंचन-कामिनी रखने वाले, अव्रती-अविरतिधर को गुरू मानना यह मिथ्यात्व है। सर्वज्ञोपदिष्ट मोक्ष साधक धर्म को सही अर्थ में धर्म मानना यह सम्यग् दर्शन है और इससे विपरीत अधर्म में भी धर्म बुद्धि रखना, संसार पोषक-विषय-कषाय-राग-द्वेषादि में भी धर्म बुद्धि रखना यह मिथ्यात्व है। आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, लोक-परलोक, आश्रव-संवर, निर्जरा और बंध, कर्म-धर्म तथा मोक्षादि तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा है। इन तत्त्वों का जैसा स्वरूप एवं जो अर्थ है उसी स्वरूप एवं अर्थ में इन तत्त्वों को मानना-जानना ही सम्यग् श्रद्धा कहलाएगी। इससे विपरीत या तो इन तत्त्वों को न मानना, न समझना, न जानना या विपरीत अर्थ में मानना-जानना आदि मिथ्यात्व कहलाता है। यह मिथ्यात्व कर्म बंध कारक है। मिथ्यात्व कर्म बंधन में मूलभूत कारण है यह बताते हुए कहा है कि -

पटोत्पत्तिमूलं यथा तन्तुवृन्दं, घटोत्पत्तिमूलं यथा मृत्समूहः।
तृणोत्पत्तिमूलं यथा तस्य बीजं तथा कर्म मूलं च मिथ्यात्वमुक्तम्॥

पट अर्थात् कपड़ा-वस्त्र। कपड़े की उत्पत्ति में जिस तरह तन्तु-धागा कारण है, घड़ा बनाने में मिट्टी जिस तरह कारण है, धान्यादि की उत्पत्ति में जिस तरह उसका बीज कारण है उसी तरह कर्म की उत्पत्ति में मिथ्यात्व कारणभूत है। कर्म बंध में मिथ्यात्व मूल कारण है। मिथ्यात्व की उपस्थिति में कर्म की बड़ी दीर्घ भारी प्रकृतियां बंधती है।

अविरति - "यथोक्ताया विरतेर्विपरीताऽविरतिः" जिस तरह अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहादि व्रत कहे गए हैं। इनमें मस्त रहने वाला जीव व्रती कहलाता है। यम-नियम का पालन करने से कर्म बंध नहीं होता। इससे विपरीत हिंसा-झूठ-चोरी-मैथुन सेवन-दुराचार-व्यभिचार एवं परिग्रहवृत्ति से जीव भारी कर्म बंध करते हैं। कर्म बंध में अविरति भी एक हेतु है।

प्रमाद -'प्रमादः स्मृत्यनवस्थानं कुशलष्वनादरः योग दुष्प्रणिधानं चत्येष प्रमादः'- मोक्षमार्ग की उपासना में शिथिलता लाना और इन्द्रियादि के विषयों में आसक्त बनना यह प्रमाद है। विकथा आदि में रस रखना भी प्रमाद है। जो आगमविहित कुशल क्रियानुष्ठानादि है उनमें अनादर करना है। मन-वचन-कायादि योगों का दुष्प्रणिधान आर्तध्यानादि की प्रवृत्ति प्रमाद भाव है। प्रमाद भी पांच प्रकार का बताते हुए शास्त्रकार महर्षि कहते हैं -

मज्जं-विषय-कषाया-निद्रा-विकहा य पञ्चमा भणिया।
ए ए पञ्च पमाया, जीवा पाडंति संसारे ॥

प्रमाद

मद–८	विषय–५	कषाय–४	निद्रा–५	विकथा–४
जाति,[१] लाभ,[२]	स्पर्श	क्रोध	निद्रा	स्त्री कथा
कुल,[३] बल,[४]	रस	मान	निद्रानिद्रा	देश कथा
रूप,[५] तप,[६]	गंध	माया	प्रचला	भक्त कथा
श्रुत,[७] ऐश्वर्य[८]	वर्ण	लोभ	प्रचला प्रचला	राज कथा
	शब्द		थीणद्धि	

कषाय – कष् + आय = कषाय – कष् = संसार और आय = लाभ। अर्थात् संसार का लाभ जिससे हो वह कषाय है। अतः निश्चित हो गया कि जब जीव क्रोधादि कषायों कि प्रवृत्ति करेगा तब संसार अवश्य बढ़ेगा। संसार कब बढ़ेगा ? जब कर्म बंध होंगे तब। अतः कषाय सबसे ज्यादा कर्म बंधाने में कारण है। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में उमास्वाति महाराज ने बताया है कि – **सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते (८–२)**। कषायादि से युक्त (सहित) जब जब जीव होता है तब तब कर्म योग्य पुद्गलों को जीव खिंचता है, ग्रहण करता है। कषाय भाव में जीव कर्म से लिप्त होता है। ये कषाय आश्रव में भी कारण है तथा कर्म बंध में भी कारण है। आत्मा स्वभावदशा छोड़कर विभावदशा में जाती है यह प्रमादभाव है। अतः कषाय करना यह आत्मा का स्वभाव नहीं–विभाव है। इसलिए कषाय करना भी प्रमाद है। अतः कषायों को प्रमाद में भी गिना गया है। क्रोध–मान–माया और लोभ ये कषाय के मुख्य चार भेद हैं, परन्तु मूलरूप से देखा जाय तो राग–द्वेष ये दो ही मूल कषाय है। राग के भेद में माया और लोभ आते हैं। तथा द्वेष के भेद में क्रोध और मान गिने जाते हैं।

योग मन–वचन–काया के ये तीन योग भी कर्म बंध के हेतु हे जीवात्मा सारी प्रवृत्ति इन तीन करणों के सहारे ही करती है। किसी भी प्रकार की क्रिया में ये तीन सहायक है। मन से सोचने–विचारने की क्रिया होती है। वचन से भाषा का वाग् व्यवहार होता है। काया (शरीर) से हलन–चलन, आना–जाना, सोना–उठना, खाना–पीना, आहार–निहार आदि की क्रियाएं होती है। इन्द्रियां भी शरीरान्तर्गत ही गिनी जाती है। शरीर के ही अंग है। अतः आंख, कान आदि पांचो इन्द्रियों से देखना, सुनना, चखना–स्वादादि अनुभव करना, स्पर्शानुभव करना ये सारी क्रियाएं भी काया से ही होती है। काया की क्रिया प्रवृत्ति कहलाती है तो मन की क्रिया वृत्ति के रूप से समझी जाती है। ये सभी कर्म बंध में कारण है अतः बंध हेतु के भेदों में योग को भी कर्म बंध का हेतु माना गया है। वैसे शास्त्र में योग १५ प्रकार का बताया

गया है। इस तरह मिथ्यात्त्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांचो प्रमुख रूप से कर्म बंध के हेतु है। इनसे कर्म का बंध होता है। अर्थात् आश्रव मार्ग से आत्म प्रदेश में प्रविष्ट की हुई कार्मण वर्गणा जो पुद्गल परमाणु स्वरूप है उनका आत्मा के साथ एक रस होना, क्षीर-नीरवत् या तप्त-अयः पिण्डवत् एक भाव होना बंध कहलाता है। यह बंध ४ प्रकार का है।

बंध के ४ प्रकार : -

स बन्ध ॥८-३॥ प्रकृति-स्थित्यनुभाव-प्रदेशाल्ताद्विधयः ॥८-४॥
कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का आत्म प्रदेशों के साथ एकरसी भाव होकर परस्पराश्लेष रूप से रहना ही बंध है। उमास्वाति महाराज ने तत्त्वार्थधिगम सूत्र में यह बन्ध चार प्रकार का बताया है।

बंध

प्रकृति, स्थिति, रस (अनुभाग), प्रदेश बंध

इन चारों के अर्थ को समझाते हुए नवतत्त्व में कहा है कि -

पयई सहावो वुत्तो, ठिई कालावहारणं।
अणुभागो रसो णेओ, पएसो दल संचओ॥

प्रकृति का अर्थ है स्वभाव। किस पदार्थ का कैसा स्वभाव है? इसके आधार पर कर्म की प्रकृतियों का कैसा स्वभाव है? क्या उनकी प्रकृति है? यह बात प्रकृति बंध के आधार पर कही जाएगी। स्थिति बंध में आत्मा के साथ लगे हुए कर्मबंध की काल स्थिति अवधि Time Limit कही जाएगी। अनुभाग का अर्थ है -"**सत्यां स्थितौ फलदान क्षमात्वादनुभाव बन्धः**" अर्थात् कर्म की स्थिति रहते हुए कर्मो का शुभ-अशुभ फल कैसा मिलेगा? उसका निर्णय अनुभाग बंध के आधार पर है। "**कर्म पुद्गल परिणाम लक्षणः प्रदेश बंधः**" कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का प्रमाण कितना है यह प्रदेश बंध है। इस तरह ये मुख्य चार प्रकार के बंध हुए। जीव प्रदेशों के साथ कार्मण पुद्गलों का जब बंध होता है तब चार वस्तुओं का मुख्य रूप से निर्णय होता है। वे हैं प्रकृति-स्थिति-रस और प्रदेश। उदाहरण के लिए समझीए कि नव निर्माण हो रहे मकान का एक सीमेन्ट का खंभा बन रहा है। अतः सीमेंन्ट का स्वभाव विशेष कैसा है? गरम है या ठंड़ा है? या कैसा स्वभाव है यह देखना प्रकृति है। बना हुआ स्तम्भ कितने काल तक टिकेगा? कितने वर्षों तक रहेगा यह स्थिति हुई। स्थिति काल के आधार पर निर्भर करती है। तीसरे प्रकार में रस देखा जाय कि - खंभा बनाने में सीमेन्ट मे क्या रस मिलाया जाता है?

घी या दूध या पानी या तेल था क्या? उसके आधार पर उसकी स्थिति रहेगी। तथा सीमेन्ट के उस खंभे में परमाणु कितनी संख्या में है? सीमेन्ट का प्रमाण कितना है? यह प्रदेश संख्या की बात है। ठीक इसी तरह आत्मा के साथ कर्म बंध की बात आती है तब प्रकृति-स्थिति-रस और प्रदेश इन चार की विचारणा की जाती है। बंधे हुए कर्म का स्वभाव क्या है? यह प्रकृति हुई। बंधा हुआ कर्म आत्मा के साथ कितने वर्षों तक चिपका हुआ रहेगा? यह स्थिति बंध हुआ तो काल मर्यादा को बताता है। तीसरा रस बंध है। बंध की क्रिया में कैसा रस पड़ा है? उसके आधार पर उसे शुभ या अशुभ फल मिलेगा। तथा अंत में आत्मा में आए हुए कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं की संख्या कितनी थी? उनका प्रमाण कितना था? कितने प्रमाण में कर्म दलिकों का संग्रह हुआ है यह जानना प्रदेश बंध कहा जाता है। सामान्य समझ के लिए साथ का यह चित्र देखा जाय तो थोड़ा सा इन शब्दों का ख्याल आएगा।

इस चित्र में चार भाग में प्रकृति आदि चार स्वरूप समझाया गया है जैसे (१) तपस्वी को पारणा करते समय सूंठ-पीपरामूल की गोली खिलाई जाती हैं। उकाली पिलाई जाती हैं। क्योंकि सूंठ का स्वभाव आयुर्वेद ने दीपक-पाचक बताया है। पित्त शामक तथा वायुनाशक आदि स्वभाववाली चीजें अपना गुणधर्म दिखाती है। ठीक उसी तरह आत्मा पर लगे कर्मों की प्रकृति अर्थात् स्वभाव है कि आत्मा के ज्ञानादी गुणों को ढकना। (२) एक मिठाई की दुकान वाला लड्डु बनाता है और बेचता है। वे लड्डु कितने दिन तक चलेंगे? बिगडेंगे नहीं। वैसे ही आत्मा पर लगे हुए कर्म कितने वर्ष तक रहेंगे? वह स्थिति बंध बताता है। (३) रस-भोजन में षट् रस होते हैं तीखा-खट्टा-मीठा-कड़वा-तूरा-खारा इत्यादि। उसी तरह आत्मा के साथ लगे कर्मों का भी रस होता है। रस बंध में तीव्रता, मंदता आदि के भेद हैं। तथा उस रस बंध के आधार पर कर्मों के फल में शुभाशुभता देखी जाती है। (४) प्रदेश-बंध-बच्चा मिट्टी की गेन्द बनाकर खेल रहा है। उनमें परमाणुओं की संख्या भिन्न-भिन्न है । उसी तरह आत्मा में आए हुए कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं की संख्या या प्रमाण को प्रदेश बंध कहते हैं । इस तरह चार प्रकार का बंध चार चित्रों के उदाहरण से समझाया है । अब क्रमशः विस्तार से एक-एक का विचार करें -

(१) प्रकृति बंध - प्रकृति का अर्थ है स्वभाव - Nature जड़ पुद्गल परमाणुओं का भी अपना स्वभाव है। कार्मण वर्गणा के जो पुद्गल परमाणु आत्म प्रदेशों के साथ बंधकर एक रस हो गए हैं अब वे अपना कर्म के स्वरूप में स्वभाव दिखाएंगे। प्रति समय ग्रहण किये जाते कर्म स्कंधों में भिन्न-भिन्न स्वभावों का निश्चय होना यह प्रकृति बंध है, आज जीवात्मा अपने ज्ञानादि गुणों के स्वभावानुसार सारी प्रवृत्ति नहीं कर पा रहा है, क्योंकि आत्मा के उन उन गुणों पर कर्म का आवरण आ

जाने से अब हमारी सारी प्रवृत्ति कर्मानुसार हो रही है। सभी प्रवृत्तियों में कर्म के स्वभाव की प्राधान्यता है। उदाहरण रूप से देखिए - हम राग-द्वेष-क्रोध-मान-माया-लोभ-विषय-वासना कामादि की जितनी भी प्रवृत्ति करते हैं इनमें से कौनसी आत्म गुण के आधार पर हो रही है? एक भी नहीं। क्योंकि क्रोधादि करना आत्मा का स्वभाव नहीं है। गुण भी नहीं है। ये क्रोधादि स्वभाव नहीं है वास्तव में विभाव दशा की विकृति है परंतु आज हम स्वभाव के रूप में व्यवहार करते हैं - ये तो बहुत क्रोधी है। ये बहुत लोभी है इत्यादि। यह व्यवहार कर्म स्वभाव के आधार पर होता

है। अतः संसारी कर्म युक्त जीव कर्मानुसार वृत्ति–प्रवृत्ति वाले हैं। हां, कर्म प्रकृति को दबाकर उसके उदय में भी उस कर्म प्रकृति के स्वभाव को गौण कर आत्म धर्म की साधना यदि जीव करने लगे तो जरूर होगी। तो ही कर्मावरण हटेंगे। आठ उदाहरण जो ८ कर्मों को समझने के लिए दिये गये हैं उसमें आंख पर पट्टी, द्वारपाल, मदिरापान आदि का स्वभाव है वैसा ही स्वभाव बंधी हुई कर्म प्रकृतियों का है। अतः स्वभाव के आधार पर प्रकृति बंध कहा गया है। ऐसी कर्म की प्रकृतियां है। ऐसी कर्म की प्रकृतियां कितनी है? कौनसी है? उनके विषय में कहा हैं कि –

इह नाण–दंसणावरण–वेय–मोहाउ–नाम–गोआणि ।
विग्घं च पण नव दु अट्ठावीस चउ–तिसय–दु–पणविहं ॥

नवतत्त्व प्रकरण की ३९ वीं गाथा में कर्म की मूल आठ प्रकृतियों के नाम तथा उनके अवांतर भेदों की संख्या भी बताई है --

आत्म गुणों के नाम	८ मूल प्रकृति के नाम	उत्तरप्रकृति की संख्या
(१) अनंत ज्ञान गुण	ज्ञानावरणीय कर्म	५
(२) अनंत दर्शन गुण	दर्शनावरणीय कर्म	९
(३) अनंत सुख गुण	वेदनीय कर्म	२
(४) अनंत चारित्र गुण	मोहनीय कर्म	२८
(५) अक्षय स्थिति गुण	आयुष्य कर्म	४
(६) अनामी–अरूपी गुण	नाम कर्म	१०३
(७) अगुरुलघु गुण	गोत्र कर्म	२
(८) अनंतवीर्य गुण	अंतराय कर्म	५
८ गुण	मूल प्रकृति ८	उत्तर प्रकृति – १५८

(१) ज्ञानावरणीय कर्म की ५ प्रकृतियों का स्वभाव आत्मा के ५ प्रकार के ज्ञान को ढकने का है (२) दर्शनावरणीय कर्म की ९ उत्तर प्रकृतियों का स्वभाव आत्मा की देखने की शक्ति रूप दर्शन गुण को ढकने का है (३) वेदनीय कर्म की २ प्रकृतियों का स्वभाव आत्मा के अनंत–अव्याबाध सुख गुण को ढकने का है (४) मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों का स्वभाव आत्मा के अंनत चारित्र गुण को ढककर क्रोधादि कराने का है (५) आयुष्य कर्म की ४ उत्तर प्रकृतियों का स्वभाव आत्मा के अक्षय स्थिति गुण को ढककर चार गति में जन्म–मरण कराने का है (६) नाम कर्म की १०३ उत्तर प्रकृतियों का स्वभाव आत्मा के अनामी–अरूपी निरंजन–निराकार गुण को ढककर नाम–रूप–आकृतिवाला बनाने का है (७) गोत्र कर्म की २ उत्तर प्रकृतियों का स्वभाव आत्मा के अगुरूलघु गुण को ढककर उच्च–नीच गोत्र में ले

जाने का है (८) अंतराय कर्म की ५ उत्तर प्रकृतियों का स्वभाव आत्मा के अनंत वीर्य (शक्ति) दानादि लब्धिगुण को ढककर उन लब्धि के प्राप्त होने में विघ्न करने का है। इस तरह यह प्रकृति बंध का कार्य क्षेत्र है। सभी कर्म की प्रकृतियां अपना भिन्न भिन्न स्वभाव दिखाती है, तथा आज सभी कर्म युक्त संसारी जीवों की सभी प्रवृत्ति इन कर्मों की प्रकृति (स्वभाव) के आधार पर चल रही है।अब आत्मा को चाहिए कि बलवान बनकर कर्म प्रकृतियों को हटाकर, क्षयकर, नष्टकर या दबाकर भी आत्मगुणानुरूप पुरूषार्थ करे और आत्म गुणों का प्रादुर्भाव करे यही धर्म है।

(२) स्थिति बंध – स्थिति = काल मर्यादा – Time Limit "**कर्म पुद्गल राशः कर्त्रा परिगृहीतस्यात्मप्रदेशेष्ववस्थानं स्थितिः।।**" कर्ता आत्मा के द्वारा परिगृहीत जो कार्मण वर्गणा के पुद्गलों की राशि आत्म प्रदेश में जितने काल तक रहे उसे स्थिति कहते हैं। उस स्थिति काल तक कर्म का आत्मा से चिपके रहना स्थिति बंध है। R.C.C. का एक मकान बन चुका है अब वह तक कितने वर्षों तक टिकेगा ? यह काल मर्यादा स्थिति कहलाती है। उदाहरणार्थ किसी मकान की स्थिति ६० वर्ष है, तो किसी मकान की १०० वर्ष है। फिर वह टूटने लगता है। सीमेन्ट के परमाणु पानी के साथ मिलकर खंभे – दिवाल के रूप में जो स्थिति है उनकी काल अवधि ६० या १०० साल रहती है। उसी तरह आत्मा के साथ मिले हुए कार्मण वर्गणा के जड़ पुद्गल परमाणुओं की आत्म प्रदेशों में रहने के काल को स्थिति बंध कहते हैं। भिन्न भिन्न कर्मों का स्थिति काल भिन्न भिन्न है ।

८ कर्म	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
(१) ज्ञानावरणीय कर्म	१ अंतर्मुहूर्त	३० कोड़ा कोड़ी सागरोपम
(२) दर्शनावरणीय कर्म	१ अंतर्मुहूर्त	३० कोड़ा कोड़ी सागरोपम
(३) वेदनीय कर्म	१२ अंतर्मुहूर्त	३० कोड़ा कोड़ी सागरोपम
(४) मोहनीय कर्म	१ अंतर्मुहूर्त	७० कोड़ा कोड़ी सागरोपम
(५) आयुष्य कर्म	१ अंतर्मुहूर्त	सिर्फ ३३ सागरोपम
(६) नाम कर्म	८ अंतर्मुहूर्त	२० कोड़ा कोड़ी सागरोपम
(७) गोत्र कर्म	८ अंतर्मुहूर्त	२० कोड़ा कोड़ी सागरोपम
(८) अंतराय कर्म	१ अंतर्मुहूर्त	३० कोड़ा कोड़ी सागरोपम

इस तालिका से संक्षेप में आठों कर्म की जघन्य अर्थात् कम से कम और उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक कर्म स्थिति बंध बतलाया है, अर्थात् आत्मा के साथ चिपका हुआ कर्म कम से कम १,८ या १२ अंतर्मुहूर्त तक रहता है। जबकि अधिक से अधिक उत्कृष्ट स्थिति काल २०, ३० और ७० कोड़ा कोड़ी सागरोपम का काल है ।

(३) **रस बंध** – रस बंध को ही अनुभाग या अनुभाव बंध कहते हैं। **सत्यां स्थिती फलदान क्षमत्वादनुभाव बंधः। कालान्तरावस्थाने सति विपाकवत्तानुभाव बंधः। समासादितपरिकावस्थस्य बदरादेरिवोपभोग्यत्वात् सर्व–देशघात्येक द्वि–त्रि–चतुः–स्थान–शुभाशुभ तीव्रमन्दादि भेदेन वक्ष्यमाणः ।।**

कर्म की स्थिति होते हुए फल देने की क्षमता से अनुभाव बंध कहा जाता है। विपाक के काल में शुभ या अशुभ कर्म के फल का अनुभव, शुभ-पुण्य प्रकृति का मलीन परिणाम से मंद, मंदतर तथा मंदतम रूप से बंध होता है। उसी तरह विशुद्ध परिणाम के आधार पर तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम रूप से बंध होता है यह रस बंध है। रस बंध का मुख्य कारण कषाय है । कषायों के आधार पर मुख्य रूप से अध्यवसाय-परिणाम बनते हैं। आत्मा में जैसे जैसे कषाय की तीव्रता बढ़ती जाती है वैसे वैसे अशुभ कर्म में रस का प्रमाण बढ़ता जाता है और शुभ कर्म में घटता जाता है। उसी तरह आत्मा में कषायों की मात्रा जैसे जैसे घटती जाएगी वैसे वैसे शुभ कर्म में रस का प्रमाण बढ़ता जाता है और अशुभ कर्म में घटता जाता है। यह तराजु के पल्ले के जैसी बात है। रस बंध के तीव्र-मंदादि भेद से असंख्य प्रकार है, परंतु कर्म शास्त्र में एकस्थानीय,

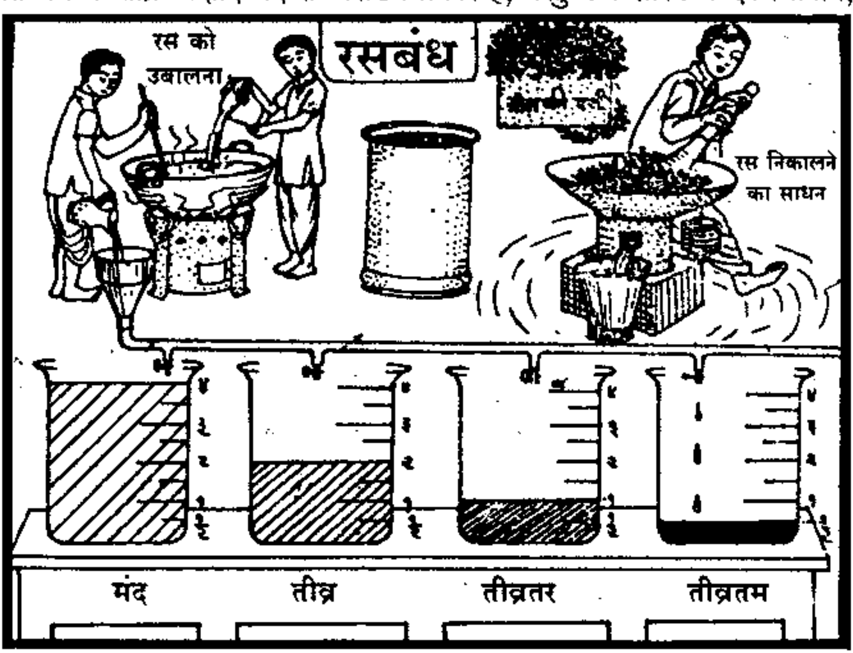

द्विस्थानीय, तीनस्थानीय, चारस्थानीय के विभाग से चार भेद किए गए हैं।

रस बंध को समझने के लिए यहां नीम की पत्तियों के कटु रस का उदाहरण

दिया जाता है। जो नीचे चित्र के द्वारा समझाया गया है। वह इस प्रकार है – नीम के पत्ते इकट्ठे करके संचे से उनका रस निकालकर एक पात्र में इकट्ठा किया जाय वह चार लिटर प्रमाण रस एक स्थानीय कहा जाएगा। ऐसा जीव मंद कषाय वाला कहा जाता है। इसी ४ लीटर रस को काफी उबालकर आधा कर दिया जाय अर्थात् २ लीटर रखा जाय वह दो स्थानीय कहा जाएगा। इस जीव के कषाय पहले की अपेक्षा तीव्र परिणाम वाले कहे जाएंगे। फिर उसी शेष २ लीटर रस को क्वाथ की तरह और ज्यादा उबालकर सव्वा लिटर १/३ भाग ही शेष रखा जाय तो इसमें नीम का कड़वापन और ज्यादा बढ़ जाएगा। इस तीन स्थानीय रस के समान तीव्र कषाय के परिणाम वाले जीव तीव्रतर कषायी कहे जाएंगे। इसी सव्वा लीटर शेष रहे रस को और ज्यादा उबालते ही जाएं जो अंत में पौना लीटर ही शेष रह जाय उसमें कड़वापन कितना गुना ज्यादा बढ़ जाएगा। उसे चारस्थानीय रस कहेंगे। ऐसे जीवों के कषाय तीव्रतम कक्षा के होंगे। इस तरह आप देखिए कि नीम का वैसे भी कड़वापन का स्वभाव है और उसको क्वाथ की तरह अधिक अधिक उबालते ही जाय तो कड़वापन बहुत ज्यादा बढ़ता ही जाता है। ठीक इस उदाहरण की तरह आत्मा के कषाय की मात्रा जब बढ़ती ही जाती है तब वह मंद से तीव्र, तीव्रतर से तीव्रतम प्रकार की होती है। जितना ज्यादा कषाय का रस बढ़ता जाएगा, उतना कर्म बंध गाढ़ होता जाएगा। इस गाढ़ कर्म बंध के आधार पर की स्थिति भी दीर्घ होती जाएगी। यह बात अशुभ कर्म के विषय की हुई। नीम का रस कटु होता है। पीने वाले का मुंह बिगाड़ देता है उसी तरह अशुभ पाप कर्म का रस (विपाकानुभव) जीव को फल देते समय कटु, कटुतर फल देता है। जो कि जीव को बहुत ही दुःखदायी लगता है।

नीम के रस का उदाहरण अशुभ पाप कर्म के लिए देखा वैसा ही शुभ पुण्य कर्म को समझने के लिए गन्ने के रस का उदाहरण लेकर समझना चाहिए। गन्ने का रस मीठा होता है उसे भी क्वाथ की तरह उबालते–उबालते वह भी मंद से तीव्र, तीव्र से तीव्रतर और अंत में तीव्रतम बनता जाएगा, चूंकि यह मीठा रस है अतः अच्छा–प्रिय लगेगा। उसी तरह शुभ पुण्य का रस अच्छा सुख–दायी लगेगा इसमें कषाय का कड़वापन न रहने से शुभ पुण्य का रस–विपाकानुभव मीठा सुखदायी लगता है। यह शुभ पुण्य कर्म बंध की बात है।

(४) प्रदेश बंध – पुद्गल द्रव्य का विचार करते समय इसके चार भेद बताए थे – (१) स्कंध (२) देश (३) प्रदेश और (४) परमाणु। इन चार में प्रदेश जो भेद है वह स्कंध का अविभाज्य सूक्ष्मतम अंश है। कार्मणा वर्गणा जो आठ वर्गणाओं में अत्यंत सूक्ष्मतम वर्गणा है उसके पिंड रूप स्कंध के अविभाज्य अंशों के प्रदेश कहे जाते हैं। ऐसे कार्मण प्रदेश आत्म प्रदशों में जब ग्रहण होते हैं, मिलते हैं तब उन

प्रदेशों की संख्या कितनी होती है? प्रमाण कितना होता है? यह आधार प्रदेश बंध पर रहता है। जैसे एक चॉक बना है उसमें चूना के परमाणु कितनी संख्या में आए, उसी तरह जीव ने जब कार्मण ग्रहण की है और फिर उसी को पिंड रूप में बनाकर कर्म बनाता है अतः उन प्रदशों के प्रमाण को प्रदेश बंध कहते हैं। दूसरा उदाहरण है लड्डु का। एक बूंदी का लड्डु है तो उसमें बूंदी की संख्या कितनी है। प्रमाण कितना है जैसे यह देखा जाता है वैसे ही जीव ने ग्रहण की हुई कार्मण वर्गणा के स्कंध प्रदेशों को प्रदेश बंध कहते हैं। इसका आधार मन-वचन-काया के योग पर जितना योग ज्यादा उतने प्रदशों को जीव ज्यादा खिंचेगा। तथा जितना योग कम होगा उतने कार्मण प्रदेश कम खिंचे जाएंगे। यह प्रदेश बंध का स्वरूप है। उस तरह यह प्रकृति स्थिति-रस और प्रदेश बंध के भेद से चार प्रकार का बंध बताया गया है।

चार प्रकार के लड्डु का दृष्टांत : -

प्रदेश बंध में कार्मण प्रदेशों की कम-ज्यादा संख्या समझने के लिए चार प्रकार के लड्डुओं का यह चित्र दर्शाया है (१) बुंदी का लड्डु है (२) मेथी का लड्डु है,(३) तिल का लड्डु है (४) सोंठ का लड्डु है । इन चारों प्रकार के लड्डुओं की आकृति-साईज एक समान है। पहले बुंदी के लड्डु में बुंदी के दाने कितनी संख्या में है? मानों की ५०० दाने है। इसी साइजवाले दूसरे मेथी के लड्डु में मेथी के दाने कितने हैं ? १००० से २००० भी हो सकते हैं, चूंकि बुंदी से मेथी की साइज छोटी है, अतः संख्या ज्यादा रहेगी। इसके बाद तीसरा लड्डु तिल का है। इसमें तिल के दाने कितने होंगे? तिल की साईज बहुत ही छोटी होने के कारण संख्या बहुत ज्यादा होगी। सम्भव है ४-५ हजार से भी ज्यादा हो, तथा उससे भी ज्यादा चौथे प्रकार के सोंठ के लड्डु में सोंठ के कण -कण की संख्या कितनी होगी। पिसी हुई सोंठ जो चूर्णरूप में हो गई है और उसका लड्डु यदि बनाया जाय तो उसमें सूई की नोंक पर आए ऐसे कणों की संख्या शायद १-२ लाख से भी काफी ज्यादा होगी या चूरमा का लड्डु हो तो उसमें भी कण छोटे-छोटे हैं । उदाहरणार्थ मुंह पर लगाए जाने वाले टेल्कम पावडर में एक-एक कण कण गिनने बैठे तो संख्या कितनी होगी? या एक चॉक में चूने के कितने परमाणु होंगे ? उनकी संख्या संख्यात हो या असंख्यात भी हो सकती है। ठीक इसी तरह आश्रव मार्ग में रही हुई आत्मा इन्द्रिय, कषाय,अव्रत,योग और क्रिया के प्रमुख आश्रव मार्ग से जब बाहरी आकाश में से कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को

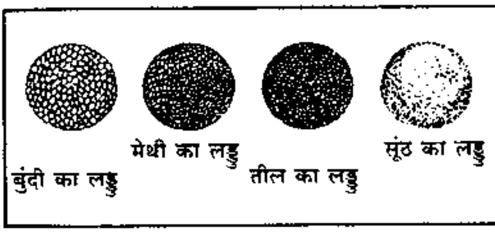

खिंचती है, तब आत्मा में आए हुए कार्मण परमाणुओं का प्रमाण (कितना है) यह प्रदेश बंध कहलाता है। जैसे तम्बाकू का पावडर जिसे तपकीर या नसवांर या अन्य नामों से भी कहते हैं उसे एक बुदि्ढ सूंघती है– नाक से खिंचती है। वह उसके शरीर में जाती है। एक बार सूंघने में कितने परमाणु गए? उसी तरह दिन में १०–२० बार सूंघे तो कितने तम्बाकू के परमाणु उसके शरीर में गए? उसी तरह प्रदेश बंध की प्रक्रिया में आत्मा कार्मण वर्गणा के पुद्‌गल परमाणुओं को खिंचती है। इस प्रदेश बंध के बाद रस–बंधादि के आधार पर उन कार्मण वर्गणा के पुद्‌गल परमाणुओं का एक पिंड बनेगा वह कर्म कहलाएगा। जब तक कार्मण वर्गणा के पुद्‌गल परमाणु बाहरी आकाश में स्थित है तब तक वे कर्म नहीं कहलाएंगे। वहां तो वे पुद्‌गल परमाणु ही कहे जाएंगे, परंतु आत्मा में आने के बाद इन कार्मण वर्गणा के पुद्‌गल परमाणुओं में तथाप्रकार के कषाय आदि के रस के आधार पर एक पिंड बन जाएगा वह कर्म कहलाएगा। जैसे गेहूं के आटे में पानी डालकर मसलकर एक पिंड बनाया उसी तरह यहां कार्मण वर्गणा के पुद्‌गल परमाणुओं का पिंड बनता है। यही कार्मण शरीर एक सूक्ष्म शरीर के रूप में आत्मा के चारों तरफ लिपटा रहता है। आत्मा इसी सूक्ष्म कार्मण शरीर में बंदिस्त रहती है। जन्म–जन्मांतर में गति आदि इसी के आधार पर होती है। यह सूक्ष्म–कार्मण शरीर अनादि काल से आत्मा के साथ लगा हुआ है। समुद्र में से पानी भाप बनकर उडता है–बादल बनकर फिर बरसता है–फिर समुद्र में पानी आता है, इस तरह समुद्र का अस्तित्व वैसा ही बना रहता है। वैसे ही इस सूक्ष्म कार्मण शरीर (कर्म पिंड) में नए कार्मण पुद्‌गल परमाणु आते रहते हैं और पुराने जिनकी अवधि समाप्त हो चूकी है वे जाते हैं। यह क्रिया सतत् चलती रहती है। कर्म पिंड रूप सूक्ष्म कार्मण शरीर अनादि काल से आत्मा के साथ लगा हुआ ही है। अतः संसारी आत्मा सदा ही कर्मसहित–कर्म संयुक्त–कर्ममय ही कहलाती है। अतः पूर्व कर्मोदय से नए कर्म बांधती है नए कर्म पुनः पुराने बनते हैं, उनका पुनः उदय होगा, पुनः नए कर्म का बंध होगा। कर्म संयोग से जीव का दुःखी होना और दुःखी होकर फिर कर्म बांधना, यह अनंत का चक्र चलता ही रहता है। इसीलिए कर्म संयोग के कारण आत्मा को अनंतकाल से भटकना ही पड़ रहा है और भटक रही है। अब यदि धर्म के संयोग से या माध्यम से जीव को नए कर्म सर्वथा नहीं बांधने हैं तो ऐसी पूर्ण प्रतिज्ञा करले और पुराने कर्म सर्वथा क्षय करने ही है इस संकल्प पर चले तो **सव्वपावप्पणासणो** – सर्व पाप कर्मों को नाश हो जाय तो आत्मा सदा के लिए मुक्त हो जाय। मुक्त होना या मोक्ष में जाने का अर्थ ही है कि अनादि के कर्म बंध–कार्मण शरीर से सदा के लिए मुक्त होना, छुटकारा पाना। रोग निवृत्ति के लिए जैसे औषध है वैसे ही कर्म निवृत्ति के लिए धर्म है। यदि धर्म के मार्ग पर नहीं चढ़े तो कर्म

की निवृत्ति के बजाय कर्म की प्रवृत्ति ही सतत चलती रहेगी।

कर्म बंध की पद्धति :-

मकान बांधते समय सीमेंट-रेती में पानी डालकर जो मिश्रण किया जाता है। उसमें भी मिश्रण की प्रक्रिया में पदार्थों पर आधार है। पानी यदि बिल्कुल कम होगा तो मिश्रण बरोबर नहीं होगा।

वैसे ही रोटी बनाने के लिए आटे में पानी डालकर मिश्रण करके फिर मसलकर पिंड बनाया जाता है। इसमें भी पानी के कम-ज्यादा प्रमाण पर आधार रहता है। उसी तरह आत्मा के साथ कर्म बंध में भी कषायादि की मात्रा आधारभूत प्रमाण है। सीमेंट-रेती में, और आटे में मिश्रण पानी के आधार पर होता है। वैसे ही आत्मा के साथ जड़ कार्मण वर्गणा के पुद्‌गल परमाणुओं का मिश्रण कषाय के आधार पर होता है। कषाय ही यहां पर रस का काम करता है। यही कर्म बंध की पद्धति में माध्यम है। जिस तरह पानी कम-ज्यादा हो तो आटे के तथा सीमेंट के मिश्रण में या बंधन में फरक पड़ता है उसी तरह कषायों में तीव्रता या मंदता आदि के

कारण कर्म के बंध में भी शैथिल्य या दृढ़ता आती है। अतः कर्म बंध की पद्धति चार प्रकार की है। जो (उपरोक्त चित्र में बताई गई है)।

(१) स्पृष्ट (२) बद्ध (३) निधत्त (४) निकाचित।

(१) स्पृष्ट (शिथिल) कर्म बंध - चित्र में दिखाए अनुसार एक युवक टेबल पर

लोहे की बड़ी सुइयों से खेल रहा है। सभी सुइयां एक मुठ्ठी में पकड़ कर टेबल पर गिरा दी है। वे सूंइयां एक दूसरी पर गिरी है। ढेर सी हो गई है। युवक अंगुली से एक-एक को अलग कर रहा है। केवल स्पर्श ही है अतः युवक को सुइयां अलग करने में विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। ठीक इसी तरह सामान्य अल्प मात्र कषाय आदि कारण से बंधे कर्म जो आत्मा के साथ स्पर्शमात्र संबंध से ही चिपक कर रहे हैं उन्हें सामान्य पश्चाताप मात्र से ही दूर किये जा सकते हैं। वे स्पर्श कर्म बंध कहलाते हैं। दूसरे उदाहरण से समझें तो धागे में हल्की सी गांठ जो शिथिल ही लगाई गई है वह आसानी से खुल जाती है। या हमारे कपड़े पर पड़ी हुई धूलकण जो झटकने मात्र से ही दूर हो जाती है। वैसा कर्मबंध स्पर्श मात्र कहलाता है। कार्मण वर्गणा के कर्म योग्य पुद्‌गल परमाणु के रजकण जो आत्मा के साथ स्पर्शमात्र शिथिल बंध से चिपके हैं वे आसानी से पश्चाताप मात्र से छूट जाते हैं। जैसे प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को ध्यान में विचारधारा बिगड़ने से जो कर्मबंध हुआ था वह शिथिल स्पर्श मात्र ही था अतः २ घड़ी में तो कर्मक्षय भी हो गया और कर्म मुक्त हो गए केवलज्ञान भी पा गए।

(२) बद्ध (गाढ) कर्म बंध – यह पहले स्पर्श मात्र शिथिल बंध की अपेक्षा थोड़ा ज्यादा गाढ है। ज्यादा मजबूत है। पेक बंडल में से सूईयां जो बंद बंडल में या बक्स में टाइट बांधी गई थी अतः उन्हें छूटी करने में थोड़ी सी कठिनाई आ सकती है। थोड़ा सा प्रयत्न ज्यादा करना पड़ता है। जैसे धागे में गांठ खिंचकर लगाई गई हो तो खोलने में कठिनाई होती है। वैसे ही आत्मा के साथ कर्म का बंध जो गाढ-मजबूत हुआ हो वह बद्ध कक्षा का बंध है गाढ है। केवल पश्चाताप मात्र से वे कर्म नहीं छूट सकते। उनके क्षय के लिए प्रायश्चित लेना पड़ता है। उदाहरण के लिए अइमुत्ता मुनि को प्रायश्चित करते हुए कर्मों का क्षय हो गया। इस दूसरे प्रकार में कुछ शिथिल अंश भी होता है और कुछ गाढ बंध होता है। यह बद्ध कहलाता है।

(३) निधत्त कर्म बंध – सूंइयां कई वर्षों से चिपकी हुई पड़ी है जिसमें पानी या हवामान के कारण जंग लग गया हो, जंग से एक दूसरे के साथ ज्यादा चिपक गई हो वे आसानी से अलग नहीं पड़ती। दूसरे साधन की मदद लेनी पड़ती है या दूसरा उदाहरण है रेशमी धागे में लगाई गई पक्की गांठ जो बहुत जोर से कस कर बांधी गई हो वह अब खोलना बहुत ही मुश्किल है। वैसे ही आत्मा के साथ कर्म का बंध तीव्र कषाय की वृत्ति में बहुत ही ज्यादा मजबूत बंध जाता है। जो आसानी से नहीं छूटते। यह निधत्त प्रकार का बंध पहले दोनों प्रकार के बंध से दुगुना मजबूत है। इस प्रकार के कर्मों का क्षय तप-तपश्चर्या आदि धर्मानुष्ठान विशेष कठिनाई से क्षय होता है। उदाहरणार्थ अर्जुनमाली का दृष्टांत लीजिए।

(४) निकाचित कर्म बंध – सभी सुंईया जंग या गरमी के कारण पिगल

कर लोखन की प्लेट के जैसे एकाकार एक रस हो गई हो अब सूंई का स्वतंत्र आकार भी दिखाई न देता हो। अब चाहे उस प्लेट को हथोडे से पीटो या अग्नि में जलाकर गरम करो तो भी छूटी नहीं पडती है। वैसे ही रेशम के धागे पर पक्की मजबूत गांठ लगाई गई हो और ऊपर से मोम लगा दिया जाय अब खुलना सम्भव नहीं है। धागा टूट जाय पर गांठ न खुले, वैसे ही लोखन की प्लेट के टुकडे हो जाय पर पुनः सुई अलग नहीं पड़ती वैसे ही इस प्रकार का कर्म बंध किसी भी तपादि अनुष्ठान से क्षय नहीं होता। वह तो भोगना ही पडे – उसे निकाचित कर्म बंध हो जाता है कि अब वह किसी भी हालत में फल–विपाक दिये बिना न छूटे वह निकाचित जाति का कर्मबंध कहलाता है। उदाहरणार्थ भगवान महावीर स्वामी ने १८ वें त्रिपृष्ठ वासुदेव के जन्म में शय्यापालकों के कान में तपाया हुआ गरम–गरम शीशा डलवाकर जो भयंकर निकाचित कर्म बांधा था आखिर उसका परिणाम यह आया कि २७ वें–अन्तिम जन्म में महावीर के कान में खीले ठोकें गए। मगध के सम्राट मगधाधिप श्रेणिक ने शिकार में ऐसे कर्म बांधे कि जिसे भोगने नरक में जाना पड़ा। उपरोक्त चार दृष्टांतों को चित्र से समझाया गया है। चारों व्यक्ति सूंईयां अलग करने का ही प्रयत्न कर रहे हैं फिर भी प्रयत्न तथा समय में अंतर है, वैसे ही चार प्रकार के कर्मबंध होते हैं। उनके बारे में यह विवेचन है। जीव अपने मंद–तीव्र–तीव्रतर तथा तीव्रतम प्रकार के विविध कषायों के आधार पर उपरोक्त चार में से भिन्न–भिन्न प्रकार का कर्म बंध करता है, तथा जिस प्रकार का कर्म बंध करता है उसी प्रकार की काल अवधि–स्थिति रहती है। उसी तरह जीव कर्मफल भी भोगता है। बंधा हुआ कर्म भिन्न–भिन्न चार अवस्थाओं में रहता है।

कर्म की अवस्थाएं :–

कर्म बंध के ही आधार पर बंध–उदय–उदीरणा तथा सत्ता की अवस्था का आधार है। बंधा हुआ कर्म इन चार अवस्थाओं में रहता है (१) बंध (२) उदय (३) उदीरणा तथा (४) सत्ता। बंध ही नहीं होता तो उदय–उदीरणा कहां से आते? पैसे कमाए ही नहीं है तो फिर बैंक में जमा कहां से करते? कर्म बांधे ही नहीं होते तो सत्ता में कहां से पड़े होते? अतः कर्म बंध सबसे पहले मूल कारण है, अतः एक अपेक्षा से कर्म बंध को मूलभूत बीज अवस्था में स्वीकारना पड़ेगा। बीज होगा तो वृक्ष फल–फूल सब बनेंगे, अन्यथा नहीं। जीव प्रति समय आयुष्य के सिवाय सात–सात कर्म बांधता है। एक आंख की पलक में असंख्य समय होते हैं। आंख टिमटिमाई कि असंख्य समय का काल बीत जाता है। ऐसे असंख्य समयों में से १ समय लिया जाय, उस १ समय में जीव सात–सात कर्म बांधता है,और जब आयुष्य कर्म भी बांध ले तब आठ कर्म का बंध होता है। यह तो हुई १ समय की बात। १

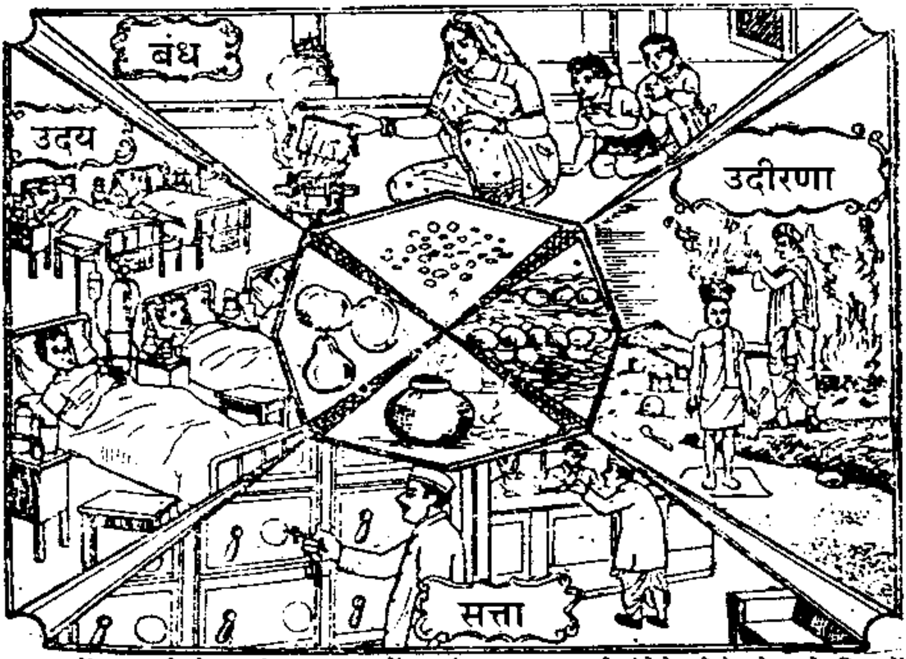

समय में ७ कर्म तो असंख्य समय में असंख्य X ७ कर्म बंधेगे। ऐसे तो सारे दिन में कितने समय लगेंगे। एक सप्ताह, पक्ष और महिने तथा वर्ष में कितने समय होंगे। इस तरह जीवन भर के ७०-८०-१०० वर्षों में जीव कितने कर्म बांधेगा ? चित्र के पहले बंध विभाग में एक मां अपने बच्चों के स्कूल की पढ़ने की पुस्तकें सिगड़ी में जला रही है। यह पाप ज्ञानावरणीय कर्म का बंध कराएगा। कर्म बंध तो पाप की प्रवृत्ति के आधार पर ही होगा। जैसे जैसे पाप होंगे वैसे वैसे कर्म बंध होगा।

(२) उदय - कर्मबंध के बाद दूसरी अवस्था उदय की आती है। उदय जैसे सूर्य का उदय होते ही प्रकाश फैल जाता है, वैसे ही बंधा हुआ कर्म उदय में आते ही सुख-दुःख का फल देगा। बीज पनपकर वृक्ष बना, अब वृक्ष के फल-फूल लगते हैं वैसे ही कर्म बीज जो बंध में थे वे नियत काल पर उदय में आते हैं । उदय में आते ही शुभ कर्म का उदय सुख रूप मिलेगा, तथा अशुभ कर्म पाप का उदय दुःख रूप मिलता है। जैसा कि चित्र में बताया गया है कि अशाता वेदनीय पाप कर्म का उदय हुआ अतः कई अस्पताल में बीमार पड़े हैं।

(३) उदीरणा - 'बांधा हुआ कर्म निश्चित उदय में आएगा ही ऐसा कोई नियम नहीं है यदि कर्मबंध के बाद पश्चाताप-प्रायश्चितादि करके कर्म क्षय कर दिया तो वह कर्म नष्ट हो गया अब उदय में आने का प्रश्न ही नहीं रहेगा। यदि कर्म का क्षय नहीं किया है और कर्म की बंधी हुई काल अवधि से भी पहले उस कर्म को शीघ्र क्षय

करने की इच्छा हो तो जानबूझकर समता आदि भाव से तीव्र वेदना अशाता आदि को सहन कर लेना उससे उदय का काल परिपक्व न होते हुए भी वे कर्म उदीरणा के माध्यम से उदय में खिंचकर लाए जाते हैं। यह उदीरणा है। जैसे आम के वृक्ष पर आम अपने समय पर पकते हैं, और उन्हीं आम को जबकि वे कच्चे हरे हैं, उस समय तोड लेते हैं और घास में पेक कर रखते हैं, विशेष गर्मी से जल्दी पकते हैं। तो जो आम १०-२० दिन बाद पकने वाले थे उनकी ३ दिन में पका कर बेचने वाले बेचते हैं। उसी तरह उदयकाल न होने पर भी जिन कर्मों की उदीरणा की जाय अर्थात् खिंचकर लाकर विशेष समता आदि से भोग लेना यह उदीरणा कहलाती है। उदाहरणार्थ साधु महाराज केश लोच करते हैं, विहार करते हैं। बड़ी लम्बी तपश्चर्या आदि करके क्षुधा आदि सहन की जाती है। ये सारे कर्मोदय जन्य नहीं है यह विशेष धर्माराधना है। साधक वेदना को भी हसते हुए आनंद से सहन करता है इस उदीरणा की प्रक्रिया में कई कर्म जिनका उदय में आने का काल परिपक्व नहीं हुआ है वे उदय में आकर क्षय हो जाएंगे। चित्र में उदीरणा विभाग में गजसुकुमाल कायोत्सर्गध्यान में खडे हैं और सोमिल श्वसुर जलते हुए अंगारे सिर पर रखकर उपसर्ग कर रहे है, फिर भी मुनि महात्मा समता भाव से हसते हुए सहन कर काफी कर्म निर्जरा की। यह उदीरणा है।

(४) सत्ता - सत्ता का अर्थ है-अस्तित्व। जैसे एक करोड़पति व्यापारी जो घर में बैठा है या बाग में टहल रहा है। ऐसे समय जेब में पैसे नहीं है फिर भी श्रीमंत पैसे वाला तो कहलाएगा ही। क्योंकि उसके करोड़ों रुपए बैंक में जमा है। व्यापारियों को ब्याज पर दिये हुए हैं। कई कम्पनियों में रोके हैं। अतः हाथ में या जेब में न भी हो फिर भी वह करोड़पति तो कहा जाएगा। उसी तरह कुछ कर्म अभी उदय में नहीं है। आज शरीर स्वस्थ है। नाखुन में भी रोग नहीं है, परंतु कई कर्म सत्ता में पड़े हैं। उनका अस्तित्व है। जैसे एक महिने बाद की ट्रेन की टिकिट रिजर्व कराई है, और आज भले ही बाजार में घूम रहे हैं। फिर भी रिजर्व टिकिट होने से मूल सत्ता में तो जाना निश्चित है ही। उसी तरह कर्म की स्थितियां दीर्घावधि की है। जिसके कारण आज वे कर्म उदय में नहीं दिखाई दे रहे हैं, परंतु इसका मतलब यह नहीं कि कर्म है ही नहीं। वे कर्म सत्ता में पड़े रहते हैं। समय परिपक्व होने पर उदय में आते हैं। यह सत्ता है। जैसे भगवान महावीर ने तीसरे मरीचि के भव में नीच गोत्र कर्म बांधा था। वह लगातार १४ भव तक तो उदय में रहा। ७ बार नीच गोत्र में पटका। याचक कुल में याचक बनाया। उसके बाद वह नीच गोत्र कर्म सत्ता में छिपा बैठा रहा और अंतिम २७ वें भव में पुनः उदय में आया। इस तरह जैसे पैसा खजाने में पड़ा रहता है वैसे ही कर्म भी सत्ता में रहता है। यह खजाने जैसा स्थान है। सत्ता में पड़े हुए कर्म काल परिपक्व होने पर उदय

में आकर फल देकर निर्जरित हो जाते हैं,या उदीरणा में खिंचकर लाकर निर्जरित किये जाते हैं। आश्रव मार्ग से आए हुए कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु बंध हेतुओं से कर्म बंध होता है। बंध कैसा या किस तरह का होता है? यह जानने के लिए बंध की स्पृष्ट-बद्ध-निधत्त और निकाचित ये चार अवस्थाएं देखी। यह हुआ कर्मबंध सत्ता में पड़ा रहता है। उसके बाद उनका उदय होता है और यदि की जाय तो उदीरणा होती है। इस प्रकार कर्म बंध तत्त्व का विचार किया गया है। यद्यपि संक्षेप में है फिर भी सारभूत तत्त्व समझने में उपयोगी है कर्म के आगमन एवं बंध की प्रक्रिया समझाई गई है, जिससे कर्म कैसे बनते हैं? कर्म क्या है? इत्यादि समझ में आ जाय ! आगे आत्मा के प्रमुख ज्ञान गुण की विचारणा करके एक एक कर्म की विचारणा करेंगे।

अध्यात्मिक विकास यात्रा

भाग १,२,३

कर्म सिद्धांत के दृष्टि कोण से १४ गुणस्थानको के उपर सचित्र विवरण का सुंदर ग्रन्थ तैयार हुआ है। सरल हिन्दी भाषा में ऐसा सुंदर विवेचन बहुत कम उपलब्ध होता है। **जैन श्रमण संघ के डबल M.A.Ph.d हुए *पंन्यास डॉ. अरुणविजय गणिवर्य म.*** जो कि सिद्धहस्त लेखक हैं एवं समस्त जैन संघ में सचित्र शैली के प्रवचनकार हैं। आत्मा का निगोद से निर्वाण तक गमन कैसे होता है ? तथा कैसे कर्मो का क्षय होता है, एवं आत्म गुणों का विकास किस तरह होता है ? इसका गहन चिंतन इस ग्रन्थ में उपलब्ध कराया गया है।

करीब १५०० पृष्ठों का यह विशद ग्रन्थ है, इसे **SHREE MAHAVEER RESEARCH FOUNDATION** संस्था ने तीन भागोंमें प्रकाशित किया है। अभ्यास योग्य इस ग्रन्थ को बार बार पढना आवश्यक है। निम्न पत्ते से प्राप्त करने का कष्ट करें।

घर में बसाईये...पढीए....पढाईए....एवं भेट देकर ज्ञान वृद्धि करीए।

वीरालयम् जैन तीर्थ

N.H.4 कात्रज बायपास पो. जांभूलवाडी आंबेगांव (खूर्द)

पुणे - 411046 मो.नं.9527428218

ॐ ह्रीं नमो नाणस्स

जैन दर्शन में ज्ञान का विशिष्ट स्वरूप

नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण य परिसुज्झइ ।।

(उत्तरा. अ. २८. गा. ३५)

श्री उत्तराध्ययन जिनागम में फरमाया है कि ज्ञान से हम भाव - अर्थात् पदार्थ-तत्त्व को जानते हैं, उन्हीं जाने हुए पदार्थों पर दर्शन से श्रद्धा की जाती है। श्रद्धागम्य उनके आचरण के लिए जीव चारित्र योग से निग्रह करता है अर्थात् चारित्र गुण से मन-वचन-काया के योगों का निग्रह करता है तथा अंत में निग्रहरूप तप के द्वारा साधक विशुद्धि प्राप्त करता है। शुद्ध-विशुद्ध स्थितप्रज्ञ बनता है। इस तरह ज्ञान-दर्शन-चारित्र तथा तप ये चारों आत्म गुण बहुत ही उपयोगी है। ये ही गुण जब आचार बन जाते हैं तब इनका आचरण करना ही धर्म हो जाता है। ज्ञानाचार धर्म में ज्ञान का आचरण, दर्शनाचार धर्म में दर्शन का आचरण, चारित्राचार धर्म में चारित्र का आचरण तथा तपाचार धर्म में तप का आचरण किया जाता है। गुण ही धर्म बन जाते हैं। अतः स्वगुणोपासना सर्वोत्कृष्ट धर्म है। ज्ञान-दर्शनादि गुण है। स्व नाम आत्मा। आत्मा के ही गुण ज्ञानादि है। इन्हीं की उपासना करनी है। जो स्व में निहीत है उसीकी उपासना करनी है। तभी जाकर आत्म गुणों पर आए हुए तथाप्रकार के आवरण जो कर्म के नाम से पहचाने जाते हैं। उन्ही कर्मों का नाश उन उन आच्छादित गुणों की उपासना से ही होगा। औषधि जैसे रोग नाशक है वैसे ही गुणोपासना धर्म गुणाच्छादक-गुण आवरक कर्म का नाशक है। कर्म क्षय कारक है। अतः जैसे जैसे कर्म का आवरण नष्ट होता जाएगा वैसे वैसे आच्छादित गुणों का प्रादुर्भाव होगा। गुण प्रकट होते जाएंगे। यदि सर्वथा सर्व कर्मों का क्षय हो जाय और सर्व गुण सम्पूर्ण रूप से प्रकट हो जाय तो वही मुक्तावस्था है। उसे ही मोक्ष कहते हैं। आत्मा परम शुद्ध-परम विशुद्ध परमात्मा स्वरूप बन जाय। सिद्ध-बुद्ध-मुक्त-निरंजन-निराकार बनना ही आत्मा का मोक्ष है,अतः एक निश्चित है कि हमें आत्मगुणों की उपासना, उन्हीं की आराधना-साधना पर विशेष बल देना पडेगा। कर्म क्षय निर्जरा की साधना पर ज्यादा भार देना पड़ेगा । तथाप्रकार की साधना में सहकारी सहयोगी एवं उपयोगी देव-गुरु का आलंबन लेना ही पड़ेगा,एवं आलंबन जब बहुत ही ऊंचा आदर्श है तो

उनकी भी स्तुति-पूजा-भक्ति आदि करनी उपयोगी सिद्ध होगी, क्योंकि परमात्मा का परम विशुद्ध स्वरूप यह आत्मा की ही अवस्था है। हम पामर आत्मा है वे परमात्मा है अतः पामर को परम का आलंबन लेना आवश्यक है। तभी पामर परम बन सकेगा। अन्यथा असंभव है। हमें पामर से परम बनने की साधना करनी है अतः परम का आलंबन लेना नितांत आवश्यक है। परम भी कौन है? जो आज परम है वे कल एक दिन पामर थे। हमारे जैसे पामर थे। वे पामर से परम कैसे बने?उन्होंने भी परम का आलंबन निश्चित लिया था,तभी वे पामर से परम बन सके। उदाहरणार्थ नयसार का जीव महावीर कैसे बना? मरुभूति का जीव पार्श्वनाथ भगवान कैसे बना? धनसार्थवाह का जीव ऋषभदेव कैसे बना? नयसार, मरुभूति और धनसार्थवाह ये सभी एक दिन तो हमारे जैसे ही थे। उनकी भवपरंपरा देखी जाय तो यह स्पष्ट दिखाई देता है कि उन्होंने अपनी भव परम्परा में परम आदर्श रूप महापुरुषों का आलंबन लिया है, उनकी स्तुति-भक्ति पूजा आदि की है तब आगे चलकर एक दिन वे भी परम पद पर बिराजमान हो सके। भगवान बनकर मोक्ष में चले गए। वे तो भगवान बन गए, मोक्ष में चले गए। लेकिन हम आज ऐसे ही संसारचक्र में क्यों भटक रहे हैं ? हमारा मोक्ष क्यों नहीं हो गया? हम भगवान क्यों नहीं बन गए? इसका उत्तर साफ है कि हमने तथाप्रकार की कर्म निर्जरा-कर्म क्षय नहीं किया इसीलिए कर्म के चक्र में फंसे रहे। कर्म क्षय क्यों नहीं किया? क्योंकि कर्म क्षयकारक वैसा धर्माचरण नहीं किया? वैसा धर्म जब था और है तब धर्माचरण क्यों नहीं किया? कारण कि हम मिथ्यात्वादि से ग्रस्त थे। महा मोह से घीरे हुए थे। इसलिए तथाप्रकार की श्रद्धा रूचि-भावना जगी ही नहीं, अतः कर्मपाश बद्ध पामर अवस्था में आज भी पड़े हैं। तथाप्रकार का सही ज्ञान मिलेगा, सही रूचि जगेगी, सच्ची श्रद्धा होगी और सम्यग् आचरण जब होगा तभी जाकर कर्म की जबरदस्त निर्जरा होगी तब जाकर अंत में मोक्ष होगा। परम विशुद्ध पवित्र परमात्म स्वरूप प्राप्त करेंगे। जब तक अज्ञान नहीं टलेगा तब तक सम्यग् ज्ञान भी नहीं होगा, अतः अज्ञान की निवृत्ति अनिवार्य है।

अन्नाणं खु महा भयं :-

अज्ञान ही महा भयंकर है। अज्ञान ही सभी पापों की जड़ है। यही आत्मा का सबसे बड़ा शत्रु है। जगत में जो पदार्थ का सही स्वरूप है वह हम नहीं जानते हैं अतः पदार्थ के प्रति खिंचाव रहता है। आत्मा भी एक द्रव्य है - पदार्थ है। उसका भी सही स्वरूप हम नहीं जान्ते हैं, नहीं पहचानते हैं, अतः आत्मशुद्धि की या सिद्धि की रूचि-जिज्ञासा नहीं बढ़ती। जीव अनात्म भावों की तरफ ज्यादा खिंचा जा रहा है। परिणाम स्वरूप जो मेरा नहीं है, उसमें भी मैं मेरेपने की बुद्धि रख बैठा हूं, और जो मेरा है, मेरा जो मेरे पास है उसको मैं पहचानता तक भी नहीं हूं। कवि ने ठीक ही कहा है कि -

(१) जग में नहीं तेरा कोई... नर देख तु निश्चे जोई।

(२) आप स्वभाव में अवधु सदा मगन में रहना ।
जगत जीव है कर्माधीना, अचरिज कछुअ न लीना।।
तुं नहीं केरा कोई नहीं तेरा, क्या करे मेरा मेरा ।
तेरा है सो तेरी पासे अवर सब अनेरा..:।। आप.।।

हे आत्मन् ! इस जगत में तेरा कोई नहीं है। यह तु निश्चित ही जानना, समझना। इसलिए तूं सदा अपने आत्म स्वरूप में मस्त रहना, लीन रहना। मगन में रहना। क्योंकि सारा संसार कर्माधीन है। इसमें कोई आश्चर्य व्यक्त करने जैसा कुछ भी नहीं है। कर्म की विचित्रता से भरे इस संसार में क्या आश्चर्य व्यक्त करें? किस बात पर आश्चर्य व्यक्त करें? संसार में सब कुछ आश्चर्य से ही भरा पड़ा है, अतः ऐसे संसार में कुछ भी देखने जैसा नहीं है। निरर्थक क्यों मेरा-मेरा कहकर दुःखी हो रहा है। अरे ! जो कुछ तेरा है वह तो तेरे ही पास है। बाहरी जगत् में तेरा कुछ भी नहीं है। निरर्थक कस्तूरी मृग की तरह मारा मारा क्यों भटक रहा है? कस्तूरी हिरन की नाभी में ही है और उसे भ्रांति हो गई कि सुगन्ध कहीं बाहर से आ रही है,अतः वह हिरन जंगल में चारों तरफ भटकता है, दौडता है, अंत में शिकारी का भक्ष्य बन जाता है। वही परिस्थिति अज्ञानी जीव की है। स्वयं स्व का ज्ञान नहीं है, दुनिया भर के पौद्गलिक भौतिक पदार्थों में मोह रखकर उन्हें अपना मान रहा है। जो अपना नहीं है, जो अपने नहीं हैं उन्हें अपना मान रहा है, उनमें अपनेपने की बुद्धि रख रहा है । मेरा-मेरा कहकर, मेरा-मेरा मानकर जीवन भर भटक रहा है और अंत में जीवन लीला समाप्त कर आयुष्य पूरा कर देता है मनुष्य जन्म जैसा कीमती भव हाथ से गंवा देता है। यह कैसा भयंकर अज्ञान है। अज्ञान ही सभी पापों की मूल जड़ है। अज्ञान ही सभी दुःखों की मूल जड़ है। अज्ञान ही कर्म का प्रमुख कारण है ।

ज्ञान माहात्म्य :-

जगत् में ज्ञान की महिमा अपरंपार है। ज्ञान की जगत् में सब कुछ है। ज्ञान सूर्यवत् प्रकाशक है। सूर्य अंधकार को दूर कर चारों तरफ प्रकाश फैलाता है वैसे ही सम्यग् ज्ञान अज्ञान रूपी तिमिर को हटाकर जीवन में प्रकाश फैलाता है। ''नाणं पयासगं सोहओ'' के शब्द विशेषावश्यक भाष्य में दिये हैं। ज्ञान से ही जन्म सफल गिना जाता है। न केवल ज्ञान ही अपितु तदनुरूप आचरणादि चारित्र योग आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति कराता है। सारभूत तत्त्व बताते हुए कहा है कि -

लोगस्स सारो धम्मो, धम्मंपि य नाणं सारयं बिंति।
नाणं संजम सारं, संजम सारं च निव्वाणम्।।

समस्त लोक में सारभूत तत्त्व एक मात्र धर्म ही है, और धर्म में भी सारभूत तत्त्वज्ञान को कहा गया है। ज्ञान का भी सार संयम चारित्र बताया गया है। ऐसे सारभूत चारित्र से निर्वाण पद की प्राप्ति होती है, अतः एक दूसरे का आधार एक-दूसरे पर है। वैसे ही उमास्वाति पूर्वधर महापुरूष ने तत्त्वार्थ सूत्र की आद्य कारिका में लिखा है कि –

सम्यग् दर्शन शुद्धं यो ज्ञानं विरतिमेव चाप्नोति।
दुःख निमित्तमपिदं तेन सुलब्धं भवति जन्म ।।

सम्यग् दर्शन–सच्ची श्रद्धा से युक्त ऐसा ज्ञान यदि विरति (चारित्र) को प्राप्त होता है तो उससे दुःख से प्राप्त होने वाला यह जन्म भी सुलभ बन जाता है । ज्ञान कैसा चाहिए ? यह विचार करने योग्य बात है। जैसे जन्मान्ध व्यक्ति के जीवन में सदा ही अंधेरा छाया रहता है वैसे ही अज्ञानी जीव के जीवन में सदा अंधेरा छाया रहता है। भूमिगृह में जैसे सूर्य की किरणें नहीं पहुँचती और अंधेरा ही भरा रहता है वैसे ही अज्ञानी का जीवन अंधकार जैसा है। अतः अज्ञान निवृत्ति के लिए जीव को ज्ञानमार्ग की प्रवृत्ति करनी ही पड़ेगी। सम्यग् ज्ञान–सच्चे ज्ञान को प्राप्त करने के लिए भगीरथ पुरूषार्थ करना ही पड़ेगा।'**नाण किरियाहिं मोक्खो**'–'**ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः**' ज्ञान और क्रिया से ही मोक्ष मिलता है। यह हमारे आगम शास्त्र कहते हैं। अतः ज्ञान की महिमा अपरम्पार है।

ज्ञान क्या है ? द्रव्य या गुण :–

ज्ञान से कोई अछूता या अन्जान नहीं है। ज्ञान का अनुभव संसारस्थ सभी जीव प्रतिदिन करते हैं। ज्ञान के बिना हमारा व्यवहार ही नहीं चलता है। बोलने-चलने-देखने-सूंघने-चखने कहने आदि सभी क्रियाओं में मुख्य ज्ञान का ही व्यवहार रहता है। सूर्य के प्रकाश को, तथा कपड़े की सफेदी को हम द्रव्य न कहकर गुण कहते है वैसे ही आत्मा का ज्ञान यह गुण है। ज्ञान द्रव्य नहीं है। द्रव्य स्वयं अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। अस्तिकायवान् प्रदेश समूहात्मक अस्तित्ववाला द्रव्य होता है। ज्ञान के कोई प्रदेश नहीं है और न ही ज्ञान प्रदेश समूहात्मक अस्तित्व वाला द्रव्य है। द्रव्य वह कहलाता है जिसके गुण और पर्याय हो। "**गुण-पर्यायवद्-द्रव्यम्**" गुण-पर्यायवाला द्रव्य कहलाता है। ज्ञान का कोई गुण नहीं है। चूंकि ज्ञान स्वयं ही गुण है। गुण का लक्षण करते हुए कहा है कि – "**द्रव्याश्रयि निर्गुणाः गुणाः**" गुण स्वयं निर्गुण होते हैं गुण में गुण नहीं रहते। जो द्रव्य में रहते हो, द्रव्य के आधार पर रहते हो एवं स्वयं निर्गुण हो वे गुण कहलाते हैं। अतः ज्ञान द्रव्य सिद्ध नहीं हो सकता। सफेदी यह स्वयं द्रव्य नहीं है परंतु गुण है। अतः यह गुण

किसी द्रव्य के आधीन रहता है। कपड़ा द्रव्य है अतः कपड़े के आधीन सफेदी रहती है। सफेदी कपड़े में, चूने में या अन्य किसी भी द्रव्य के आश्रय पर रहेगी। जब भी सफेदी को रहना होगा तब स्वतंत्र रूप से नहीं रह सकती। किसी न किसी द्रव्य में ही रहना पड़ेगा। वैसे ही ज्ञान यह एक गुण है यह ज्ञान गुण स्वयं अकेला स्वतंत्र नहीं रह सकता। जब भी ज्ञान गुण रहेगा तब आत्म द्रव्य में ही रहेगा। अन्य द्रव्य में क्यों नहीं रहेगा?

प्रश्न तो ठीक है कि ज्ञान आत्मा में ही क्यों रहे? क्या आत्मातिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में नहीं रह सकता? आपने ता० **"द्रव्याश्रयि निर्गुणाः गुणाः"** यह लक्षण बनाया है। अतः इस लक्षण के आधार पर ज्ञान जो स्वयं निर्गुण है वह ईंट-चूने-पत्थर-मकान आदि किसी भी द्रव्य में रह सकता है। ऐसा निश्चित कहां कहा है कि इसी द्रव्य में ही रहना चाहिए? जैसे सफेदी कपड़े में, चूने में, रूई में, नमक में इत्यादि कई पदार्थों में रहती है, वैसे ही ज्ञान भी आत्मा में ही क्यों रहे? अन्य कई पदार्थों में रह सकता है। आपका प्रश्न तो बहुत अच्छा है परंतु सोचिए !...जो जिसका गुण होगा वह उसी में रहेगा। जगत् में मूलभूत दो ही तो द्रव्य है। जड़ और चेतन। जीव और अजीव द्रव्य है। ईंट-चूना-पत्थर-मकानादि ये सब अजीव-जड़ है। अजीव के गुण अजीव में ही रहेंगे और जीव के गुण जीव में ही रहेंगे। ज्ञान-दर्शनादि जीव के गुण है और वर्ण-गंध-रस-स्पर्श ये जड़ पुद्गल पदार्थ के गुण है।

ये ज्ञान-दर्शनादि आत्मा को छोड़कर आत्मातिरिक्त अन्य किसी जड़ या अजीव पदार्थ में कभी भी नहीं रहेंगे, आत्मा में ही रहेंगे। आत्मा एक द्रव्य है और सभी आत्माएं एक जैसी ही है। एक से दूसरे के आत्म स्वरूप में कोई भेद नहीं है। अंतर स्वरूप में नहीं हैं। अतः आत्मा का स्वरूप तो सभी अनंत आत्माओं का एक समान है। सादृश्यता एक जैसी है। जैसी एक आत्मा है वैसी ही सभी है । इसीलिए **"सोऽहं"** हम कह सकते हैं। हे भगवन् जो तूं है जैसा तूं है वैसा ही मैं भी हूं। वही आत्म स्वरूप में भेद नहीं है सभी समान है इसलिए सादृश्यता सूचक ये शब्द कहे जा सकते हैं। सिर्फ अंतर इतना ही है कि वे सर्वथा सर्व कर्म रहित है और हम कर्म से भरे हुए हैं। प्रभु पापादि दोष रहित है और हम सब पापों से पूरे हैं। प्रभु सिद्ध-बुद्ध-मुक्त है और हम कर्म संसक्त, अज्ञानी-संसारी है। प्रभु परम शुद्ध परमात्मा है और हम परम अशुद्ध पामरात्मा है। शुद्धि-अशुद्धि में अंतर जरूर है परंतु आत्मस्वरूप में अंतर नहीं है। इसलिए सभी में ज्ञानादि गुण एक जैसा ही होंगे। हां, ज्ञानादि के प्रमाण-मात्रा मे अंतर जरूर रहेगा। जिसने जितने प्रमाण में कर्म क्षय करके जितना ज्ञान प्राप्त किया होगा उसमें उतने कम-ज्यादा प्रमाण में ज्ञानादि गुण रहेंगे। परंतु ज्ञानादि जो आत्म गुण है वे सभी में रहेंगे। आत्मा के स्वरूप में जड़ की तरह वैविध्य एक नहीं अनंत

प्रकार का है। अनंत प्रकार के जड़ पुद्गल पदार्थ जगत में है। उन अनंत पुद्गल पदार्थों मे वर्ण-गंध-रसादि गुण रहते हैं। अतः ये पौद्गलिक द्रव्य कहलाते हैं। वर्णादि गुण कहलाते हैं। जो स्वयं निर्गुण है और पुद्गल द्रव्य के आश्रित होकर रहते हैं। पुद्गल के वर्णादि गुण पुद्गल को छोड़कर चेतन आत्मा में नहीं रहेंगे, उसी तरह आत्मा के ज्ञान-दर्शनादि गुण चेतन आत्मा को छोड़कर जड़-पुद्गल पदार्थों में कभी भी नहीं रहेंगे। वर्णादि के कारण पौद्गलिक द्रव्य रूपी है। रंग वाले है। रंगादि के कारण देखे जाते हैं, सूंघे जाते हैं, चखे जाते हैं, स्पर्श किये जाते है। परंतु चेतन आत्मा में ये वर्ण-गंध-रस-स्पर्शादि जड़ के गुण नहीं रहते हैं इसीलिए आत्मा अरूपी है, अगंधी, अरसी, अस्पर्शी है। अतः देखी नहीं जाती, सूंघी नहीं जाती, चखी नहीं जाती, स्पर्श भी नहीं की जाती। अतः जड़ - पुद्गल के गुणों से चेतन-आत्मा का ज्ञान संभव नहीं है, नहीं होता है। उसी तरह आत्मा के ज्ञान दर्शनादि से जड़ पुद्गलों की भी पहचान नहीं होगी। द्रव्य की पहचान अपने खुद से गुणों से ही होती है। अपने से भिन्न स्वातिरिक्त गुणों से पहचान नहीं है। इसीलिए गुणोपार्जन-गुणोत्कर्ष-गुणप्रादुर्भाव का धर्म वीतरागीयों ने बताया है। उसके लिए गुणानुराग सहायक आलंबन है। अतः यह निश्चय हुआ कि ज्ञान दर्शनादि गुण है। स्वयं नहीं है। द्रव्य के आश्रित रहने वाले गुण है। आत्मा चेतन द्रव्य है। ज्ञान-दर्शनादि आत्मा के प्रमुख गुण है। कर्म संयोगवश आज ये ज्ञानादि गुण आच्छादित है। दबे हुए हैं, ढके हुए हैं। अब उन्हें प्रकट करना ही होगा। उन्हें प्रकट करने के लिए पूर्ण रूप से ज्ञानादि का प्रादुर्भाव करने के लिए उसके ऊपर के आवरक-आच्छादक कर्मों को हटाना पड़ेगा, उन कर्मों का क्षय करना पड़ेगा। जैसे बादल हटे कि सूर्य साफ दिखाई देगा। वैसे ही कर्म आवरण हटे कि आत्मा साफ स्वच्छ मूलभूत स्वरूप में दिखाई देगी।

गुण मूलभूत अंतस्थ है ।

गुण द्रव्य के अंदर ही रहते हैं। गुणों के आधार पर ही द्रव्य का स्वरूप है। गुण समूहात्मक द्रव्य होने से द्रव्य-गुण का अभेद संबंध है, भेद नहीं है। गुण द्रव्य को छोड़कर एक क्षण भी बाहर नहीं रहता। सदा काल ही गुण द्रव्य के आधार पर ही रहते हैं। अतः गुणवान् द्रव्य कहलाता है। चाहे वे ज्ञानादि गुण हो या चाहे वर्ण-गंध-रस-स्पर्शादि गुण हो वे गुण द्रव्य में ही आश्रित रहेंगे। ज्ञानादि गुण चेतन आत्मा में रहते हैं तो वर्णादि गुण पुद्गल में रहते हैं । ये उन द्रव्य के निश्चित गुण है । ये ज्ञानादि गुण बाहर से नहीं आते हैं। आत्मा में ही निहीत है, मूलभूत पडे हुए हैं। बाहर से कहां से आए? बाहर कहां रहते हैं जो आए? बाहर तो आकाश है। आत्मा के बाहर तो जड़ द्रव्य है। जड़ में तो ज्ञानादि रहते नहीं है। आकाश भी अजीव द्रव्य है। अतः बहार से आने का प्रश्न ही कहां रहता है? ज्ञानदर्शनादि गुण आत्मा के अपने मूलभूत

गुण है। आत्मा में ही छिपे हुए पडे हैं। उनके ऊपर से जैसे जैसे कर्म का आवरण हटता जाएगा वैसे वैसे उन ज्ञानादि गुणों का प्रादुर्भाव होता जाएगा। वे प्रकट होते जाएंगे। दिखाई देने लगेंगे। अतः ज्ञान आत्मा में ही है। बाहर से नहीं आता। बाहरी पुस्तकादि उपकरण तो अभिव्यंजक है। उत्तेजक है, द्योतक है। जैसे वस्तु तो है ही परंतु अंधेरे में दिखाई नहीं देती वहां दीपक दिखाने की क्रिया में सहायक बनता है। दीपक के प्रकाश ने अन्धेरे को हटा दिया, जो अन्धेरा वस्तु पर आवरण बनकर पड़ा था उसे प्रकाशने हटा दिया आंख और वस्तु के बीच का आवरण हट गया कि वस्तु स्पष्ट दिखाई देने लगी। उसी तरह आत्मा के ज्ञान गुण पर कर्म का आवरण पड़ा था। पुस्तक पढ़ना ज्ञान-ध्यान-स्वाध्याय आदि की प्रक्रिया से तथाप्रकार का आवरण जैसे जैसे हटता जाएगा वैसे वैसे ज्ञान प्रकट होता जाएगा। इसलिए बाहरी निमित्त उत्तेजक है। कर्मावरण को हटाने में सहयोगी अभिव्यंजक है। आत्मा में ही पड़ा हुआ ज्ञान प्रकट होता जाता है। निगोद की अव्यक्त अवस्था में भी मति-श्रुत का जो ज्ञान अनन्तवें भाग की अवस्था में अल्प प्रमाण में पडा है वही प्रगट होता होता केवलि अवस्था में अनंत स्वरूप में प्रकट हो जाता है। सर्वावरण क्षय होते ही सर्व ज्ञान, सम्पूर्ण ज्ञान प्रकट हो जाएगा। उसे ही अनन्तज्ञान या केवलज्ञान कहते हैं। तद्वान् - उसे प्राप्त करने वाली आत्मा केवली-सर्वज्ञ या अनन्तज्ञानी कहलाती है। अतः ज्ञान आत्मा है। यह बात निश्चित है। ग्रीक दार्शनिक प्लूटो ने भी कहा है कि - "Knowledge is Nothing but it is Intaitonal" ज्ञान यह बाहरी द्रव्य नहीं है यह तो आंतरिक है। अंदर से प्रकट होने वाला है।

ज्ञानादि ये भेदक गुण है :-

अनंत ब्रह्मांड में जड़ और चेतन ये मुख्य दो ही द्रव्य है। तीसरा स्वतंत्र अस्तित्व रखने वाला कोई द्रव्य है ही नहीं। अतः स्वतंत्र अस्तित्व रखनेवाले ये जड़-चेतन दो ही द्रव्य मूलभूत है। दोनों के अपने अपने गुण है। वे अपने द्रव्यों में ही निहीत रहते हैं। ज्ञान-दर्शनादि चेतन आत्मा में ही निश्चित रूप से रहते हैं, और वर्ण-गंधादि निश्चित रूप से जड में रहते हैं। एक दूसरे के गुण एक-दूसरे में संक्रमित नहीं होते हैं। गुणों में संक्रमण का स्वभाव नहीं है। अपने द्रव्य को छोड़कर बाहरी विजातीय द्रव्य में जाने का उनका स्वभाव नहीं है। जड़-चेतन दोनों है तो द्रव्य ही, तो फिर द्रव्य की एक ही जाति के दोनों द्रव्यों में गुण संक्रमित क्यों नहीं हो सकते हैं? गुण को तो द्रव्य के आधार पर ही रहना है। द्रव्य के स्वरूप में तो जड़-चेतन दोनों द्रव्य ही है, तो फिर इसके गुण इसमें रह जाय तो क्या गलत है? परंतु नहीं, ऐसा कदापि संभव नहीं है। जड़-चेतन दोनों द्रव्य की जाति के ही द्रव्य है फिर भी गुण संक्रमित नहीं होते हैं। जड़ के गुण जड़ में रहेंगे और चेतन के गुण चेतन आत्मा में ही

रहेंगे। इसलिए दोनों जड़-चेतन द्रव्यों को अलग करनेवाले उनके गुण है। ज्ञान-दर्शन के कारण जीव चेतन कहलाता है । उसी तरह वर्ण-गंध-रस-स्पर्शादि गुणों के कारण जड़-जड़ द्रव्य कहलाता है । इसलिए गुण द्रव्य भेदक कहलाते हैं। जड़ और चेतन दोनों ही भिन्न-भिन्न स्वतंत्र द्रव्य है दोनों के गुण सर्वथा भिन्न होने से जड़ अपना अलग स्वतंत्र अस्तित्व रखता है और चेतन जीव अपना अलग स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। इन दोनों में ज्ञान-दर्शन ही प्रमुख भेदक गुण है।

ज्ञान योग की प्राधान्यता :-

आत्मा के कई गुण है, परंतु उन सब में ज्ञान ही एक मात्र प्रमुख गुण है। अन्य सभी गुणों का आधार ज्ञान गुण पर है। सुख-दुःख के संवेदन में भी ज्ञान गुण की ही प्राध्यानता है। चारित्र गुण भी ज्ञानाश्रयि है। चारित्र के आचरण में भी ज्ञान की आवश्यकता है । ज्ञानयुक्त तथा ज्ञानानुसारी चारित्र ही तारक बनेगा । ज्ञान ही विवेक स्वरूप है। हेय-ज्ञेय और उपादेय का विवेक ज्ञान के आधार पर ही होगा। अज्ञानी विवेक नहीं रख पाता है। ज्ञानी विवेक का भी सूक्ष्म रूप से आचरण कर सकता है। क्या हेय अर्थात् त्याज्य है? क्या ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य है? क्या उपादेय-अर्थात् आचरने योग्य है? इस प्रकार का विवेक ज्ञानी को विशेष रखना है। इसलिए ज्ञान योग की साधना सबसे ज्यादा प्राधान्यता रखती है। शास्त्रकार महर्षियों ने व्याख्यान-प्रवचन का अधिकार भी ज्ञानी गीतार्थ को दिया आलोचना-प्रायश्चित भी ज्ञानी गीतार्थ से लेने को कहा है। विहार भी ज्ञानी गीतार्थ की निश्रा में या उनकी आज्ञानुसार करने के लिए कहा। अंत में यहां तक कह दिया है कि ज्ञानी-गीतार्थ के हाथों से हलाहल जहर भी पीना अच्छा है, परंतु अज्ञानी अगीतार्थ के हाथों से अमृत पीना भी बुरा है। लोक-व्यवहार में मरीज कहते हैं कि अच्छे विशेषज्ञ कुशल वैद्य-हकीम या डॉक्टर के हाथों से मरना भी अच्छा है परंतु मूर्ख अर्धज्ञानवाले या अल्पज्ञानवाले ऊंट वैद्य या नकली डॉक्टरों के हाथों से अमृत पीकर जीना भी भयावह है। ज्ञान योग से ही आत्मा-परमात्मा को समझ सकेंगे। तत्त्वार्थ और यथार्थ दोनों स्वरूप ज्ञानयोग से ही समझ सकेंगे । ज्ञानी ही सुख की सच्ची दिशा समझ पाते हैं। ज्ञानी ही सत्य की सही खोज कर पाता है। ज्ञान योग की सही साधना से ही तत्त्वातत्त्व का विपर्यास दूर होता है। पदार्थों एवं तत्त्वों की यथार्थता-वास्तविकता ज्ञानगम्य ही है। ज्ञानयोग के बल पर ही परोक्ष रूपसे स्थित स्वर्गापवर्ग,लोक-परलोक, स्वर्ग-नरक, पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म एवं कर्म-धर्म तथा मोक्षादि तत्त्वों का सही बोध प्राप्त कर सकते हैं। स्व-पर का निश्चयात्मक प्रमाण भूत ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। प्रमाणनय तत्त्वालोक, जैन तर्क भाषा आदि प्रमुख तर्क-न्याय ग्रंथों में व्याख्या करते हुए यही कहा है कि -**''स्व-पर व्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्''** । स्व

और पर का निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमाण कहा गया है। भ्रम-संशय या विपर्यय का निवारक भी प्रमाण ज्ञान है। ज्ञान ही जीव को सही दिशा प्रदान करता है। जीवन की सही दिशा का चयन ज्ञानगम्य है। ज्ञान की वृद्धि सम्यग् श्रद्धा की वृद्धि करेगा। सत्यासत्य का विवेक ज्ञान योग से ही साध्य है। इस तरह ज्ञान की महिमा अपरम्पार है। यह सर्वस्वीकृत बात है इसमें रत्ति भर भी शंका नहीं है। परंतु कैसा ज्ञान चाहिए? यह सोचना होगा।

सम्यग् ज्ञान और मिथ्या ज्ञान :-

सम्यग् ज्ञान भी ज्ञान ही है और उससे विपरीत मिथ्या ज्ञान भी ज्ञान के जैसा ही भासता है। सांप को ही सही सांप मानना और अंधेरे में पड़ी टेड़ी-मेढी रस्सी को भी सांप मानना। दोनों ज्ञान ही भासेंगे, परंतु एक सही ज्ञान है जबकि दूसरा भ्रम ज्ञान है। वृक्ष को वृक्ष मानना सम्यग् ज्ञान है परंतु अंधेरे में या दूर से पुरुषाकृति दिखाई देने पर भ्रमवश पुरुष मानना यह संशय ज्ञान है। शुक्तिकायां रजत बुद्धि भ्रमात्मक है। मृगमरीचिका-रेतीले रेगिस्तान में सूर्य की किरणें रेती में चमक पैदा करती है उसे पानी मान लेना यह भ्रम है। हिरन कस्तुरी को बाहर समझकर भटकने लगता है। यह उसका भ्रम ज्ञान है। भ्रम या विपरीत ज्ञानवश भटकना भी दुःखदायि है। ठीक उसी तरह शरीर को ही आत्मा मानने वाले देहात्मवादी नास्तिक कहे जाते हैं। प्राण शक्ति को ही आत्मा मानना, इन्द्रियों को आत्मा कहना या मन को आत्मा कहना या पंचभूत की शक्ति को आत्मा कहना ये सभी मिथ्याज्ञान है। स्वर्ग को ही अपवर्ग-मोक्ष कहकर व्यवहार करना यह मिथ्याज्ञान है। अधर्म को ही धर्म कहना, हिंसा में ही धर्म मान लेना, पापाचार में ही पुण्य मान लेना, या अधर्म सेवन-पापाचार से सुखी बनने की अपेक्षा रखनी, या अहिंसा, दया धर्म की योग्य व्याख्या न करना, से सभी मिथ्या ज्ञान के प्रकार है। स्वर्ग नरक-पूर्व जन्म-पुनर्जन्म कुछ है ही नहीं। आत्मा-परमात्मा कुछ भी नहीं है। लोक-प्ररलोक जैसी कोई वस्तु नहीं है। मोक्ष आदि कुछ नहीं है। कर्म-धर्म की बातें झूठी है। इत्यादि मिथ्या-विपरीत ज्ञान है। तत्त्व की यथार्थता न स्वीकारना मिथ्यात्व है। जहर घातक है और अमृत प्राणदायक है। उसी तरह मिथ्याज्ञान घातक है और सम्यक् ज्ञान तारक है। सम्यक् दृष्टि जीव को मिथ्याज्ञान की बात भी सम्यक् रूप में परिणत होती है, क्योंकि दृष्टि ही तथाप्रकार की सम्यक् होने से वह उसी तरह देखेगा। जबकि मिथ्यादृष्टि की दृष्टि ही विपरीत है अतः सत्य भी असत्य रूप में दिखाई देता है। जैसे जोन्डीस(पीलीया) रोगग्रस्त रोगी को सफेद वस्तु भी पीली दिखाई देती है वैसे ही मिथ्यात्वी को सब कुछ उसकी बुद्धि के अनुसार विपरीत-मिथ्यारूप दिखाई देता है। अतः दृष्टि तथा बुद्धि सम्यग् बनाना ही हितावह है। इससे वृत्ति तथा दृष्टि उभय सम्यग् बनेगा।

सम्यग् ज्ञान :–

स्वार्थाकारपरिच्छेदो निश्चितो बाधवर्जितः ।
सदा सर्वत्र सर्वस्य सम्यग् ज्ञानमनेकधा ॥

तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक महाग्रंथ में सम्यग् ज्ञान की व्याख्या करते हुए लिखा है कि–संशय–विपर्यय और अनध्यवसायादि बाधकारक दोष रहित निश्चयात्मक स्वार्थाकार ज्ञान सम्यक् ज्ञान कहा जाता है। तत्त्वार्थवार्तिक में इसी व्याख्या को स्पष्ट करते हुए कहा है कि - "**नयप्रमाण;विकल्पपूर्वको जीवद्यर्थ याथात्म्यावगमः सम्यग्ज्ञानम्**" नय और प्रमाण के विकल्पपूर्वक जीवादि पदार्थों का जो जैसे हैं उनका वैसा ही यथार्थज्ञान सम्यग् ज्ञान कहलाता है। सम्यग् का ही विशेष अर्थ है कि मोह–संशय–विपर्यय आदि से,रहित यथार्थ वास्तविक ज्ञान ही सम्यग् ज्ञान होता है, अर्थात् जो जीवादि पदार्थ जैसा है, जिस मूलभूत स्वरूप में है उसे उसी स्वरूप में देखना–जानना यह यथार्थता ही सम्यग् स्वरूप की द्योतक है। जीव–अजीवादि जो जैसे हैं उससे विपरीत देखें या समझे तो वह विपरीत ज्ञान विपर्यय या विपर्यास के कारण मिथ्याज्ञान कहलाएगा। यह संशयादि रहित निश्चयात्मक ज्ञान नय–और प्रमाणों के आधार पर होता है, अतः नय–प्रमाण का यह जोड़ा है। "**प्रमाणनयैरधिगमः**" अधिगम अर्थात् ज्ञान। प्रमाण और नय उभय पद्धति से ज्ञान होता है अतः उमास्वाति महाराज ने तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में यह सूत्र देकर उपरोक्त बात को स्पष्ट की है। अतः दोनों की सप्त भंगीयां बनाई गई हैं (१) प्रमाण सप्तभंगी और (२) नय सप्तभंगी। प्रमाण सप्तभंगी में कथंचित की अपेक्षा के साथ सात भंग बनते हैं। इन सातों भेदों की अपेक्षा को समझकर पदार्थ का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जाय वह सही ज्ञान का स्वरूप बनेगा,और दूसरी नय सप्तभंगी में सात नयों के जरिये पदार्थ का बोध प्राप्त किया जाय तो सम्मिलित रूप सम्यग् ज्ञान होगा। परंतु निरपेक्ष भाव से यदि एक ही नय से ज्ञान प्राप्त किया जाय तो वह पूर्ण ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि नय एकांशग्राही है,सर्वांशग्राही प्रत्येक नय नहीं है। यदि सभी नयों की दृष्टि को एकत्र करके फिर वस्तु का निर्णय किया जाय तो वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान होगा। उसी तरह प्रमाण सप्तभंगी के सातों भगों से अस्ति–नास्ति–भेदाभेद, सामान्य विशेषादि गुण धर्मों की दृष्टि से सभी भंगों से सापेक्ष ज्ञान प्राप्त किया जाय तो वह वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान होगा। वस्तु के संपूर्ण स्वरूप का यथार्थ बोध प्राप्त करने के लिए प्रमाण और नयों की आवश्यकता होती है,अतः प्रमाण और नय ये ज्ञान की प्रक्रिया के रूप में है। ज्ञान बोधक पद्धति है।

प्रमाण–नय से ज्ञान :–

सप्त नय

नैगम संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र शब्द समभिरूढ़ एवंभूत

ये सात नय हैं। **वक्तुरभिप्राय विशेषो नयः**। कहने वाले वक्ता का अभिप्राय विशेष नय है,अतः नय एकांशग्राही है। सभी नय अपनी तरफ से अलग-अलग स्वरूप बताते हैं। पूर्व पूर्व नयों का विशेष क्षेत्र बड़ा है और उत्तर नयों का विषय क्षेत्र संक्षिप्त होता जाता है। छोटा होता जाता है। नैगम व्यापक दृष्टिवाला है। उससे छोटा संग्रह और फिर क्रमशः छोटे छोटे होते जाते हैं। अंत में एवंभूत नय वर्तमान काल की सामान्य बात ही करता है। ये एक एक नय मिथ्याज्ञान स्वरूपी है। परंतु सभी नयों का सम्मिलित स्वरूप सम्यग् ज्ञान बनता है। जगत के मिथ्या दर्शन एक एक नय को लेकर बात करते हैं। अन्य नय की बात वे सोचते नहीं है। अतः ज्ञान सर्वांश सम्पूर्ण नहीं बन पाता। ''षड् दर्शन जिन अंग भणीजे'' नमिनाथ भगवान के स्तवन में अध्यात्म योगी आनंदघनजी महाराज ने इन शब्दों से यह कह दिया है कि हे जिनेश्वर प्रभु ! छः दर्शन आपके ही एक एक अंग है। हाथ-पैर-आंख-कान आदि जैसे शरीर के एक एक अंग है वैसे भिन्न भिन्न नय ये अंग है। सभी अंगों का बना हुआ, मिला हुआ सर्वांगी सम्पूर्ण शरीर कहलाता है वैसे ही सभी नयों का भिन्न भिन्न स्वरूप संपूर्ण मिलकर सर्व अपेक्षा से देखें तो वह ज्ञान सम्यग् ज्ञान बनता है। सभी नदियां स्वतंत्र अलग-अलग है,परंतु समुद्र सभी नदियों का मिश्रित स्वरूप है, उसी तरह मिथ्याज्ञान एकांशग्राही होता है। सापेक्ष नहीं निरपेक्ष होता है। जबकि सम्यग् ज्ञान सर्वांशग्राही सापेक्ष होता है। सभी अपेक्षाओं को ग्रहण करके चलता है।

स्याद्वाद-सप्तभंगी :-

स्याद्वाद-अनेकांतवाद यह जैन धर्म की एक मौलिक विशिष्ट देन है। यह ज्ञान की एक विशेष प्रक्रिया है। अनेकांतवाद और स्याद्वाद दोनों ही इसीके नाम है। सापेक्षवाद भी कहते हैं । **''अनंत धर्मात्मकं वस्तु''** - वस्तु अनंत धर्मात्मक होने से अनेक दृष्टिकोण से एक वस्तु को देख सकते हैं। सभी धर्म विरोधी नहीं है। विरोधी भासने वाले विपरीत धर्म भी एक ही वस्तु में भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से पड़े होते हैं। उदाहरणार्थ एक मनुष्य है। उसमें अनेकों का संबंध है। उन संबंधों वाच्य वह मनुष्य किसी का पुत्र भी है, किसी का पिता भी है। किसी का चाचा भी है, किसी का पौत्र भी है, किसी का पितामह (दादा) भी है। किसी का पति भी है। किसी का मामा भी है। किसी का जमाई (दामाद) भी है किसी का बहनोई एवं किसी का साला भी है। इस तरह न मालुम कितने संबंध उसमें होने से अनेक संज्ञाओं से वह वाच्य

बनता है। देखने पर ऐसा लगता है कि पुत्रत्व-पितृत्व, पौत्रत्व, पितामहत्व आदि विरोधाभासी धर्म है। हम आश्चर्य में गिर जाते हैं कि - जो पुत्र है वह पिता कैसे हो सकता है? अरे...! जो पौत्र है वह पितामह कैसे हो सकता है? ये हमारे मन के विरोधाभासी प्रश्न है। हमें विपरीत लगते हैं - कि एक व्यक्ति में ये परस्पर विरोधाभासी धर्म कैसे रह सकते हैं? परंतु ऐसा नहीं है। सभी धर्म भिन्न-भिन्न अपेक्षा से रहे हुए हैं। जैसे अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है, परंतु उसी समय अपने पुत्र की अपेक्षा वह पिता भी है। वैसे ही अपने पितामह के सामने वह पौत्र है, परंतु अपने पौत्र का वह पितामह ही लगेगा। इस तरह भिन्न-भिन्न अपेक्षा से भिन्न-भिन्न अनेक धर्म एक व्यक्ति में रहते हैं। उन्हें हम अपेक्षाओं से देखकर व्यवहार करें वह सापेक्षवाद है। उन अनंत धर्मों को देखकर अनेकांतवाद कथन करता है। उदाहरणार्थ यह एक व्यक्ति के बारे में देखा है। वैसे ही जगत् की अनंत वस्तूए हैं। प्रत्येक वस्तु अनंत धर्मात्मक है। अतः अनेकांतवाद उन अनंत धर्मो को भिन्न भिन्न अपेक्षा से देखकर पदार्थ का सही स्वरूप समझने की कोशिश करता है। उन सभी अपेक्षाओं को स्याद् शब्द से अंकित करके कहना ही स्याद्वाद है। स्याद् = का अर्थ है 'कथंचित्' और वाद का अर्थ है - 'कथन करना-कहना'। अन्य अपेक्षाओं का लोप न करते हुए सभी अपेक्षाओं से वस्तु का कथन करने की पद्धति को स्याद्वाद कहते हैं।

नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भेद-अभेद, सामान्य-विशेष आदि कई धर्म है जो वस्तु में रहते हैं। उन्हें क्रमशः देखने के लिए सात ही प्रकार के भंग बनते हैं अतः सप्तभंगी कहलाती है। आपको आश्चर्य होगा कि सात ही भंग क्यों होते हैं? इसके उत्तर में कहा जाता है कि अनंत भंगों में भी सात भंगों की ही कल्पना सिद्ध है। प्रत्येक पर्याय की अपेक्षा प्रतिपाद्य संबंधी सात प्रकार के ही प्रश्न किये जा सकते हैं अतएव सात ही भंग होते हैं। प्रत्येक पर्याय की अपेक्षा सात प्रकार की ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है, इसलिए सात प्रकार के ही प्रश्न उत्पन्न होते हैं। संदेह (शंका) के सात ही प्रकार हो सकते हैं इसलिए सात ही प्रकार की जिज्ञासा हो सकती है, तथा प्रत्येक वस्तु के सात ही धर्मों का होना संभव है, इसलिए संदेह भी सात ही प्रकार के होते हैं। यह भेद से संदेह की तरफ नीचे उतरते हुए उल्टे क्रम से सात ही भंग क्यों है का उत्तर दिया है। इसे ही यदि चढते क्रम से सीधे देखें तो वस्तु को समझने के लिए उसके धर्मों को देखने हेतु सात ही प्रकार की मन में शंकाएं (संदेह) जगते हैं, इसलिए कि वस्तु में सात ही धर्म होते हैं। सात धर्मों के आधार पर शंकाएं सात ही हुई। शंकाएं सात ही इसलिए हुई कि प्रत्येक पर्याय की अपेक्षा सात प्रकार की ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है। जिज्ञासा सात ही इसलिए होती है क्योंकि प्रत्येक पर्याय की अपेक्षा प्रतिपाद्य संबंधी सात प्रकार के ही प्रश्न किये जा सकते हैं। इसलिए भंग संख्या भी सात ही होगी। वे

सात भंग इस प्रकार है –

(१) स्याद् अस्ति घटः । (२) स्यान्नास्ति घटः ।

(३) स्याद् अस्ति च नास्ति च घटः । (४) स्याद् अवक्तव्य घटः ।

(५) स्याद् अस्ति च अवक्तव्य घटः । (६) स्याद् नास्ति च अव्यक्तव्यश्च घटः

(७) स्याद् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यश्च घटः ।।

स्याद् का यह अव्यव है जो कथंचित् अर्थ में प्रयुक्त होता है। स्याद् लगाने से यह अन्य अपेक्षाओं का निषेध नहीं करता है (१) स्याद् अस्ति घटः – अर्थात् स्वद्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षा से घट का अस्तित्व है। सभी वस्तु अपने द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव से विद्यमान है परंतु वही वस्तु पर द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव से नहीं है। जैसे घडा स्व द्रव्य रूप से मिट्टी का है। पार्थिव है। जल रूप से नहीं है। क्षेत्र (स्थान) की अपेक्षा से घडा जयपुर का है परंतु बम्बई का नहीं है। काल (समय) की अपेक्षा जाडे (शीत ऋतु) का है पर ग्रीष्म ऋतु का नहीं है। भाव (स्वभाव) की अपेक्षा काला–श्याम है परंतु लाल नहीं है। इस तरह प्रथम भंग का अर्थ है स्व द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षा से घड़ा है। दूसरे भंग का अर्थ हुआ वही घडा स्व द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षा से विद्यमान होते हुए भी पर द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव से विद्यमान नहीं है। जिसका स्व द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षा अस्तित्व है उसीका पर द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षा नास्तित्व समझना चाहिए। तीसरा भंग–पहले–दूसरे दोनों भंगों का संयुक्त स्वरूप है। वही घट अस्ति–नास्ति दोनों अपेक्षा से एक देखा जाता है, अतः वस्तु स्वरूप की अपेक्षा अस्तिरूप होते हुए भी पर रूप अपेक्षा से नास्तिरूप है। नहीं है। वस्तु की दोनों अपेक्षाओं का समूहात्मक ज्ञान कराता है वह तीसरा भंग है। (४) चौथा भंग यह कहता है कि दोनों अपेक्षाओं को किसी एक शब्द से वाच्य नहीं कर सकते हैं अतः अवक्तव्य है। इसलिए कहने में – दूसरे के सामने कथन करने में हम अस्ति–नास्ति दोनों धर्मों को एक शब्द से या एक साथ कथन नहीं कर सकते अतः अवक्तव्य है। चूंकि अस्ति–नास्ति परस्पर विरूद्ध दोनों धर्मों को एक साथ एक शब्द से कैसे कहें? अतः अवक्तव्य है। (५) जब हम वस्तु को स्वरूप की अपेक्षा सत् कहकर उसकी एक साथ अस्ति–नास्ति रूप अवक्तव्य रूप से विवेचना करना चाहते हैं उस समय वस्तु स्यादस्ति अवक्तव्य नामक पांचवे भेद से कही जाती है। (६) जब हम वस्तु की नास्तित्व धर्म की विवक्षा से एक साथ अस्ति–नास्ति रूप अवक्तव्य रूप से विवेचन करना चाहते हैं उस समय वस्तु स्यान्नास्ति अवक्तव्य भंग से कही जाती है।(७) प्रत्येक वस्तु क्रम से स्व और पर रूप की अपेक्षा अस्ति–नास्ति होने पर भी एक साथ

अस्ति-नास्ति रूप अवक्तव्य होने के कारण स्यादस्ति-नास्ति अवक्तव्य रूप सातवें भंग से कही जाती है।

प्रत्येक वस्तु में अनंत धर्म होने के कारण वस्तु के अनेक भंग होते हैं, परंतु ये अनंत भंग विधि और निषेध की अपेक्षा से सात ही हो सकते हैं। अतः एवं जिस प्रकार सत्व धर्म (अस्तित्व धर्म) और असत्व धर्म (नास्तित्व धर्म) से एक ही सप्त भंगी (सात भगों का एक समूह) होती है, उसी तरह सामान्य धर्म और विशेष धर्म की अपेक्षा से एक ही सप्त भंगी बनती है। इस तरह वस्तु के भिन्न भिन्न धर्म की अपेक्षा से भिन्न भिन्न सप्त भंगीयां बनेगी।

अनेकांतवाद वस्तु के अनंत धर्मों का मानसिक रूप से विचार करने में उपयोगी है। उसे ही स्याद् शब्द लगाकर कथन करने में स्याद्वाद कार्य करता है। ये सभी अपेक्षाओं को लेकर चलते हैं। अतः(१) काल (२) स्वभाव (आत्म रूप) (३) अर्थ (आधार) (४) सम्बन्ध (५) उपकार (६) गुणिदेश (द्रव्य का आधार) (७) संसर्ग तथा (८) शब्द इत्यादि आठ प्रकार से विवक्षा की जाती है। सकलादेश से ज्ञान होता है। अतः यह सकलादेश सप्तभंगी कहलाती है। अन्य विकलादेश सप्तभंगी कहलाती है।

स्याद्वाद की महिमा :-

स्याद्वाद की महिमा बहुत गाई गई है। बड़े बड़े दिग्गज ज्ञानी महान तार्किक शिरोमणीयों ने स्याद्वाद की महिमा मुक्त कंठ से खूब गाई है। सिद्धसेन दिवाकरसूरि महाराज सन्मति तर्क प्रकरण ग्रंथ में यहां तक कहते हैं कि -

जेण विणा लोगस्स ववहारो सव्वहा न णिव्वईए।
तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमो अणेगान्तवायस्स ।।

जिसके बिना लोक का व्यवहार सर्वथा चल ही नहीं सकता ऐसे तीन लोक रूप समस्त संसार के एक मात्र गुरू स्वरूप अनेकांतवाद को नमस्कार हो। अब आप सोचिए ! इससे ज्यादा महिमा किन शब्दों में गावें? मैं समझता हुँ कि महात्मा पुरुष ने चरम कक्षा की महिमा गाते हुए शब्द प्रयुक्त किये हैं। ठीक ही कहा है कि- अनेकांतवाद के बिना लोक व्यवहार भी नहीं चल सकता है। लौकिक व्यवहार में यदि हम सभी लोग एक दूसरे की अपेक्षा अच्छी तरह समझकर व्यवहार करें तो शायद क्लेश-कषाय का प्रसंग भी न आवे। कौन किस अपेक्षा में कह रहा है? कहने वाले का आशय क्या है? हेतु क्या है? यह यदि हम अच्छी तरह से समझ लें तो शायद राग-द्वेष का कभी भी प्रसंग ही न आवे। परंतु संसार में रोज क्लेश-कषाय जो उत्पन्न होते हैं उसका मूल कारण यही है कि हम कहने वाले की अपेक्षा समझ नहीं पाते हैं। उसी तरह कहने वाला अपेक्षाओं को समझकर देखकर नहीं कह पाता है।

द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षाओं से हमें भाषा व्यवहार करना चाहिए। इस तरह यह अनेकांतवाद–स्याद्वाद ज्ञान की प्रक्रिया है। यह राग–द्वेष से बचाने वाली, क्लेश–कषाय से रक्षा करनेवाली, कर्म बंध से बचाने वाली, असत्य–मृषावाद एवं वाचिक–मानसिक हिंसा से बचाने वाली एक विशिष्ट पद्धति है। इसी से वस्तु का ज्ञान सम्यग्ज्ञान होगा तो तज्जन्य श्रद्धा भी सम्यग् होगी। ज्ञान और श्रद्धा दोनों का परस्पर एक दूसरे पर आधार है। ज्ञान सम्यग् होगा तो श्रद्धा भी सम्यग् होगी और श्रद्धा यदि सम्यग् होगी तो ज्ञान भी सम्यग् होगा। अतः सम्यग् ज्ञान के लिए श्रद्धा भी सम्यग् रखनी चाहिए । विशेषावश्यक भाष्य में कहा है कि - **''जीवादि तत्त्व विषया रूचिः श्रद्धानं सम्यक्त्वं भण्यते, येन पुनस्तज्जीवादि तत्त्वं रोच्यते श्रद्धीयते तज्ज्ञानम्। या तत्त्व श्रद्धानात्मिका तत्त्वरूचिरुपजायते, तया तत्त्वश्रद्धानात्मक जीवादितत्त्वरोचकं विशिष्टं श्रुतं जन्यते तज्ज्ञानं सम्यग् ज्ञानं अज्ञान–मिथ्याज्ञान निवृत्ति जनकम्।''** जीवादि तत्त्व विषयक रूचि रूप श्रद्धा से सम्यक्त्व कहते हैं। जिससे वे जीवादि तत्त्व रूप पदार्थ रूचते हैं, श्रद्धा निर्माण होती है वह ज्ञान है। जो तत्त्व श्रद्धा रूप तत्त्वरूचि जागृत होती है। वह तत्त्व श्रद्धा जीवादि तत्त्वरूप विशिष्ट श्रुत ज्ञान को उत्पन्न करती है। वही ज्ञान सम्यग् ज्ञान है जो अज्ञान एवं मिथ्याज्ञान की निवृत्ति कारक है। अतः ज्ञान की सम्यगता होनी आवश्यक है।

सभी जीवों में ज्ञान है

आत्मा में ज्ञान है और ज्ञानमय ही आत्मा है। अतः जीव को ज्ञान से भिन्न नहीं कर सकते हैं। उसी तरह ज्ञान को जीव से भिन्न नहीं कर सकते हैं। दोनों का परस्पर अविनाभाव संबंध है। एक दूसरे पर एक दूसरे का आधार है। आत्मा में ज्ञान है, और ज्ञानमय ही आत्मा है। अतः संसार का कोई भी जीव होगा वह अवश्य ज्ञानमय ही होगा। भले ही अव्यक्त अवस्था में छोटे स्वरूप में हो या भले ही वह बड़े महान स्वरूप में हो। परंतु ज्ञान अवश्य ही होगा। अंतर सिर्फ ज्ञान के प्रमाण में रहेगा। किसी जीव में ज्ञान का प्रमाण अल्प रहेगा तो किसी जीव में ज्ञान का प्रमाण अत्यधिक ज्यादा भी रहेगा। यह जीव के तथाप्रकार के ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम पर आधारित है। जिस जीव का ज्ञानावरणीय कर्म जितना ज्यादा उदय में रहेगा उसका उतना ही ज्यादा अज्ञानी रहेगा। वैसे ही जिस जीव का जितना ज्यादा ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम रहेगा उसका उतना ही ज्यादा ज्ञान बढ़ा हुआ रहेगा। तथा जिस जीव का ज्ञानावरणीय कर्म यदि सर्वथा क्षय हो चुका रहेगा उसे क्षायिकभाव से संपूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ रहेगा। वह अनंतज्ञानी कहलाएगा। हम क्षयोपशमवाले अल्पज्ञानी कहलाएंगे । और कई अज्ञानी कहलाएंगे। अज्ञानी शब्द

में अ-अक्षर निषेधात्मक नहीं है। अज्ञानी अर्थात् ज्ञानरहित ऐसा अर्थ नहीं हो सकता। परंतु अज्ञानी का 'अ' अक्षर-अल्पार्थ सूचक है। प्रमाण में ज्ञान की अल्पार्थता-न्यूनता बोधक है। अतः अज्ञानी का अर्थ होगा अल्पज्ञानी। अच्छा यदि अज्ञानी शब्द में 'अ' अक्षर का अर्थ निषेधार्थ लेंगे तो उसका अर्थ होगा उस विषय का अज्ञान। जिस संदर्भ की बात चल रही है उस संदर्भ में यदि किसी को अज्ञानी कहा भी है तो इसका अर्थ हुआ वह व्यक्ति उस विषय में सर्वथा अन्जान है। कुछ भी नहीं जानता है। जैसे हम सर्जरी-शल्य चिकित्सा के विषय में अज्ञानी है, तो यहां संदर्भ सर्जरी का है। हम सर्जरी के विषय में सर्वथा अज्ञानी है, अर्थात सर्जरी विषयक क्षेत्र में सर्वथा ज्ञान रहित अज्ञानी है। परंतु सर्वथा सर्व ज्ञान रहित नहीं है। सर्जरी विषयक अज्ञान होते हुए भी अन्य कई विषयों का ज्ञान पड़ा है अतः हम ज्ञानी भी हैं। परंतु ज्ञानी होते हुए भी उन विषयों के संपूर्ण जानकार न होने के कारण ज्ञानी नहीं अज्ञानी-अर्थात् अल्पज्ञानी है। अतः संसार में जो भी कोई जीव है वह ज्ञानरहित नहीं है, ज्ञानयुक्त ही है। भले ही किसी में प्रमाण न्युनाधिक हो परंतु ज्ञान होगा सही। शास्त्रकार महर्षि तो यहां तक कहते हैं कि-**सव्व जीवाणं पियणं अक्खरस्स अणंतभागो णिच्चुग्घाडियओ, जई पुण सो वि आवरिज्जा तेण जीवो अजीवत्तं पावेज्जा। सुच्छु वि मेहसमुदए होति पभा चंद-सूराणं ।।७-८-९।। अक्खरस्स अणंत भागो णिच्चुग्घाडीयो होई''** ज्ञान का अनंतवां भाग सभी जीवों में प्रगट है। चाहे जीव निगोद की एकेन्द्रिय की अव्यक्त अवस्था में पड़ा हो तो भी उस अवस्था में निगोद के जीव में भी ज्ञान प्रगट है। भले ही वह ज्ञान अनंतज्ञान का अनंतवां भाग ही क्यों न हों परंतु है सही। अतः पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, सूक्ष्मसाधारण वनस्पतिकाय (निगोद) आदि सभी जीवों में ज्ञान अवश्य पड़ा है। अतः जगत् में जो भी जीव है वह ज्ञानवान् अवश्य है। ज्ञान रहित नहीं है। यही सारांश है।

आत्म निहीत ज्ञान का प्रमाण :-

ज्ञान यह आत्मा का गुण है। आत्मा अरूपी-अनाकार द्रव्य है। ज्ञान आत्माश्रयी गुण है। द्रव्याश्रयी गुण द्रव्याकार रूप से रहता है। आत्मा के असंख्य प्रदेश है अतः ज्ञान भी आत्मा के असंख्य प्रदेशों मे फैला हुआ है। एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है कि जिसमें ज्ञान न हो। यदि सभी तिल में तेल है तो एक तिल बिना तेल का कहां से होगा? सभी में है अतः सभी का सामूहिक प्रमाण दृष्टिगोचर होता है। प्रकाश सूर्य के साथ निश्चित रूप से है अतः भिन्न होने का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता ज्ञान आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में प्रसृत है इन असंख्य प्रदेशों के केन्द्र में रहे हुए आठ प्रदेश जो

रूचक प्रदेश हैं। वे नित्य स्थिर रूप से हैं। ये ही आत्मा के आठ मूलभूत गुणो के केन्द्र स्वरूप है। इन आठ रूचक प्रदेशों में ही आठ गुण मूलभूत अवस्था में पडे हुए हैं। इन आठ रुचक प्रदेशों पर कभी भी कर्म का आवरण नहीं आता है। अतः इनमें ज्ञानादि गुण प्रकट रहते हैं। परंतु असंख्य प्रदेशों में से ये सिर्फ आठ ही प्रदेश है। जो ज्ञानादि गुण असंख्य प्रदेशों में प्रसृत होकर रहते हैं उन्हें यदि घनीभूत होकर एक-एक प्रदेश में ही यदि रहना पडे तो उनका स्वरूप कितना सूक्ष्म हो जाएगा? अतः अत्यन्त सूक्ष्म रूप में ही क्यों न हों परंतु ज्ञानादि गुण घनीभूत होकर रहे हुए हैं। मूल में स्थित है। बाहर से नहीं आते हैं। अतः ज्ञान अंतस्थ गुण है। जैसे सुदर्शन चूर्ण है उसे खूब उबालकर घन सत्व को एक गोली के रूप में दिया जाय तो चूर्ण की अपेक्षा सौगुना ज्यादा काम करता है। एक गोली में शक्ति सौगुनी बढ गई। जैसे दूध को उबालकर रबड़ी के रूप में घन किया तो दूध की अपेक्षा रबड़ी की शक्ति चौगुनी हो गई। उसे और भी ज्यादा उबाला जाय.. यहां तक कि जलाया जाय और फिर पेडा बनाया जाय तो दूध की अपेक्षा पेडे में उसकी शक्ति घनीभूत होकर रहेगी। वैसे ही आत्मा में ज्ञानादि गुण जो असंख्य प्रदेशों में व्याप्त है उन असंख्य प्रदेशों पर कार्मण वर्गणा छा गई हो और उनमें सिर्फ आठ रुचक प्रदेश ही अवशिष्ट रहे हो जहां कार्मण वर्गणा नहीं लगती वे प्रदेश स्वच्छ स्पष्ट हो तो उनमें घनीभूत होकर रहे हुए ज्ञानादि गुण मूलभूत सत्ता में अवश्य रहेंगे। एक एक प्रदेश में जो गुण रहेंगे वे घनीभूत शक्तिवाले होंगे। अनंत ब्रह्मांड में फैलने वाला समस्त लोकालोक व्यापी अनंत केवलज्ञान जो आत्मा के असंख्य प्रदेशों में प्रसृत होकर रहने वाला है वह कर्मावरण से दबकर सिर्फ रुचक प्रदेश में ही प्रगट है। वह कितना सूक्ष्म होकर? कितना घनीभूत होकर पड़ा होगा? अतः ज्ञान संपूर्ण रूप से है। सिर्फ कर्मावरण से दबकर सूक्ष्मरूप से घनीभूत होकर पड़ा रहता है, परंतु नष्ट नहीं होता है। कार्मण वर्गणा ज्यादा से ज्यादा आत्म गुणों को आच्छादित कर सकती है, ढक सकती है परंतु आत्म गुणों का सर्वथा नाश नहीं कर सकती एक भी आत्म प्रदेश को नष्ट करके अलग नहीं कर सकती अतः ज्ञानादि गुण आत्मा में दबे हुए, ढके हुए जरूर पडे रहेंगे, अर्थात् ज्ञानादि गुणों की मूलभूत सत्ता-अस्तित्व आत्म द्रव्य में अवश्य रहेगा। गुण बाहर से नहीं आते। आत्मा में ही है अतः आत्मा में से ही प्रकट होते हैं। ज्यों ज्यों कर्मावरण दूर हटते जाएंगे त्यों त्यों इन ज्ञानादि गुणों का प्रादुर्भाव होता जाएगा। प्रकट होते जाएंगे। ज्यों ज्यों पॉलिश होती है त्यों त्यों धातु में चमक बढती जाती है वैसे ही ज्यों ज्यों आत्मा के ज्ञानादि गुणों की उपासना धर्माचरण के रूप में की जाएगी त्यों त्यों कर्मावरण हटते जाएंगे। बादलों के हटने से जैसे सूर्य दिखाई देने लगता है वैसे ही कर्मावरण हटते-हटते ज्ञानादि गुणों का प्रादुर्भाव अनुभव में आता जाएगा। अतः ज्ञानादि गुण आत्मा में ही निहित है। मूल में

पडे ही है। बाहर से नहीं आते हैं। बाहर से लाए भी नहीं जाते। परंतु बाहरी साधन पुस्तक-शास्त्रादि उपकारी उपकरण है। उनके माध्यम से स्वाध्याय से तथाप्रकार के आवरण हटते हैं और ज्ञान प्रकट होता है।

मुख्य रूप से ज्ञान तो एक ही है - केवलज्ञान आत्मा में निहित ज्ञान के टुकडे या भेद नहीं है। वहां तो सिर्फ केवलज्ञान एक ही है। परंतु कर्मावरण के कारण पांच भेद पड गए हैं। कर्मावरण से आच्छन्न आत्मा के ज्ञान का अंश ही न्यूनाधिक मात्रा में प्रकट होता है अतः उस न्यूनाधिक मात्रा के भाग को मति-श्रुत आदि नाम की संज्ञा दी जाती है। इसीलिए केवलज्ञान प्रगट होने के बाद ये मति-श्रुतादि भेद नहीं रहते। सूर्योदय के बाद सूर्य के प्रकाश में तारे नहीं दिखाई देते हैं। तारों का प्रकाश सूर्य के तेज प्रकाश में मिल जाएगा। अतः अलग से दिखाई नहीं देगा, वैसे सर्व सम्पूर्ण अनंत वस्तु विषयक केवलज्ञान जो सर्व व्यापी हैं उसके प्रकट होने के बाद तारे की तरह टिमटिमाते मति श्रुतादि का अल्प (प्रकाश) ज्ञान कहां से दिखाई देगा? इसीलिए मति श्रुतादि चार ज्ञान कर्म के क्षयोपशम के आधार पर जन्य है जबकि केवलज्ञान सर्वथा क्षायिक भाव से जन्य है। जब कर्मावरण का अंश भी नहीं रहेगा सबका संपूर्ण नाश (क्षय) होगा तब केवलज्ञान प्रकट होगा। अतः आत्मा तो पूर्ण ज्ञानी मूल में ही है। अनंत ज्ञानी है। सूर्य तो महाप्रकाशी है। परंतु बादलों ने उसके प्रकाश को आच्छादित किया है वैसे ही आत्मा सूर्यवत् केवलज्ञान से अनंत (प्रकाशी) ज्ञानी है परंतु तथाप्रकार के ज्ञानावरणीयादि कर्मों से आच्छादित है -दबी पड़ी है - ढकी हुई है। इसीलिए आज आत्मा का ज्ञान प्रगट नहीं है। दबा हुआ है। परंतु ये ही ज्ञानावरणीयादि कर्मावरण हट जाय तो ज्ञानादि गुण अपने मूलस्वरूप में, पूर्ण स्वरूप में प्रकट हो जाएंगे। इतनी बात से यह निष्कर्ष तो अवश्य निकला कि - केवलज्ञानादि आत्मा में मूलभूत पड़ा ही है। निगोदावस्था से ही पड़ा है। वही सर्वज्ञावस्था मे सिध्दावस्था में आवरण रहित होकर पूर्ण रूप से प्रकट हो चूका है। इसीलिए निगोदावस्था में एकेन्द्रियावस्था में भी आत्मा ज्ञानादि गुण सम्पन्न ही है। कर्मावरण ज्यादा होने से वे ज्ञानादि व्यक्त प्रकट नहीं है, परंतु मूल सत्ता में पड़े जरूर है। अतः निगोदादि एवं पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय जीवों को भी ज्ञान जरूर है, और ज्ञानादि है इसीलिए जीव कहलाते हैं। ज्ञानादि नही होते तो जीव नहीं अजीव कहलाते। इसीलिए शास्त्र में कहा है कि - **'अक्खरस्स अणंतभागे सव्व जीवाणं णिच्चुग्घाडीयो होई'**- अक्षर का अनंतवां भाग सभी जीवों में प्रकट है।

एक समय में दो क्रिया नहीं होती : -

क्रिया तथाप्रकार के ज्ञानादि गुणों के आधार पर होती है तथाप्रकार की

भिन्न-भिन्न क्रियाओं में ज्ञान आदि गुणों की पूरी आवश्यकता एवं उपयोगिता स्पष्ट दिखाई देती है। शरीर है जिसके अंगोपांग एवं इन्द्रियां तथाप्रकार की क्रिया करते हैं। मानों कि दोनों हाथों को उल्टी दिशा में गोल-गोल घूमाएं तो एक साथ एकही समय दोनों विपरीत दिशा में नहीं घूम सकते। दाहिना हाथ सीधा दाएं तो बांए गोल घूमाएं और ठीक उसी समय बांया हाथ बांए से दांए उल्टी (दाहिने हाथ से विपरीत) दिशा में घूमाएं। एक-दूसरे को रोककर अलग से स्वतंत्र रूप से एक को ही चलाएं और दूसरे को खड़ा रखें, एक चलाते जाएं तो यह एक ही क्रिया एक समय एक साथ नहीं गिनी जाएगी। अतः एक क्रिया एक ही समय एक साथ होनी चाहिए यह शर्त याद रखकर दोनों हाथ गति न रोकते हुए एक साथ परस्पर विपरीत दिशा में चलाएं। यह संभव नहीं है, क्योंकि आत्मा का ज्ञान इस क्रिया में कारक है। निमित्त है। यह क्रिया ज्ञानपूर्वक है। ज्ञान के उपयोग बिना तो यह क्रिया होनी भी संभव नहीं है। अब नियम यह है कि एक समय आत्मा के दो उपयोग नहीं हो सकते। एक समय आत्मा का एक ही उपयोग हो सकता है। अतः दोनों हाथ की विपरीत दिशा में गति ये दो क्रिया हो गई। दोनों भिन्न भिन्न क्रिया है। अतः आत्मज्ञान को भिन्न भिन्न उपयोग वाला होना पड़ता है। यह ज्ञानोपयोग एक ही समय में दो रूप में नहीं हो सकता है। अतः एक समय में एक ही क्रिया होगी। या तो आप १ सेकंड के लिए ही क्यों न हो दांया हाथ रोककर बांया हाथ चलाएं। दो में से एक कार्य करिए, दोनों एक साथ संभव नहीं है। क्योंकि आत्मा के ज्ञान का उपयोग एक समय एक ही होता है दो नहीं हो सकते।

दूसरा दृष्टांत लीजिए - हम पुस्तक पढ़ते हैं, पढ़ते समय पूरा पृष्ठ आंखों के सामने दिखाई देता है। पूरे एक पृष्ठ की २२ या ३२ पंक्तियां सभी दिखाई देती है परंतु सभी एक सथ पढ़ नहीं सकते। दो पंक्ति भी एक साथ पढ़ नहीं जाते। भले ही अखबार की १०० या १००० सभी पंक्तियां एक साथ दिखाई देती हो। परंतु दो पंक्ति भी एक साथ पढ़ नहीं सकते हैं। २ पंक्ति तो क्या २-४ शब्द भी एक ही समय एक साथ पढ़ना संभव नहीं है। क्योंकि आत्मा का उपयोग एक समय में एक ही होता है। पढ़ना यह क्रिया ज्ञान गुण के आधार पर ही होती है।

तीसरा एक दृष्टांत और लीजिए - हम जब चलते हैं तब शरीर के हाथ-पैर चलते हैं। यदि देखा जाय तो पैर से चलते हैं चलने में पैर सहायक अंग है। हाथ है कि नहीं ? हाथ को चलाने की आवश्यकता ही नहीं हैं, फिर भी हम देखते हैं कि चलते समय हाथ भी चलते हैं। हाथ चलते हैं इतना ही नहीं हाथ दाएं-बांए पैर के साथ उल्टे क्रम में चलते हैं। अर्थात् बाएं पैर के साथ दाहिना हाथ और दाहिने पैर के साथ बांया हाथ चलता है। इससे उल्टा नहीं। बाएं पैर के साथ बांया हाथ चले और दाहिने पैर के साथ दांया हाथ चले यह संभव नहीं है। ऐसा होता नहीं है। अतः पैर के

साथ हाथ चलेंगे तो बाएं पैर के साथ दाहिना हाथ चलेगा और दांए पैर के साथ बांया हाथ चलेगा। यही क्रम है। या तो हाथ चले ही नहीं तो भी मनुष्य चलेगा। बिना हाथ चलेंगे तो सही क्रम में ही चलेंगे। यही नियम है । यद्यपि यह क्रिया शरीर की अनैच्छिकक्रिया है, अर्थात जानबूझकर कोई कोशिष करके इस तरह नहीं चलाता है। फिर भी अपने आप स्वाभाविक क्रम से चलते हैं।

यह क्रिया भी ज्ञानोपयोग जन्य क्रिया है। बिना ज्ञानोपयोग के देहादि की कायिक क्रियाएं भी नहीं होती। इसलिए "**उपयोग लक्षणो जीवः**" उपयोग लक्षण वाला जीव कहा गया है।

उपयोग लक्षणात्मक जीव :–

उपयोग यह पारिभाषिक शब्द है। यहां उपयोग शब्द ज्ञान–दर्शनात्मक चेतना शक्ति के अर्थ में प्रयुक्त है। जीव की व्याख्या करते समय कहा गया है कि – "**चेतना लक्षणो जीवः**" चेतना लक्षण वाला जीव है। चेतन आत्मा का वाची शब्द है। चेतना चेतन द्रव्य की शक्ति के रूप में प्रयुक्त है। या चेतन के ज्ञान–दर्शनात्मक गुणों का समूहात्मक सूचक शब्द चेतना है। चेतन है लक्षण जिसका ऐसा चेतन जीव इसलिए चेतना कहो या उपयोग कहो दोनों एकार्थक शब्द है। उपयोग शब्द भी ज्ञान–दर्शनात्मक है, और इन्ही की शक्ति को चेतना कहा है।

उपयोग → साकारोपयोग (ज्ञानात्मक), निराकारोपयोग (दर्शनात्मक)

चेतना → ज्ञानात्मक, दर्शनात्मक

चेतन जीव के ज्ञान–दर्शन गुण को ही चेतना शक्ति कहते हैं। अतः चेतना दो प्रकार की होगी (१) ज्ञानात्मिका चेतना शक्ति और (२) दर्शनात्मिका चेतना शक्ति। एक ज्ञानात्मिका चेतना शक्ति जानने की क्रिया करती है। यही आत्मा का उपयोग है। आत्मा अपने ज्ञान–दर्शन गुणों का उपयोग करती है। उपयोग भी साकार और निराकार रूप से दो प्रकार के बताए गए हैं। सर्व प्रथम आत्मा को निराकारोपयोग होता है। इसे ही दर्शन कहते हैं। दर्शनाकार रूप निराकारोपयोग से प्रथम वस्तु का सामान्य बोध होता है। सामान्य अस्पष्ट बोध प्रथम दर्शनाकार निराकार उपयोग से होता है। फिर आगे बढ़कर वही निराकार ज्ञान उपयोग में जाकर विशेष बन जाता है। साकार बन जाता है। अतः साकारोपयोग ज्ञानात्मक है। इसमें वस्तु का विशेष स्पष्ट बोध होता है। पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करने की यह प्रक्रिया है।

क्रिया का कर्ता जीव :–

आत्मा के ज्ञान-दर्शन गुणों का कार्य क्षेत्र भी है। आत्मा सक्रिय द्रव्य है। अतः उसके ज्ञान-दर्शन गुण क्रिया रूप से प्रवृत्त होते हैं।ज्ञान गुण की क्रिया है जानना और दर्शन गुण की क्रिया है देखना। इसलिए दर्शन देखने की क्रिया करता है उसके बाद जानने की क्रिया करता है। इनके बीच का अंतर सूक्ष्म होने से नगण्य गिना जाता है। देखना और जानना यह प्रमुख क्रियाएं है। अब इन क्रियाओं का कर्ता जड़ या अजीव तो हो ही नहीं सकता। चूंकि ज्ञान-दर्शन अजीव जड़ के गुण नहीं है। ये अनिवार्य रूप से चेतन आत्मा के ही गुण है। अतः जिसके गुण है वही चेतन द्रव्य यह क्रिया करेगा। इसलिए जानने-देखने की क्रिया के कर्ता के रूप में भी आत्मा की सिध्दि होती है। ये क्रिया तो प्रत्यक्ष सिध्द है। देखने-जानने की क्रिया प्रत्येक मनुष्य करता है। सिवाय की अंधा देखता नहीं है परंतु कान आदि अन्य इन्द्रियों से पदार्थ को जानने की क्रिया अच्छी तरह करता है। इन्द्रियां क्रिया में सहायक साधन है - माध्यम है। जिनके जरिए देखने-जानने आदि की क्रिया होती है। अतः आंख देखती है। कान सूनते हैं, यह भाषा गलत है यदि सही होती तो मृतक जो शव है उसके भी आंख, कान तो जैसे थे वैसे ही है तो फिर अब वे क्यों नहीं देखते-सुनते? इसलिए ये इन्द्रियां तो सहायक साधन मात्र है, माध्यम है। अतः चेतनात्मा आंख-कान आदि इन्द्रियां के माध्यम से देखती सुनती है। मूल में क्रिया का कर्ता चेतन जीव है। इन्द्रियां कर्ता के रूप में नहीं है। क्रिया में सहायक साधन मात्र है। इस तरह देखने-सुनने-जानने की क्रिया का कर्ता जीव ही कहलाता है। इसमें देखना-जानना आदि क्रिया जीव के ज्ञान-दर्शनादि गुणों का मलिक जीव है। अतः गुणानुरूप दोनों क्रिया का कर्ता भी जीव ही कहलाएगा। देखने जानने की क्रिया का व्यवहार प्रतिदिन मनुष्य-पशु-पक्षी आदि जीवों के जीवन में होता है। अतः यह आत्मा के अस्तित्व को स्वीकारने के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसीलिए प्रत्यक्षादि प्रमाण से आत्मा की सिद्धि होती है। ज्ञान-दर्शनादि आत्मा के गुण है और गुणों का व्यवहार जानने-देखने की क्रिया के रूप में होता है।

ज्ञान के प्रकार :-

यद्यपि ज्ञान के कोई भेद और प्रकार नहीं हैं क्योंकि सर्व आत्म प्रदेशों में प्रसृत ज्ञान तो एक ही है। परंतु ज्ञानावरणीय कर्मों के आधार पर कितने क्षयोपशम से कितना ज्ञान प्रगट हुआ है और कितना ज्ञान दबा हुआ है यह जानने के लिए ज्ञान के भिन्न भिन्न पांच भेद शास्त्रकार महर्षियों ने किये हैं। अतः पांच प्रकार विशेषावश्यक भाष्य में तथा नंदी सूत्र आदि आगम शास्त्रों में इस प्रकार बताए गए हैं।

आभिणिबोहियनाणं सुयनाणं चेव ओहिनाणं च ।
तह मणपज्जवनाणं केवलनाणं च पंचमयं ॥

ज्ञान

आभिनिबोधिक ज्ञान (मतिज्ञान)[१] | श्रुतज्ञान[२] | अवधिज्ञान[३] | मनःपर्यवज्ञान[४] | केवलज्ञान[५]

विशेषावश्यक भाष्य में मतिज्ञान के लिए आभिनिबोधिक ज्ञान शब्द प्रयुक्त किया है । परंतु बात एक ही है । तत्त्वार्थधिगम सूत्र के एक सूत्र में पांचों नाम इस प्रकार गिनाए है – **''मति–श्रुतावधि–मनःपर्यव–केवलानि ज्ञानम्''**(१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनःपर्यवज्ञान और (५) केवलज्ञान ये पांच प्रकार के ज्ञान बताए गए है। इनका वर्णन संक्षेप में व्याख्यारूप से इस प्रकार है

(१) मतिज्ञान – (आभिनिबोधिक ज्ञान) – **मतिः–स्मृतिः–संज्ञा–चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।।** तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के प्रथम अध्याय के १३ वें इस सूत्र में पूज्य वाचकमुख्यजी ने फरमाया है कि–प्रथम मतिज्ञान के ये भिन्न भिन्न पर्यायवाची शब्द है। मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता तथा आभिनिबोध ये पांचों नाम समानार्थक है। सभी का अर्थ एक ही है। केवल शब्द भेद है। मतिज्ञानावरण कर्म के क्षमोपशम से उत्पन्न होने के कारण भिन्न भिन्न नाम संज्ञा दी है, परंतु अर्थ भेद न होने से पर्यायवाची शब्द बताए गए हैं। मति को बुद्धि भी कहा है। अतः बौद्धिक ज्ञान–बुद्धिपूर्वक ज्ञान को मतिज्ञान कहा जाता है। Intellectual Knowledge मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर इन्द्रिय और मन की सहायता से अर्थों का मनन मतिज्ञान कहलाता है।**''मननंमतिः''** यह भाव साधन है। आभिनिबोधिक के बारे में कहा है –

अत्थाभिमुहो नियओ, बोहो जो सो मओ अभिनिबोहो ।
सो चेवाऽऽभिणिबोहियमहव जहाजोगमाउज्जं ।।

विशेषावश्यक भाष्य में कहा है कि पदार्थ–वस्तु के अभिमुख अर्थात् पदार्थ की उपस्थिति में उत्पन्न होनेवाला संशय रहित निश्चित बोध को आभिनिबोध कहते हैं। यही आभिनिबोधिक ज्ञान है। संशयादि रहित वस्तु के अभिमुख निश्चयात्मक ज्ञान को आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं।

(२) श्रुतज्ञान – श्रवण ज्ञान को भी श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जन्य ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा है। यह श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। शास्त्र श्रुतज्ञान के साधन उपकरण होने से शास्त्र को भी उपचार से श्रुतज्ञान कहते हैं। शास्त्र आगमादि ग्रन्थ है। शास्त्रोपदिष्ट श्रवणभूत ज्ञान श्रुतज्ञान है।

(३) अवधिज्ञान – अवधि–क्षेत्रावधिः। निश्चित श्रेत्र की सीमा–अवधि

तक जाना जाय, वह अवधिज्ञान कहा जाता है। अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जन्य अवधिज्ञान कहा जाता हैं। जिसमें इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं होती, और दूर–सुदूर तक के क्षेत्र की वस्तुओं को यहां बैठे–बैठे जाना जाय यह अवधिज्ञान है।

(४) मनःपर्यवज्ञान – मनुष्य क्षेत्र–ढाई द्वीपवर्ती संज्ञि पंचेन्द्रिय समनस्क–अर्थात् मनवाले जीवों के द्वारा चिन्तित–सोचे गए पदार्थ को जानने की शक्ति वाले ज्ञान को मनःपर्यवज्ञान कहते हैं। मन में सोचे गए विचारों को जिस ज्ञान के जरिए जाने जाय वह मनः पर्यवज्ञान कहा जाता है। मनोगत विचारों को जानने का कार्य इस चौथे मनःपर्यवज्ञान से होता है।

(५) केवलज्ञान – चार घनघाति कर्मों के सर्वथा क्षय से क्षायिकभाव से उत्पन्न होने वाला एक मात्र ज्ञान केवलज्ञान कहलाता है । यह अनंत वस्तु विषयक होता है अनंत द्रव्यों को तथा पर्यायों को जानता है अतः अनंतज्ञान कहा जाता है। हस्तामलकवत् होता है। हाथ में रहे आंवले को जिस तरह स्पष्ट देखते उसी तरह केवलज्ञानी समस्त लोक अलोक के अनंत पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं, जानते हैं। यह सर्वथा निवारण ज्ञान है। केवलज्ञान यह पंचम–अंतिम ज्ञान है। इस ज्ञान वाले सर्वज्ञ कहे जाते हैं। इस तरह सामान्य से शब्दार्थ समझ में आए इसलिए पांचों ज्ञानों का वर्णन किया है। विशेष स्वरूप का विवेचन और आगे करेंगे।

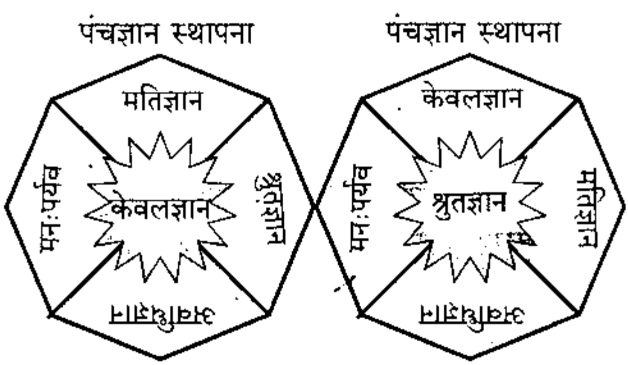

दो अपेक्षा से पांच ज्ञान की स्थापना : –

पांच ज्ञान में किसकी महत्ता ज्यादा है यह समझने के लिए इस चित्र रूपी कमल में दो भिन्न भिन्न अपेक्षाओं के आधार पर दो कमल के चित्र बनाए गए हैं। प्रथम चित्र में केवलज्ञान केन्द्र में है। सूर्यवत् प्रकाशी है। केवलज्ञान का प्रकाश फैल रहा है। जिसके चारों तरफ चार दिशा में चारों ज्ञान प्रकाशित हो रहे हैं। या यह समझिए कि केवलज्ञान यदि केन्द्र में सूर्यवत् प्रकाशित हो रहा है तो फिर दूसरे किसी ज्ञान की बीचमें आवश्यकता ही नहीं है। पाचों ज्ञानों में केवलज्ञान प्रमुख है मुख्य ज्ञान है। मति–श्रुतादि सभी ज्ञानों की मुख्य उत्पत्ति केवलज्ञानी के घर से हुई है। शास्त्र–ग्रंथ–आगम इन सभी की उत्पत्ति मुख्यरूप से केवलज्ञानी से ही हुई है।

तीर्थंकर परमात्मा जो जन्मतः मति–श्रुत–अवधि इन तीन ज्ञान से सम्पन्न है और दीक्षा ग्रहण करते ही चौथा मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है। चतुर्ज्ञानी महात्मा बने। उसके बाद घनघोर साधना करते हैं। कड़ी तपश्चर्या करते हैं। उपसर्ग होते हैं। अंत में चारों घनघाती कर्मों का क्षय करके अंतिम पांचवा केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। देवता केवलज्ञान कल्याणक महोत्सव मनाने के लिए आते हैं। समवसरण की रचना करते हैं। तीन गढ़ युक्त अद्भुत समवसरण बनाते हैं। अशोक वृक्ष के नीचे सिंहासन पर प्रभु बिराजमान होते हैं। चारों तरफ बारह पर्षदाः बिराजमान होती है। प्रभु धर्मदेशना फरमाते हैं। साधु–साध्वी–श्रावक–श्राविकारूप चतुर्विध श्री संघ की–तीर्थ की स्थापना करते हैं। साधुओं में से प्रमुख योग्य साधुओं को गणधर बनाते हैं। व्दादशाङ्गी की रचना के लिए गणधर भगवन् प्रभु की प्रदक्षिणा करके प्रभु को पुछते हैं –''भयवं किं तत्तं''? हे भगवन्! तत्त्व क्या है?
प्रभु उत्तर देते हैं – ''गोयमा! उप्पेइ वा इयं तत्तं'' पदार्थ का उत्पन्न होना यह तत्त्व है।
गौतम – (पुनः दूसरा प्रश्न) –''भयवं किं तत्तं ?'' हे भगवन् तत्त्व क्या है?
पुनः प्रभु का उत्तर – गोयमा ! विगमेइ वा इयं तत्तं'' पदार्थ का नष्ट होना यह तत्त्व है।
गौतम – (पुनः वैसा ही तीसरा प्रश्न) – ''भयवं किं तत्तं ?'' हे भगवन् ! तत्त्व क्या है?
पुनः प्रभु का उत्तर – गोयमा ! धुव्वेइ वा इयं तत्तं। पदार्थ का नित्य रहना यह तत्त्व है।

एक ही पदार्थ का उत्पन्न–होना, नष्ट होना तथा नित्य रहना यह स्वरूप है। यह तत्त्व है। ''उप्पेइ वा, विगमेइ वा, धुव्वेइ वा इयं तत्तम्''। यह तीन पदों वाला ज्ञान है उसे त्रिपदी कहा है। उमास्वाति महाराज ने तत्त्वार्थधिगम सूत्र में इसे इस प्रकार कहा है–''उत्पाद–व्यव–ध्रौव्ययुक्तं सत्''। उत्पन्न होना, व्यय–नष्ट होना और नित्य रहना यह पदार्थ का लक्षण है। स्वरूप है।

पदार्थ स्वरूप :–

पदार्थ इन तीन अवस्थाओं में रहता है। ये तीनों अवस्था प्रत्येक पदार्थ की है। वस्तु उत्पन्न होती है – बनती है, वही नष्ट भी होती है। गुणधर्म बदलते भी है, तथा पर्यायें बदलती है। पर्याय आकृति विशेष को कहते हैं। अतः एक पर्याय का नष्ट होना और दुसरी पर्याय का उत्पन्न होना यह उत्पाद–व्यय का क्रम चलता रहता है। उदाहरणार्थ सोने की एक पर्याय जो अंगूठी रूप में है वह पसंद नहीं आई तो उसे पिघलाकर हार बना दिया, हार पसंद नहीं आया तो उसे पिघलाकर पुनः कंगन बना लिए। इस तरह पूर्व–पूर्व पर्यायों का नाश होता जाता है और नई नई पर्याय उत्पन्न होती जाती है। अतः उत्पाद–व्यय दोनों एक ही वस्तु में होते हैं। यद्यपि उत्पाद–व्यय होते रहते हैं परंतु वस्तु अपने मूलभूत स्वरूप में नित्य है। अंगूठी से हार, हार से कंगन, होता ही गया, एक का बनना और एक का नाश होता ही रहना फिर भी सोना

द्रव्य मूलस्वरूप में ध्रुव-नित्य रहा। अतः उत्पादादि तीनों अवस्था एक पदार्थ की होती है। यह सोने के विषय में बात की। वैसे ही आत्मा भी एक द्रव्य है। आत्मा की शरीरावस्था में पर्याय रूप से रहना होता है। पर्याय में उत्पाद-व्यय होता रहता है। अतः शरीर बनता है नष्ट होता है। एक मनुष्य शरीर पर्याय बनी है वह नष्ट होगी, फिर नई पर्याय उत्पन्न होगी। जीव अन्य गति में जाकर हाथी-घोड़ा पशु बना, पुनः नई उत्पत्ति। वह भी नष्ट होगा। पुनः नई पर्याय बनेगी। देव गति में जाकर देव बना। इस तरह पर्याय में उत्पाद और व्यय होता रहता है। यह क्रम चलते हुए भी आत्मा मूलभूत स्वरूप से नित्य रहती है। अतः आत्मा भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त द्रव्य है। इस तरह संसार के अनंत पदार्थ इन तीन अवस्थाओं से युक्त होते हैं। अतः सर्वज्ञ प्रभु ने केवलज्ञान पाकर इस त्रिपदी का ज्ञान प्रथम गणधरों को दिया। गणधर प्रभु से तत्त्व का मुलभूत ज्ञान प्राप्त कर सूत्रबद्ध रचना करते हैं। इस तरह द्वादशाङ्गी बनाते हैं। इसका प्रमाण देते हुए शास्त्र में कहा है कि- **'अत्थं भासइ अरिहा सुत्तं गुंथ्थंति गणहरा'**। अरिहंत भगवान अर्थ से देशना देते हैं और गणधर भगवान उसे ही सूत्रबद्ध गूंथकर शास्त्र की रचना करते हैं। स्नातस्या की स्तुति में यही कहा गया है-**अर्हद् वक्त्र प्रसूतं गणधर रचितं द्वादशागं विशालम्**। अरिहंत तीर्थंकर भगवान के मुख से अर्थरूप से निकली हुई और गणधर भगवंतों के द्वारा सूत्रबद्ध रचित द्वादशाङ्गी रूप जो श्रुतज्ञानस्वरूप आगम शास्त्र है उनकी स्तुति की गई है अतः श्रुतज्ञान का मूल उद्गमस्रोत केवलज्ञानी तीर्थंकर भगवान ही है। अतः प्रथम कमल में केवलज्ञान को मध्य केन्द्र में रखा है। अतः केवलज्ञान सभी ज्ञान का मूल है।

दूसरे चित्र में थोड़ी अपेक्षा बदलकर विचार किया गया है। दूसरे में श्रुतज्ञान को केन्द्र में रखा गया है और केवलज्ञान को उसके ऊपर रखा गया है। यहां केवलज्ञान से भी ज्यादा श्रुतज्ञान की महत्ता बताई गई है। काल की अपेक्षा से विचार किया जाय तो केवलज्ञान से भी ज्यादा श्रुतज्ञान बड़ा है। श्रुतज्ञान केवलज्ञान से भी ज्यादा काल तक टिकता है। केवलज्ञान का काल और केवली भगवंतो का काल भी सीमित है। मर्यादित है। सभी काल में केवलज्ञान नहीं होता, परंतु श्रुतज्ञान सदा काल ही रहनेवाला है। उदाहरणार्थ भगवान महावीर स्वामी को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। प्रभु ३० वर्ष केवली रहे। उनके बाद १२ वर्ष तक गौतमस्वामी केवली रहे। उनके बाद सुधर्मास्वामी ८ वर्ष तक केवलज्ञानी रहे। उनके बाद उनके शिष्य जम्बुस्वामी २० वर्ष तक केवलज्ञानी रहे। इस तरह ३०+१२+८+२०=७० वर्ष तक केवलज्ञानियों का शासन रहा। परंतु इससे भी ज्यादा काल की अपेक्षा से श्रुतज्ञानियों का शासन रहा। ७० वर्ष के बाद आज दिन तक ढाई हजार वर्ष बीत गए। श्रुतज्ञानियों का शासन चल रहा है। इतना ही नहीं पांचवा आरा २१००० वर्ष का

है,तथा पांचवे आरे के अन्त तक १ साधु १ साध्वी १ श्रावक १ श्राविका रहेंगे वहां तक यह शासन चलेगा। यह शासन २१००० वर्ष तक श्रुतज्ञान से चलेगा। अतः केवलज्ञान से भी ज्यादा श्रुतज्ञान का शासन चला। केवलज्ञानी भगवंतो की अपेक्षा श्रुतज्ञानी भगवंतो का उपकार क्षेत्र भी लम्बा चौड़ा है। अतः इस अपेक्षा से श्रुतज्ञान को मध्य केन्द्र में रखा है। ज्ञानमात्र आत्मा के लिए परम उपकारी है। ज्ञान का उपकार सर्वोत्तम है। श्रुतज्ञान का उद्गमस्त्रोत जबकि केवलज्ञान ही है। केवली भगवान ही है। अतः श्रुतज्ञानी को केवली के सत्य वचन पर ही चलना है। अपने मन की नहीं परंतु सर्वज्ञ के वचन को समझना है।

दो प्रकार के जीवों का कल्याण होता है :–

शास्त्रों में कहा है कि– ज्ञानी का कल्याण होता है तथा ज्ञानी की निश्रा में रहनेवाले जीवों का कल्याण होता है। उदाहरण के लिए समझीए कि एक Pilot plane चलाता है। वह जानकार है। विमान चलाने में कुशल तज्ञ है। हम जो बैठने वाले मुसाफिर है वे विमान चलाने की क्रिया के बारे में एक अक्षर भी नहीं जानते हैं। फिर भी चालक के ज्ञान पर भरोसा रखकर बैठते हैं। उसके आधार पर हम भी पार उतरते हैं। डॉक्टर सर्जन है। वह औपरेशन करता है। हम इस विषय में एक अक्षर भी नहीं जानते हैं। अतः हमने डॉक्टर के भरोसे सारा शरीर समर्पित कर दिया है। उसके ज्ञान पर हमें भरोसा है। यद्यपि जीवन–मृत्यु का प्रश्न है फिर भी ज्ञानी पर विश्वास रखा है वह आपको मृत्यु से बचाता है। इसी तरह हजार–डेढ हजार आदमी ट्रेन में बैठते हैं। ट्रेन चलाना कोई नहीं जानता है। फिर भी सभी ने एक चालक पर विश्वास रखा है। ज्ञानी के ज्ञान के आधार पर ज्ञानी पर श्रद्धा रखी जाती है। डॉक्टर के विषय में लोग कहते ही है कि–रोग के विषय में कुशल विशेषज्ञ डॉक्टर के हाथ से मरना भी बेहतर है परंतु अनगढ़ ऊंटवैद्य के हाथ से अमृत पीना भी व्यर्थ है। ज्ञानी गीतार्थ के हाथ से मौका पडे तो हलाहल जहर पीना भी अच्छा है परंतु अज्ञानी–मूर्ख के हाथ से अमृत पीना भी अच्छा नहीं है। यह बहुत ही महत्त्व की बात है। ज्ञानी पर ही सारा विश्वास है। ज्ञानी ही गीतार्थ तारक महापुरूष है। इसलिए हमारे जैसे अज्ञानी या अल्पज्ञानी को चाहिए कि सच्चे ज्ञानी के भरोसे अपनी जीवन नौका समर्पित कर दे। ज्ञानी ही सच्चे निर्देशक है–दिशासूचक है। तारक है। अल्पज्ञानी अधूरे ज्ञान वाला और भी खतरनाक है। अतः कहा भी गया है कि little Knowledge is more Dangerous अधूराज्ञान ज्यादा खतरनाक होता है। अर्धदग्ध ज्ञानवाले जीव कभी कभी बहुत ज्यादा नुकसान भी करते हैं। अतः अल्पज्ञ जीव को चाहिए कि वह पूर्ण श्रद्धा से ज्ञानी गीतार्थ महापुरुषों की शरण स्वीकारे। ज्ञानी की आज्ञा का

पूर्ण रूप से पालन करें। सर्व समर्पित भाव से ज्ञानी की शरण स्वीकारनेवाला भी कल्याण पथ पर अग्रसर होता है। 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' - महापुरुष जिस मार्ग पर गए हैं वही हमारे लिए भी मार्ग है। सही पन्थ है।अतः हमें हमारे पूर्वज महापुरुषों का अनुसरण करना चाहिए। उसी श्रेयस्कर मार्ग पर चलना चाहिए।

ज्ञान से ज्ञानी की महत्ता :-

ज्ञानी कौन है? किसे ज्ञानी कहना चाहिए? इसका सीधा उत्तर है कि ज्ञान गरिमा से सम्पन्न महापुरुष को ज्ञानी कहना चाहिए। जिन महात्मा को स्व-पर शास्त्रों का, स्व-पर दर्शन का समीचिन ज्ञान हो वह सच्चा ज्ञानी है। जिन्हें हेय-ज्ञेय-उपादेय तत्त्वों का सही भेदक ज्ञान हो वह ज्ञानी है। विधान-सिद्धांत-और अपवाद का योग्य ज्ञान जिसे हो वह सच्चा ज्ञानी है। सम्यग् आगम शास्त्रों के पूर्वापर संबंध का योग्य ज्ञान जिन्होंने आत्मसात् किया हो वे सच्चे ज्ञानी गीतार्थ महापुरुष कहलाते हैं। ज्ञानस्थविर गीतार्थ महापुरुष जो मोक्षमार्गोपदेशक हैं, एवं तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान सम्पादित करके जगत् को उसी मार्ग की श्रद्धा जगाने वाले वास्तव में महान ज्ञानी है। इस तरह ज्ञान के आधार पर ज्ञानी की महिमा शास्त्रों में गाई गई है। ऐसे ज्ञानी महात्मा संसार सागर से पार उतरते हैं और उनकी शरण स्वीकारने वाले अल्पज्ञानी-अज्ञानी जीव भी संसार से पार उतरते हैं। उनका भी कल्याण होता है। अतः आश्रय लेना तो ज्ञानी गीतार्थ का ही लेना। शरण स्वीकारनी तो सर्व समर्पित भाव से ऐसे ज्ञानी महापुरुष की ही शरण स्वीकारनी चाहिए। ज्ञानी की पाप मार्ग से बचाएंगे।

जो एक को जानता है वह सब कुछ जानता है :-

श्री आचारांग सूत्र में कहा है - "**जे एगं जाएइ से सव्वं जाएइ**"।। जो एक को जानता है वह सब कुछ जानता है,यह बहुत गंभीर रहस्यात्मक बात है। इस वाक्य में बहुत बड़ी बात की गई है। एक शब्द यहां आत्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। अतः जो एक आत्म तत्त्व को अच्छी तरह पहचानता है वह जगत के सभी तत्त्वों को पहचानता है। अंतरात्मा ही समस्त जगत् के ज्ञान का खजाना है। इसे पहचानना ही बड़ा कठिन कार्य है। आज हम बाह्य जगत् के सैंकड़ों तत्त्वों को जानने के पीछे पागल हुए हैं। दुनिया को देख लें। सब कुछ जान लें। इस तरह समस्त बाह्य जगत को जानने के लिए दौड़ रहे हैं। परंतु मूल में अपने आप को जानना ही भूल गए हैं। यह बात उस हिरन के जैसी हुई जो कस्तुरी के लिए जंगल में चारों तरफ भटक रहा है। मारा मारा दौड़ रहा है। आखिर कस्तुरी कहीं पर भी नहीं मिल रही है। भटक-भटक कर थककर प्राणों की आहूति भी दे देता है। परंतु उस बेचारे को इतना भी पता नहीं है कि कस्तूरी मेरी ही नाभि में है। इस अज्ञान के कारण बेचारा हिरन भटकता रहा। "अन्नाणं खु महाभयं" अज्ञान सचमुच महाभयंकर है। यही सब दुःखों की

मूल जड है। भ्रमवश या अज्ञानवश जीव सच्चे ज्ञान के बजाय विपरीत दिशा में भटक जाता है। जगत् के अनंत पदार्थों के ज्ञान का मूल खजाना एक आत्मा ही है। यही ज्ञान का मूलस्रोत है। हमें बाहरी दुनिया में भटकने की जरूरत नहीं है। बाहर भटकने वाले बाहरी लाखों-करोड़ों पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं परंतु अपने ही मूल तत्त्व आत्मा को सही अर्थ में नहीं पहचानते हैं। उसे तो सर्वथा भूल ही गए। परिणाम स्वरूप हुआ ऐसा कि जिसे जानना था उसे तो भूल गए और जिसे भूलना था उसके पीछे हम आसक्त हो गए। यह बात तो ऐसी हुई, मानों एक मां जल्दी बाजी में अपने बच्चे के बजाय बिल्ली के बच्चे को ही बगल में उठाकर भाग चली। और अपना बच्चा घर की आग में जलकर मर गया। परंतु जब तक उस बावरी मां ने बगल में देखा ही नहीं है तब तक वह यही मान रही है कि मैं मेरे बेटे के साथ सही सलामत हूं। परंतु ज्योंही दूध पिलाने के लिए हाथ में लिया त्योंही बिल्ली के बच्चे को देखकर वह हतप्रभ हो गई। आग-बबुला हो गई। परंतु किस पर? अब पता चलते ही कि यह बिल्ली का बच्चा है मेरा नहीं है, मेरा तो वहीं रह गया! यह सही ज्ञान होते ही मां भागी। उसके प्राण होठो पर आ चुके थे। वहां जाकर देखा तो लगा कि आग में सब कुछ खाख हो गया है। अब बेचारी सिर पीट कर रोने लगी। अंत में मां ने भी प्राण छोड दिया। सोचिए अज्ञान कैसा प्राणनाशक घातक होता है? शायद सही सोचें तो यही हाल हमारा भी है। हम भी जीवादि नौ तत्त्वों को सही स्वरूप में नहीं जानते हैं। अपनी ही आत्मा को वास्तविक रूप में नहीं जानते हैं और सारा जगत् जानने के लिए दुनिया भर में भटक रहे हैं। शायद न जानने जैसा ज्यादा जान रहे हैं। अनावश्यक चीजों का ज्यादा ज्ञान बटोर रहे हैं। जो निरर्थक है निरुपयोगी है। जो जानने जैसा नहीं है उस ज्ञान को हम प्रयत्न पूर्वक जानने की कोशिश कर रहे हैं। कितनी विपरीत बात है? अंत में परिणाम क्या आएगा? आत्मज्ञान के बिना हमारा कल्याण कैसे संभव होगा? लेकिन इस दिशा तरफ लक्ष्य ही नहीं है। अभी तक तो बाहरी दुनिया के रंगबिरंगी पदार्थ अच्छे लग रहे हैं। बाह्य संसार के भौतिक जड़ पदार्थों का महत्त्व ज्यादा अच्छा लग रहा है। अतः यहां गए, वहां गए, यह देखा-वह देखा सारी दुनिया देखी, सैंकडों पदार्थों का संचय किया। दुनिया में बड़े जानकार के रूप में अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त की, कई उपाधियां हांसिल की। लेकिन अंतिम अवस्था में मृत्यु शैय्या पर जब यह बाहरी ज्ञान कोई काम नहीं आता, जब कोई वस्तु काम नहीं आती, किसी का उपयोग कामयाब नहीं बनता तब शायद सिरपीट कर रोने की नौबत आती है। हाय! अब क्या होगा? जब प्राण निकलने की घडियां गिनी जा रही है! यमराज आंखों के सामने हडप करने के लिए बाघ की तरह मुंह बहाए खड़ा है। अब सारी दुनिया का ज्ञान भी क्या काम आएगा? ऐसे समय में एकमात्र आत्मज्ञान सम्पन्न

जीव होगा तो वह संतोष से हंसते हुए मृत्यु को महोत्सव मनाता। हंसते हुए यमराज से भेंटता। उसे मृत्यु का डर नहीं लगता। जीवन जीने का संतोष महसूस होता-आनंद आता है।

अतः एक आत्मा को जानने में जगत के सभी तत्त्वों का ज्ञान उसी में समा जाता है। सभी तत्त्व आत्माश्रयि है। आत्मा न होती तो जगत् में किसी का भी अस्तित्व नहीं होता। आत्मा के ही आधार पर पुण्य-पाप, कर्म-धर्म, स्वर्ग-नरक, लोक-परलोक, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, आश्रव-बंध, संवर-निर्जरा तथा मोक्षादि सभी तत्त्वों का आधार है। अतः एक आत्मा का सही संपूर्ण ज्ञान प्राप्त करने से इन सभी तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान हो जाएगा। मोक्ष क्या है? आत्मा की चरम विशुद्ध कर्म रहित शुद्ध अवस्था है। जन्म-जन्मान्तर-पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म क्या है? आत्मा ने किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल विपाक भोगने के क्षेत्र हैं, अवस्था है। पुण्य पाप क्या है? आत्मा ने मन-वचन-काया के योग से की हुई शुभ-अशुभ क्रिया मात्र है। कर्म-धर्म क्या है? आत्मा ने शुभाशुभ की की हुई प्रवृत्ति कर्म है और स्वगुणोपासना पूर्वक कर्मक्षयार्थ की हुई प्रवृत्ति धर्म है। स्वर्ग-नरक क्या है? आत्मा ने शुभाशुभ प्रवृत्ति में जो पुण्य-पाप उपार्जन किये हैं उसके अनुसार कालान्तर में सुख-दुःख भोगने के लिए अनुकूल-प्रतिकूल क्षेत्र विशेष स्वर्ग-नरक है। वहां जाकर उस क्षेत्र में जन्म धारण कर जीव सुख-दुःख भोगता है। सुख-दुःख क्या है? सुख आत्मा का मूल गुण है। अतः आत्मा अनंत सुखावान है। तद् विपरीत उपार्जित किये हुए अशाता वेदनीय कर्म के फल स्वरूप जीव को दुःख भोगना पड़ता है। आश्रव-बंध क्या है? जीवात्मा ने ही शुभाशुभ क्रिया जो मन-वचन-काया से की है उसके कारण आत्मा में बाहर से कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का आकर्षण करने की क्रिया आश्रव है, और उन पुद्गल परमाणुओं का आत्म प्रदेशों के साथ एक रस रूप से मिलकर एक होना यह बंध है। संवर-निर्जरा क्या है? उन आश्रव मार्ग के द्वार को बंध करके आत्मा को निष्पाप बनाना यह संवर धर्म है। ''आश्रव निरोधो संवरः''। आत्मा के साथ बंधे हुए कर्मों का तप-त्यागादि धर्म से क्षय करना निर्जरा तत्त्व है। जो कार्मण वर्गणा आत्मा में आई है उन्हें पुनः जर्जरित करके आत्मा में से निकालना यह निर्जरा है। अंत में मोक्ष आत्मा की परमविशुद्ध कर्मावरण रहित सर्वथा शुद्ध, सर्व गुण संपन्न पूर्णावस्था है। उसी पद को प्राप्त आत्मा की अवस्था परमात्मावस्था है। वही शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सिद्ध-निरंजन-निरकारावस्था जो मुक्तावस्था है, मोक्ष है, उसे ही प्राप्त करना अपना एक मात्र लक्ष बनना चाहिए। यह है आत्म स्वरूप। आत्म ज्ञान। इसी एक आत्म तत्त्व के आधार पर ही सभी तत्त्वों का आधार है अतः 'जो एगं जाणइ सो सव्वं जाणइ' - जो एक आत्मा को जानता है वह सब कुछ जानता है। वह शास्त्र में

सही कहा है। जगत् के अन्य सभी तत्त्व आत्मा से ही सम्बन्ध रखते हैं अतः आत्मज्ञान ही सर्व श्रेष्ठ ज्ञान है। सर्वोपयोगी-सर्वथा उपकारी ज्ञान है। अतः हमें चाहिए कि बाहरी भौतिक जगत् के ज्ञान को बटोरने की, हिरन के जैसी भ्रम प्रवृत्ति नहीं करनी चाहीए। भ्रमज्ञान को छोड़कर ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उसी के पीछे जीवन यापन करना चाहिए। सच्चा ज्ञान उपयोगी होता है। सम्यग् ज्ञान तारक होता है। अतः ज्ञान भी सम्यग् ही उपार्जन करना चाहिए।

ज्ञान में प्रत्यक्ष-परोक्ष के भेद :-

शास्त्रकार महर्षियों ने पांच ज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष के दो विभागों में विभक्त किया है। वह इस प्रकार है- इस विषय में प्रमाण तत्त्वार्थाधिगम सूत्र है- 'आद्ये परोक्षम्' इस सूत्र से पांच में जिस क्रम से मति-श्रुत आदि का स्वरूप बताया है उनमें प्रथम के मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान में गिने जाते हैं। "प्रत्यक्षमन्यत्" अन्य ३ ज्ञान-अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान तथा केवलज्ञान ये प्रत्यक्ष ज्ञान है। पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो पद्धतियों से होता है अतः ये दो भेद किये गए हैं। या तो पदार्थों को हम इन्द्रियों की सहायता से जानें-देखें या बिना इन्द्रियों की सहायता के सीधे आत्मा से प्रत्यक्षरूप से ग्रहण करें। ये दो प्रकार है। इनको समझने के लिए प्रत्यक्ष परोक्ष की व्याख्या अच्छी तरह समझनी पडेगी। उसी से स्पष्टीकरण होगा।

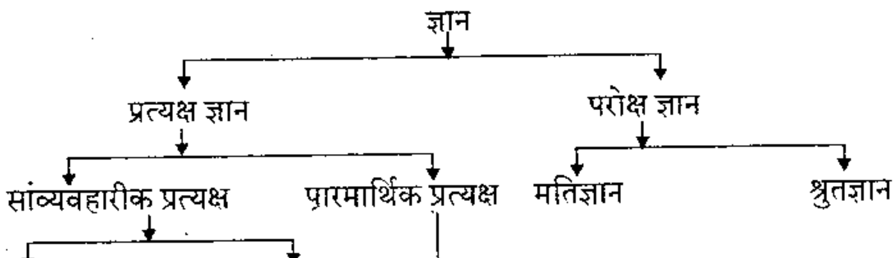

प्रत्यक्ष-परोक्ष की व्याख्या :-

प्रत्यक्ष की पहली व्याख्या जो व्युत्पत्ति गम्य है वह इस प्रकार है। प्रति + अक्ष = प्रत्यक्ष। प्रति और अक्ष शब्द मिलाकर संस्कृत व्याकरण के संधिनियमानुसार प्रत्यक्ष शब्द निस्पन्न हुआ है। इसकी व्युत्पत्ति इस तरह है- **"अक्षं प्रति इति प्रत्यक्षम्"** - अक्ष = अर्थात् इन्द्रियां- अक्षं प्रति अर्थात् इन्द्रियों के प्रति जो पदार्थ आए इसका ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, अर्थात् इन्द्रियों से जानने की क्रिया को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। लौकिक व्यवहार में इस प्रकार की बात चलती है, परंतु यहां शास्त्रकार महर्षि अक्ष से इन्द्रियां अर्थ न लेकर अक्ष से आत्मा अर्थ है वह लेते

हैं। आत्मा अर्थ के आधार पर व्याख्या इस प्रकार बनेगी–अक्ष इति आत्मा "**तमेव प्रति नियतं प्रत्यक्षम्**" अक्ष अर्थात् आत्मा और आत्मा के प्रति नियत जो ज्ञान हो अर्थात् आत्मा से ही सीधा जो ज्ञान हो वह प्रत्यक्ष कहलाता है। आत्मा अन्य इन्द्रियों आदि की अपेक्षा रखे बिना जिस वस्तु को स्वयं ही ग्रहण करें इसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। यही व्याख्या तत्त्वार्थ वार्तिक में इस तरह बताई है – **इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षं"। अक्ष्णोति–व्याप्नोति–जानाति इति अक्ष–आत्मा, प्राप्तक्षयोपशमः प्रक्षीणावरणे वा, तमेव प्रतिनियतं प्रत्यक्षम्। अक्षं प्रति नियतमिति परापेक्षानिवृत्तिः**। इन्द्रियाँ तथा अनिन्द्रिय मन की अपेक्षा जिसमें न हों ऐसा व्यभिचारदोष रहित जो साकार ग्रहण होता है उसे प्रत्यक्ष (ज्ञान) कहते हैं। अक्ष धातु से व्याप्त होकर जानना यह अर्थ है। जो ज्ञान आवरण की अपेक्षा से हो, जिसमें इन्द्रियां, मन की आवश्यकता न हो वैसा ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। पर की अपेक्षा की निवृत्ति वाला ज्ञान हो वह ज्ञान प्रत्यक्ष है। यह प्रत्यक्ष शब्द का सही अर्थ है। व्युत्पत्ति गम्य अर्थ है। अतः जैन दर्शन की यह विशेषता है कि जो इन्द्रियों और मन की सहायता न होने पर भी आत्मा को जो सीधा ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहा है। "प्रत्यक्षमन्यत्" इस सूत्र से अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान इन तीनों को प्रत्यक्षज्ञान कहा है। इन तीनों में इन्द्रियों की तथा मन की आवश्यकता नहीं है। ये सीधे आत्मा से होते हैं अतः प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाते हैं।

(२) परोक्षज्ञान – ठीक प्रत्यक्ष से विपरीत इन्द्रियों तथा मन की सहायता से जो ज्ञान हो उसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं। 'अक्षस्य परे इति परोक्षम्' जो सीधे आत्मा से न जाना जाय, आत्मा के लिए जो पर हो वह परोक्ष ज्ञान कहा जाता है, अर्थात् जिसमें इन्द्रियां और मन सहायक हो वह ज्ञान परोक्षज्ञान कहलाता है। मन और इन्द्रियां ये दोनों आत्मा के लिए ज्ञान के सहायक साधन है। सीधे आत्मा से ज्ञान न होकर जो मन तथा इन्द्रियों के द्वारा हो वह ज्ञान परोक्षज्ञान है। ऐसे दो ज्ञान है पहला मतिज्ञान और दूसरा श्रुतज्ञान। इस तरह पांच ज्ञानों में प्रत्यक्ष में तीन ज्ञान तथा परोक्ष में दो ज्ञान लिए गए हैं। अब क्रमशः पांच ज्ञानों का भेद–प्रभेद सहित स्वरूप देखें –

मतिज्ञान का स्वरूप :–

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के इस सूत्र में मतिज्ञान के पांच पर्यायवाची नाम बताए गए हैं (१) मति (२) स्मृति (३) संज्ञा (४) चिन्ता (५) अभिनिबोध। ये सभी एक ही अर्थ में प्रयुक्त है। वर्तमान का विचार आवे उसे मति या संज्ञा कहते हैं। भूतकाल की याद आवे उसे स्मृति कहते हैं। वर्तमानकाल के साथ भूतकाल का अनुसंधान हो उसे प्रत्यभिज्ञा

कहते हैं। जैसे यह वही घोडा है। यह वही घडा है। मन से भविष्य के बारे में चिंताजनक विचार करें उसे 'चिन्ता' कहते हैं। यादशक्ति या स्मरणशक्ति को ही स्मृति कहते हैं। मति ये यहां बुद्धि अर्थ भी ग्राह्य है। बुद्धि जन्य ज्ञान, बौद्धिक ज्ञान को ही मतिज्ञान कहते हैं। अतः मनन, स्मरण संज्ञान या चिन्तन क्रिया के द्योतक मति आदि शब्द है। यद्यपि शब्द भेद है परंतु अर्थ भेद नहीं होने से सभी शब्द समानार्थक है।

मतिज्ञान किस तरह होता है? इस विषय में सूत्र है – **'तदिन्द्रियानिन्द्रिय –निमित्तम्'**। अर्थात् – मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) से उत्पन्न होता है। ये दोनों ज्ञानोत्पत्ति में सहायक है। साधनभूत है। निमित्त कारण है। बिना किसी माध्यम के सीधे आत्मा से न होकर मन और इन्द्रियों के द्वारा होता है अतः मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान दोनों परोक्षज्ञान गिने जाते हैं। इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति भी तत्त्वार्थवार्तिककार ने इस तरह की है – **'इन्द्रस्यात्मनोऽर्थोपलब्धिलिङ्ग–मिन्द्रियम्'** इन्द्र शब्द से आत्मा अर्थ लेते हैं। कर्ममलीमस आत्मा कर्मावरण सहित होने से स्वयं पदार्थों के ग्रहण में असमर्थ होती है। उसी आत्मा के अर्थोपलब्धि में लिङ्ग अर्थात् द्वार या कारण इन्द्रियां होती है। अनिन्द्रिय अर्थात् मन। मन आत्मा नहीं है, और आत्मा मन नहीं है, यह ध्यान में रखें। दोनों स्वतंत्र भिन्न भिन्न द्रव्य है। मन जड पौद्गलिक द्रव्य है। जबकि आत्मा चेतन द्रव्य है। अतः मन एवं इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान आत्मा को होता है। मुख्य रूप से ज्ञान का मूल स्रोत आत्मा है। इन्द्रियां और मन ये कारण रूप से साधन है। माध्यम है। इनके माध्यम से आत्मा को ज्ञान होता है।

ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है?-

मन और इन्द्रियों की सहायता से ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है? उसकी पद्धति बताई गई हैं। अवग्रहेहावायधारणाः। मतिज्ञान की उत्पत्ति में चार क्रम है। (१) अवग्रह (२) ईहा (३) अपाय (अवाय) और (४) धारणा। यह उत्पत्ति क्रम है। क्रमशः इसी पद्धति से ज्ञान उत्पन्न होता है।

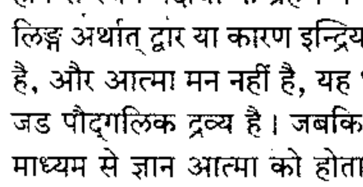

(१) अवग्रह – सिर्फ वस्तु का सामान्याकार ज्ञान हो, जैसे कुछ है। लेकिन नाम–जाति आदि विशेष बोध न हो ऐसा निराकार सामान्य बोध मात्र अवग्रह ज्ञान कहलाएगा। मेरे पैर के नीचे कुछ स्पर्श हुआ। मैंने अभी कुछ देखा था। लेकिन क्या यह निर्णय नहीं है।

(२) ईहा – अवग्रह में 'कुछ है' इतना ही जो अंश जाना था उसमें क्या है?

यह जानने की इच्छा होना ईहा कहलाता है। मेरे पैर के नीचे क्या आया? किस वस्तु का स्पर्श हुआ था? मैंने किसे देखा था इत्यादि जानने की इच्छा होना यह ईहा कहलाता है।

(३) अवाय (अपाय) – ईहा में जिसे जानने की इच्छा की थी उसका निर्णय हो जाना यह अपाय कहलाता है। यह अमुक है यह निर्णयात्मक ज्ञान अपाय है। जैसे-मेरे पैर के नीचे घास का स्पर्श हुआ है। मैंने मुकेश को देखा है। इत्यादि निर्णयात्मक ज्ञान अपाय है।

(४) धारणा – अपाय में जिसका निर्णय हो चुका है उसे यादशक्ति स्मृति में धारण करके रखना यह धारणा है। धारणा स्मृति का ही दूसरा नाम है। अपाय में हुए निर्णय को भविष्य के लम्बे काल तक अवधारण करके रखना यह धारणा कहलाता है।

इस तरह अवग्रह से सामान्याकार ग्रहण करके, ईहा में जानने की इच्छा प्रकट करके, अपाय में निर्णय करके धारणा में स्मृति रूप से धारण करके रखना यह ज्ञान की प्रक्रिया है। जगत के सभी जीवों को ज्ञान इसी पद्धति से होता है। यही प्रक्रिया सभी जीवों के लिए हैं। परंतु इतनी शीघ्र होती है कि पता भी नहीं लगता है।

अवग्रह

अर्थावग्रह | व्यंजनावग्रह

इस तरह अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह ये अवग्रह के दो भेद है।

(१) अर्थावग्रह - जिस वस्तु का ग्रहण किया जाय वह ग्राह्य वस्तु सामान्य विशेषात्मक होने पर भी अर्थावग्रह से मात्र सामान्य रूप अर्थ (वस्तु) का ही ग्रहण होता है। नाम, जाति, गुण, क्रिया, द्रव्यादि की कल्पना से रहित सामान्य वस्तु का ही ज्ञान जिससे हो उसे अर्थावग्रह कहते हैं। जैसे 'कुछ है' ऐसे पदार्थ का भास होना यह अर्थावग्रह है। अर्थ = वस्तु तथा अवग्रह अर्थात् ज्ञान। अर्थस्य अवग्रह वस्तु का ज्ञान यह अर्थावग्रह है। अर्थावग्रह का असाधारण कारण व्यंजनाग्रह है। व्यंजनावग्रह के तुरंत बाद अर्थावग्रह होता है।

(२) व्यंजनावग्रह - व्यंजन + अवग्रह = व्यंजनावग्रह। उपकरण इन्द्रिय और शब्दादि परिणत द्रव्यों का परस्पर सम्बन्ध होने से व्यंजनावग्रह कहते हैं। 'व्यंजते-प्रकटी क्रियते अर्थो येन तद् व्यंजनम् यथा दीपेन घटः' - जिससे पदार्थ प्रकट हो वह व्यंजन कहलाता है। जैसे दिपक से घट प्रकट किया होता है। व्यंजनावग्रह असंख्य समयात्मक होता है। प्रत्येक समय में थोड़ी थोड़ी ज्ञान की मात्रा प्रकट होती जाती है परंतु व्यक्त रूप से दिखाई नहीं पड़ती। जबकि व्यंजनावग्रह के तुरंत बाद अर्थावग्रह होने के कारण व्यंजनावग्रह भी ज्ञान ही कहलाएगा। यह

अर्थावग्रह का असाधारण कारण है। यह व्यंजनावग्रह चक्षु और मन का नहीं होता। व्यक्त ग्रहण अर्थावग्रह कहलाता है और अव्यक्त ग्रहण व्यंजनावग्रह कहलाता है। एक नियम ऐसा है कि–न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् – अर्थात् चक्षु तथा मन के द्वारा व्यंजनावग्रह नहीं होता। क्योंकि चक्षु और मन अप्राप्यकारी है।

इन्द्रियों का प्राप्याप्राप्यकारित्व :–

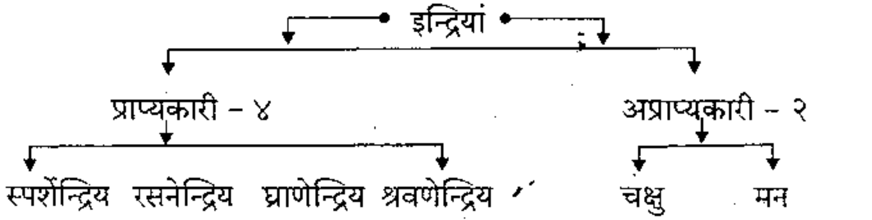

(१) प्राप्यकारी इन्द्रियां – इन्द्रियां और विषय के संबंध द्वारा प्राप्त ऐसे विषयभूत शब्दादि वस्तुओं को जाने वे प्राप्यकारि ईन्द्रियां कहलाती है अथवा प्राप्यकारी अर्थात्–स्पष्ट अर्थ को ग्रहण करने वाली। अतः स्पर्शेन्द्रियादि चार इन्द्रियां ही प्राप्यकारी है। जो वस्तु को प्राप्त करके ज्ञान करती है। जैसे–(१) स्पर्शेन्द्रिय से ठंडा, गरम, मृदु, कर्कश आदि स्पर्श का चमड़ी–स्पर्शेन्द्रिय को स्पर्श करके ही वस्तु गरम है या ठंडी है यह ज्ञान होगा। सिर्फ दूर से देखने मात्र से ठंडे–गरम का ज्ञान नहीं होगा। (२) उसी तरह रसनेन्द्रिय–जीभ से चख कर ही खट्टे–मीठे, खारे पदार्थों के स्वाद का अनुभव होगा (३) घ्राणेन्द्रिय नासिका (नाक) भी सुगंध–दुर्गंध को नाक से ग्रहण करके सूंघकर निर्णय करती है, तथा (४) पांचवी श्रवणेन्द्रिय (कान) भी कर्णपटल पर आए हुए शब्द–ध्वनि के स्पर्श से, ध्वनि ग्रहण करके ज्ञान करती है, अर्थात् इन्द्रियों के प्रति वस्तु की प्राप्ति हो और वस्तु को प्राप्त करके ही ज्ञान करे, जाने वह प्राप्य ज्ञान करती है, अर्थात् इन्द्रियों के प्रति वस्तु की प्राप्ति हो और वस्तु को प्राप्त करके ही ज्ञान करे, जाने वह प्राप्यकारि इन्द्रियां कहलाती है। वे ४ हैं। अतः इन्हीं चार का व्यंजनावग्रह होता है। **नयण–मणोवज्जियभेयाओ वंजणोग्गहो चउहा। उवधाया–णुग्गहओ, जं ताइं पत्तकारीणि ।। (२०४)।** विशेषावश्यक भाष्य के इस श्लोक में प्राप्यकारिणि इन्द्रियों का लक्षण बताया है। जिसका ऊपर विवेचन किया है।

(२) अप्राप्यकारी इन्द्रियां–आंख और मन ये दो अप्राप्यकारी इन्द्रियां है। आंख से वस्तु देखने में जरूरी नहीं है कि वस्तु को आंख का स्पर्श करना पड़े। या सोचने में जरूरी नहीं है कि वस्तु को मन से लगाना पड़े। नहीं। वस्तु दूर होते हुए भी आंख दूर से देखकर ज्ञान कर लेती है। जैसा कि प्राप्यकारी इन्द्रियों के साथ होता

है वैसा चक्षु तथा मन के विषय में नहीं होता है। उदाहरणार्थ-स्पर्शेन्द्रिय, रसनेद्रिय (जीभ) घ्राणेन्द्रिय तथा श्रवणेन्द्रिय (कान) ये सभी अपने अपने विषय की वस्तु को प्राप्त करके ज्ञान करती है। वस्तु का चमड़ी से स्पर्श होगा तभी ही स्पर्शेन्द्रिय जानेगी कि यह ठंड़ा है या गरम? परंतु दूर से ही नहीं जानेगी। जीभ पर यदि वस्तु रखेंगे तो ही खट्टे-मीठे आदि रस का ज्ञान होगा, नाक के पास लाकर सूंघने से ही सुगंध-दुर्गंध का ज्ञान होगा। उसी तरह शब्द-ध्वनि आकर कर्णपटल पर टकराएगी तो ही शब्द का ज्ञान होगा अन्यथा नहीं। परंतु अप्राप्यकारी चक्षु के लिए यह नियम लागू नहीं होता। दूर पड़ी हुई वस्तु का भी चक्षु ज्ञान कर लेती है। उसी तरह दूर पड़ी हुई वस्तु के बारे में मन सोच सकता है। विचार करके ज्ञान प्राप्त कर लेता है। अतः ये दोनों अप्राप्यकारी गिने जाते हैं।

व्यंजनावग्रह चक्षु और मन का नहीं होता, क्योंकि चक्षु और मन अप्राप्यकारी है, जबकि व्यंजनावग्रह प्राप्यकारी है। उपकरण इन्द्रियां शब्दादि रूप में परिणत पुद्‌गलों का गाढ सम्बन्ध हो तभी व्यंजनावग्रह कहलाता है। मन को तथा चक्षु को ग्रहण करने योग्य पदार्थों से मन और चक्षु के साथ गाढ संबंध नहीं होता है इसलिए मन और चक्षु के अलावा ४ हैं इसलिए व्यंजनावग्रह भी चार प्रकार का होगा।

मतिज्ञान के २८ भेद :-

(१) स्पर्शेन्द्रिय के	अवग्रह	ईहा	अपाय	धारणा
(२) रसनेन्द्रिय के	अवग्रह	ईहा	अपाय	धारणा
(३) घ्राणेन्द्रिय के	अवग्रह	ईहा	अपाय	धारणा
(४) चक्षुइन्द्रिय के	अवग्रह	ईहा	अपाय	धारणा
(५) श्रवणेन्द्रिय के	अवग्रह	ईहा	अपाय	धारणा
(६) मन के	अवग्रह	ईहा	अपाय	धारणा

(पांच इन्द्रियां तथा छट्ठा मन ये-६, तथा अवग्रहादि ४ अतः ६ X ४ = २४ तथा ४ इन्द्रियों के व्यंजनावग्रह के ४ भेद। अतः २४ + ४ = २८ इस तरह ये २८ भेद मतिज्ञान के मुख्य हुए।)

विस्तार से मतिज्ञान के ३४० भेद :-

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥१-१६॥

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के इस सूत्र से उमास्वाति महाराज ने बहु-बहुविध आदि के १२ भेद और बताए हैं। अर्थात् इन बारह तरीके से अवग्रहादि प्रमाण में कम-ज्यादा आदि रीत से ग्रहण होते हैं।

(१) बहु - बहुत प्रकार से ज्ञान हो उसे 'बहु' भेद कहा है।

(२) अल्प – अल्प प्रकार से ज्ञान हो उसे 'अल्प' भेद कहा है।
(३) बहुविध – अनेक तरीके से होने वाले ज्ञान को 'बहुविध' कहा है।
(४) एकविध – एक ही तरीके से होने वाले ज्ञान को 'एकविध' कहा है।
(५) क्षिप्र (शिघ्र) – जल्दी से होने वाले ज्ञान को 'क्षिप्र' कहा है।
(६) विलम्ब से – देरी से–विलंब से होने वाले ज्ञान को 'विलंब' कहा है।
(७) अनिश्रित – पूरा वाक्य मुंह से न भी निकला हो फिर भी ज्ञान करले वह।
(८) निश्रित – मुंह से पूरा वाक्य शब्द निकालने के बाद ही ज्ञान करे वह।
(९) अनुक्त – न कहें फिर भी जो अभिप्राय मात्र से जान ले वह।
(१०) उक्त – कहे गए स्पष्ट शब्दों से ही ज्ञान प्राप्त करे वह 'उक्त'।
(११) ध्रुव – जैसा ज्ञान एक बार हुआ हो वैसा सदा–नित्य होता रहे उसे।
(१२) अध्रुव – एक बार होने पर बार बार नहीं होता उसे अध्रुव कहा।

इस तरह ये १२ प्रकार क्षयोपशम के आधार पर बताए गए हैं। सूत्र में तो बहु–बहुविधादि ६ ही नाम बताए गए हैं। परंतु 'सेतराणाम्' शब्द से उन्हीं छह के इतर अर्थात् विरोधि शब्द लेना यह कहा गया है। अतः बहु–बहुविध के ६ और उन्हीं के ६ विरोधि इस तरह कुल १२ प्रकार हुए। इन बारह ही प्रकार को उपरोक्त अवग्रहादि २८ प्रकार से गुणाकार किया जाय तो २८ × १२ = ३३६ प्रकार बनते हैं। चूंकि मुख्य तो अवग्रहादि के भेद है। मूल प्रक्रिया तो अवग्रहादि की है। वही कम–ज्यादा, जल्दी से, विलम्ब से, एक प्रकार से, अनेक प्रकार से इत्यादि १२ प्रकार से गुणाकार करना आवश्यक है। इस तरह ३३६ भेद मतिज्ञान के होते हैं।

बुद्धि के ४ भेद

(१) औत्पातिकी (२) वैनयिकी (३) कार्मिकी (४) पारिणामिकी

(१) औत्पातिकी बुद्धि – स्वयं जो बुद्धि कार्य करते हुए उत्पन्न हो उसे औत्पातिकी बुद्धि कहते हैं (२) विनयादि गुणोपासना से गुरु के आशीर्वाद से उत्पन्न होने वाली बुद्धि वैनयिकी बुद्धि कहलाती है (३) लुहार, सुथार, चमार आदि के कर्म करते हुए जो बुद्धि कार्य संबंधी उत्पन्न हो वह कार्मिकी बुद्धि कही जाती है (४) पारिणामिकी – परिणाम जन्य मति को पारिणामिकी बुद्धि कही है। अतः इस तरह चार प्रकार की बुद्धि से उपरोक्त ३३६ प्रकार के ज्ञान होते हैं इसलिए उपरोक्त ३३६ के साथ बुद्धि के ये ४ प्रकार मिलाने से ३३६ + ४ = ३४० प्रकार का मतिज्ञान होता है। विशेषावश्यक भाष्य तथा नन्दी सूत्रादि में ३४० भेद विस्तार से मतिज्ञान के बताए गए हैं। शास्त्रों में मति–बुद्धि के विशेष कथा प्रसंग भी बताए हैं।

बुद्धि प्रभाव :–

शास्त्रों में अभयकुमार की बुद्धि की अत्यन्त प्रशंसा ही गई है। अभयकुमार मगध के अधिपति राजा श्रेणिक के पुत्र भी थे और राज्य के महामंत्री भी। बुद्धिनिधान थे। राज्य की विकट समस्याओं का मिनिटों में निराकरण करते थे। अभेद्य चक्रों को बुद्धि बल से भेदने में अभयकुमार का कुशलता एवं चातुर्य इतिहास प्रसिद्ध है।

श्री विशेषावश्यक भाष्य में तथा नंदि सूत्रादि में चारों प्रकार की बुद्धि के विषय में भिन्न-भिन्न कथानक दिये हैं। (१) औत्पातिकी बुद्धि के विषय में रोहकुमार की कथा प्रसिद्ध है। मालव देश की उज्जयिनी नगरी में भरत नृत्यकार का पुत्र रोहकुमार बचपन से ही बुद्धि कुशल था। उज्जयिनी के राजा ने रोहक की बुद्धि की परीक्षा की। यह कितना चतुर है यह जानने के लिए भिन्न भिन्न जटिल कार्यों के प्रश्न रोहक के सामने रखे। रोहक को कहा कि-गांव के बाहर पड़ी शिला को उठाकर राज मंडप के योग्य छत्र बना दो। यह कार्य असंभव था। इतनी विशाल पत्थर की शिला को उठाकर मंडप के ऊपर छत्र के रूप में बनाना यह सभी को असंभव सा लगता था, परंतु रोहक ने बुद्धि चलाई। उसी शिला के चारों तरफ खंभे रहे इस तरह जमीन बीच से खुदवा दी। नीचे बैठने लायक मंडप बन गया। राजा इस कार्य को देखकर प्रसन्न हो गया। इस तरह भेड़ का वजन न बढ़े, मूर्गे को दूसरे मूर्गे के बिना युद्ध कराना, रेती के कणों की रस्सी बनाना, तथा हाथी मरा है तो मरा भी नहीं कहना तथा जिन्दा है ऐसे शब्द प्रयोग भी नहीं करना और उसके समाचार देना। इस तरह के कई प्रश्न कुतुहल वश राजा ने उसकी बुद्धि की परीक्षा करने के लिए पूछे। परंतु स्वस्थता के साथ बिना घबड़ाए रोहकुमार ने आम जनता के बीच बड़ी आसानी से वे कार्य किये। जिससे राजा भी सिर खुजलाने लगा। रोहकुमार की बाल्यावस्था में इतनी प्रगल्भ बुद्धि की समस्त प्रजा ने खूब प्रशंसा की। अंत में राजा ने रोहकुमार को अपना मुख्य राज्य मंत्री बनाया।

अकबर-बीरबल की बात सभी जानते ही हैं। हाजर जवाबी बीरबल समय का विलंब किये बिना शिघ्र ही अकबर के प्रश्न का उत्तर देता था। प्रजा चौंक उठती थी। नौं रत्नों में से यह एक रत्न था।

इसी तरह वैनयिकी बुद्धि पर दो शिष्यों की कथा भी कही है। कार्मिकी बुद्धि पर एक किसान की बुद्धि की भी बात है, तथा परिणामिकी बुद्धि पर राजा के युवान मंत्री के विविध दृष्टान्त नंदि सूत्र में बताए गए हैं। यह मतिज्ञान के क्षयोपशम के आधार पर है।

जातिस्मरण ज्ञान :-

जातिस्मरण यह भी एक ज्ञान है। परंतु इसका समावेश मतिज्ञान में ही

होता है। मतिज्ञान में जो अवग्रह–ईहा–अपाय तथा धारणा के चार भेद बताए गए हैं उनमें धारणा यह स्मृति रूप है। भूतकाल में बनी हुई बात को स्मृति से धारण करके रखनी यह धारणा है। अविस्मृति यह स्मरण शक्ति है। अतः जाति स्मरण यह मतिज्ञान के धारणा के भेद में समाविष्ट होता है। हमें जिस तरह ५–१०–२५–५० वर्ष पुरानी बात याद रहती है। वैसे ही किसी किसी को पूर्वजन्म की बात भी याद रहती है। यद्यपि आत्मा के ज्ञान में तो सैंकड़ो लाखों जन्मों की बातें–घटनाएं संचित है लेकिन उन पर आवरण आने के कारण वे बातें दब जाती है। ढक जाती है। परंतु भावि में तथाप्रकार का निमित्त मिल जाय तो वे सुषुप्त मन की बातें पुनः जागृत होकर स्मृति पटल पर आती है। पूर्वजन्म, गत भव की बातें तथाप्रकार के उद्बोधक–उत्तेजक निमित्त मिलने पर तथाप्रकार के मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जागृत हो जाती है। पूर्व की स्मृति ताजी बन जाती है उसे जाती स्मरण ज्ञान या पूर्वभवीय ज्ञान कहते हैं। इसे मतिज्ञान में इसलिए गिनते हैं क्योंकि स्मरण शक्ति का प्रकार है। यादशक्ति के आधार पर होता है। सभी को इसलिए नहीं होता क्योंकि सभी को तथाप्रकार के उद्बोधक उत्तेजक निमित्त नहीं मिलते, तथा ऊहा–पोह करने योग्य निमित्त नहीं मिलते, तथा दूसरी तरफ मति पर मतिज्ञानावरणीय कर्म का आवरण सविशेष ज्यादा है, तथा तीसरी तरफ हमको उद्बोधन–संबोधन करने वाले वैसे ज्ञानी गीतार्थ भी वर्तमान में उपलब्ध नहीं है जो हमारे पूर्व जन्मों की घटना को ताजी कराने के लिए वैसे उद्बोधन करे। अतः आज बहुत मुश्किल है। फिर भी इन तीनों कारणों में से एक–दो की भी उपलब्धि हो जाय तो भी ज्ञान हो सकता है। उदाहरणार्थ भगवान महावीर प्रभु ने आए हुए मेघकुमार को उसके पूर्व जन्म हाथी के भव की घटना सुनाई, और सुनते ही मेघकुमार ने मनोमन ऊहापोह किया, क्या मैं ही हाथी था ? इस तरह विचार करते हुए तथा दूसरी तरफ प्रभु के मुख से अपना ही पूर्व भव सुनते हुए मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जाति स्मरण ज्ञान हो गया।

सर्प जो भगवान के पैरों में काटने आया – उसे भगवान महावीर ने चंडकौशिक के नाम से संबोधन किया। सर्प यह नाम सुनकर चौंक उठा। उहापोह करने लगा। चंडकौशिक यह सांप का नाम नहीं था। यह उस सर्प के पूर्व जन्म का नाम था। कौशिक गोत्र था और भयंकर क्रोध करने के कारण चंड शब्द लोगों ने आगे जोड़ दिया था। उसी से व्यवहार चल रहा था। प्रभु महावीर उद्बोधक निमित्त थे। सर्प ने उन शब्दों पर गौर से सोचा, उसे पूर्व जन्म की बातें याद आने लगी। क्षण में जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। अब तो कहना ही क्या था? पूर्व के भव देखकर मैं साधु था, और कहां से गिरकर आज कहां सर्प योनि में आया हुं। अरे रे! यह क्या हुआ? बस पश्चाताप की धारा जगी और वह सर्प–आठवें स्वर्ग में गया।

ऐसे सैकड़ो दृष्टान्त शास्त्रों में मिलेंगे। चरित्र ग्रंथो में सैंकड़ो कथानकों में ऐसे प्रसंग मिलते हैं। शास्त्र तो यहां तक कहता है कि – जाति स्मरण ज्ञान होने के बाद जीव १-२-१०-२० ही नहीं असंख्य भवों का भी जान सकता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। वर्तमान काल में भी ऐसे कई दृष्टान्त अखबारों में, मासिकों में छपते हैं। शकुंतला नामक लड़की का तथा दीपक नामक ४ वर्ष के लडके का दृष्टान्त बहुचर्चित हुए हैं। जिनकी सत्यता की परीक्षा परीक्षकों ने की है। आज इन बातों को झूठ या कपोल कल्पित नहीं मानते हैं। पूर्व जन्म की बात को वर्तमान विज्ञान भी स्वीकारता है।

Hypnotism संमोहन से स्मृति ज्ञान :–

वर्तमान में Hypnotism संमोहन की प्रक्रिया काफी चली है। संमोहन की क्रिया में मनुष्य को बाह्य सूचना देते हुए भूतकाल की घटनाओं में ले जाया जाता है। वह मनुष्य स्वयं अपनी बुद्धि का उपयोग न करे और सिर्फ सूचना दाता के कथननुसार विचार करता जाय। १०-२०-२५ बार पूर्व-भूतकाल की घटना को बार बार याद दिलाई जाती है, और देखते ही देखते वह मनुष्य भूतकाल की घटना की स्मृतियों में खो जाता है। सुषुप्त मस्तिष्क जागृत हो जाता है। वर्तमान की अवस्था पर परदा गिर जाता है और भूतकाल की स्मृतियां जो सुषुप्त मस्तिष्क में पड़ी थी वे परदे पर छायाचित्र की तरह उभरने लगती है। स्मृति पटल पर याद आने लगती है। जैसे मानों दिमाग में केसेट घूम रही हो, वह एक एक घटना कहता जाता है, वैसा वर्तन करता जाता है। यहां तक कि वह २ साल का बच्चा है। ऐसे सूचनों के घेरे में उसकी स्मृति जगाई जाय तो वह २ साल के बच्चे की तरह मुंह में अंगूठा रखकर चूसने लगता है, बात व चेष्टा करने लगता है। यह संमोहन पूर्व स्मृति को जगाने का मतिज्ञान का ही स्वरूप है। वर्तमान विज्ञान के क्षेत्र में ऐसे कई प्रयोग हो रहे हैं, जिसमें तुम मां के गर्भ में हो ऐसे सूचनें दिये जाने पर वह गर्भस्थ भ्रूण की मुद्रा में बैठ जाता है। वे दिन उसकी स्मृति पर ताजे बनकर आने लगते हैं। इस तरह पूर्व स्मृतियों के खजाने रूप मतिज्ञान का यह अद्भूत स्वरूप है। संमोहन की जितनी गहराई में (Deep Trans) में ले जाते हैं उतनी ज्यादा भूतकाल की स्मृतियां ताजी होती है। अब तुम पूर्व जन्म में हो, गत भव के नाम का सूचन करने मात्र से इतनी शिघ्र पूर्व स्मृतियां ताजी नहीं हो रही है फिर भी यह असंभव नहीं है, वर्तमान में, भी मतिज्ञान के लिए कोई रोक टोक नहीं है। हां, असंख्य भवों की स्मृतियां ताजी होना जरूर असंभव है।

E.S.P. :-

E.S.P. (Extra Sensory Perseption) नामक इस पुस्तक में कई बौद्धिक चमत्कारों की बातें लिखि है। अतिन्द्रिय मन के प्रयोग की बातें इन्द्रियातीत गिनी जाती हैं। अतिन्द्रिय मन Extra Sens के रूप में माना जाता है। इस अतिन्द्रिय मन की द्रुतगामी शक्ति असीम है। अतः कई बार न समझ में आए ऐसे कार्य अत्यंत शिघ्रता से मन जब कर बैठता है तब चमत्कार का स्वरूप मान लिया जाता है।

ग्रीक देश की राजधानी एथेन्स की यह बात है। एक परिवार में ८ वर्ष की लड़की रात को १० बजकर २० मीनीट पर जगी। एकाएक घबड़ाती हुई उसने अपने पिता को तथा सबको उठाया और कहा अपने मामाजी अमरिका में रहते हैं उन्हें जल्दी कोल करो, उनकी बिल्डिंग में आग लगने वाली है। जल्दी करो समय बिल्कुल थोड़ा ही है। पिता ने कहा–बेटी अपने यहां तो फोन नहीं है, पास में जाकर कहीं से करू तो भी समय तो जाएगा। पिता–माता सभी घबड़ा गए। यह ८ वर्ष की छोटी लड़की एकाएक क्या कह रही है? लड़की ने फिर कहा पिताजी! अभी भी ४ मिनट है, ४ मिनट के बाद धड़ाके के साथ कुछ रासायणिक विस्फोट होगा और मामा और सबको बचाना है, जल्दी करो, हम सब नीचे उतरकर मैदान में चले जाएं, कहते ही सारा परिवार शिघ्र ही उतरकर नीचे मैदान में आ गया और प्रार्थना करने लगा की मामा जल्दी उठकर उतरकर नीचे आ जाव। क्या चमत्कार हुआ कि – अमेरिका की बहुमाली बिल्डिंग में रहते हुए मामा शिघ्र ही जगे, यही बात दिमाग में घूम रही थी, घबड़ाते हुए सबको उठाया और जल्दी से सभी नीचे उतरकर मैदान में खड़े हो गए। देखते ही देखते मकान के नीचे भारी विस्फोट हुआ और बड़ी जोर से आग लगी। तब उस लड़की ने एथेन्स में ताली बजाते हुए हंसकर पिताजी से कहा पिताजी ! मामा और सब बच गए। सब जने उतरकर मैदान में आ गए उसके बाद में आग लगी ! वैज्ञानिकों को भी चौंकानेवाला यह प्रसंग है। यह कैसे मालुम पड़ता है? इत्यादि समझ में नहीं आता। इसलिए इसे मन की शक्ति का प्रयोग गिन लिया।

Telepathy and Post Telepathy :-

दूर की बातों को बिना किसी साधन या माध्यम से जानना, समझना, संदेशा लेना–देना–भेजना आदि ज्ञान की प्रक्रिया की बातें Telepathy के नाम से विज्ञान ने भी स्वीकारी है। वर्तमान में साधन तो बहुत हैं, परंतु फिर भी जब बिना साधनों की सहायता के भी ऐसे ऐसे विचित्र प्रयोग जब होते हैं तब किसी की समझ में नहीं आते। भूकंप होने की ४ मिनट पहले एक परिवार जगता है। सभी दौड़कर एकाएक बाहर मैदान में आ गया। आंख बन्द कर प्रार्थना करने लगे। इतने में एक

हजार माइल दूर रहने वाला एक परिवार वह भी इनकी सूचनानुसार घर से बाहर निकलकर मैदान में आ गया। देखते ही देखते सिर्फ ४ मिनट बाद भारी भूकंप हुआ और मकान सारा ही धराशायी हो गया। यह आश्चर्य की बात थी कि ४ मिनट के पहले कैसे पता चला? Telepathy यह कहती है दूर बनने वाली घटना का पहले ज्ञान हो जाता है। या कोई दूर से संकेत भेजे, या हमारे विषय में कुछ सोचे विचारे उसका पता चले, ज्ञान हो जाय, कुछ समझ में आ जाय यह Telepathy हैं। मैं जिसके विषय में कुछ सोचता ही था कि उन्हें पता चल गया। मैंने जिसके विषय में विचार किया और वे सामने आकर खड़े रह गए। मैंने जिस विषय में पत्र लिखा कि उसी विषय में सामने से उनका पत्र आया। इत्यादि बनने वाले निमित्तों से मनोभाव का ज्ञान हो जाता है ऐसी कल्पना की जाती है यह ढशश्रशर्रिंहू के नाम से पहचानी जाती है। यद्यपि मनोभाव के विषय से संबंधित है फिर भी उसे मनःपर्यवज्ञान नहीं कह सकते। मनःपर्यवज्ञान बिल्कुल अलग ही वस्तु है।

श्रुतज्ञान का स्वरूप :-

मतिज्ञान के बाद दूसरा क्रम श्रुतज्ञान का आता है। श्रुतज्ञान को मतिज्ञान पूर्वक ही बताया गया है। सूत्र यह है कि - **श्रुतं मतिपूर्व द्व्यनेक द्वादशभेदम्** ।।१-२०।। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। चूंकि श्रुतज्ञान भी इन्द्रियों की सहायता से होता है श्रवण आदि में श्रवणेन्द्रिय सहायक है, तो शास्त्र पढ़ने आदि में चक्षु इन्द्रिय सहायक है। अतः जो इन्द्रियां मतिज्ञान कारक है वे ही श्रुतज्ञान कारक भी है। अतः मतिज्ञान पूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है यह नियम है। वैसे श्रुतज्ञान का सिर्फ 'शब्दार्थ-अन्वयार्थ लें तो सुना हुआ' ज्ञान इतना ही अर्थ होगा। व्युत्पत्त्यर्थ-श्रुतं-श्रौत, श्रवणेन्द्रिय विषयीकृतं, अर्थात् सुना हुआ ज्ञान यह अर्थ जरूर होता है, परंतु शब्द रचना में रूढ अर्थ लेना प्रचलित व्यवहार है। उदाहरणार्थ 'कुशल' शब्द है। व्युत्पत्ति से कुश को काटने वाला ऐसा शब्दार्थ होता है परंतु यह अभिप्रेत नहीं है। अतः रूढ़ शब्दार्थ लेने से कुशल का चतुर अर्थ होता है। यह गाड़ी चलाने में कुशल अर्थात् चतुर है। उसी तरह श्रुत शब्द का केवल सुना हुआ यह अर्थ लेने से नहीं चलेगा। श्रुत से शास्त्रज्ञान, श्रुतज्ञान, आगमादि शास्त्रों का ज्ञान यह मुख्य अर्थ लिया जाएगा। अच्छा श्रुत का सुना हुआ ऐसा भी अर्थ करें तो भी तीर्थंकर से सुना हुआ ज्ञान जो गणधरों ने शास्त्र में संचित किया है। सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवंतों से अर्थ रूप देशना को श्रवण कर जिन गणधरों ने जो द्वादशांगी रूप शास्त्रों की रचना की है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि -

अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गुंथंति गणहरा निउणा।

सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तइ ।।आ.नि.।।

अर्थ से तीर्थंकर अरिहंत भगवान देशना देते हैं और निपुण गणधर भगवंत उसे सूत्र बद्ध करके गूंथते हैं। उसके बाद यह सूत्र रूप श्रुतज्ञान शासन के हित के लिए प्रवर्तमान होता है। इस तरह श्रुत से श्रौतं-श्रुतं-सुना हुआ अर्थ भी लें तो मुख्य सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवंतो से सुनकर जो गणधरों ने शास्त्र बद्ध किया हो लिपिबद्ध किया उस श्रुतज्ञान को यहां श्रुत शब्द से लिया गया है। इसीलिए उमास्वाति वाचकप्रवर ने उपरोक्त सूत्र में श्रुतज्ञान के मुख्य दो भेद कर फिर दोनों के भेद बताएं हैं।

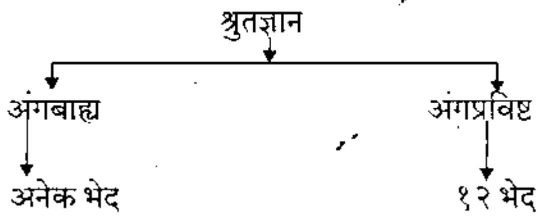

श्रुतज्ञान के मूल दो भेद हैं- एक अंगबाह्य और दूसरा अंग प्रविष्ट। अंग प्रविष्ट आचारांग आदि बारह अंग सूत्रों के भेद से मुख्य १२ प्रकार है। जिसे द्वादशाङ्गी कहते हैं। ये गणधर रचित हैं तथा तीर्थंकर कथित है। ये १२ इस प्रकार है-

(१) आचारांग (२) सुयगडांग (सूत्र कृतांग) (३) ठाणांग (स्थानांग)
(४) समवायांग,(५) विवाह पण्णत्ति (व्याख्या प्रज्ञप्ति या भगवती सूत्र)
(६) ज्ञाता धर्म-कथा, (७)उपासकदशांग, (८) अन्तकृत्दशांग,
(९) अनुत्तरोपपातिक दशांग, (१०) प्रश्न व्याकरण, (११) विपाक सूत्र
तथा (१२) दृष्टिवाद ।

ये १२ अंग अंगप्रविष्ट के भेद हैं। ये द्वादशांगी कहलाते हैं। ये प्रमुख आगम शास्त्र है। श्रुतज्ञान के १४ तथा २० भेद इस प्रकार गिनाए गए हैं।

श्रुतज्ञान के भेद :-

चउदसहा वीसहा व सूयं ।।५।। प्रथम कर्मग्रंथ में श्रुतज्ञान के भेद दोनों तरीके से बताए हैं। एक प्रकार से प्रथम १४ भेद होते हैं। दूसरे प्रकार से २० भेद होते हैं। १४ भेंद इस प्रकार से है -

अक्खर सन्नी सम्मं साइअं खलु सपज्जवसियं च।
गमियं अंगपविट्ठं सत्तवि एए सपडिवक्खा ।।६।।

इस गाथा में ७ भेद के नाम गिना कर दुसरे उनके विपरीत सप्रतिपक्ष शब्द से लिए गए हैं।

१. अक्षर श्रुत - अक्षर के ३ भेद है (१) संज्ञाक्षर (२) व्यंजनाक्षर (३) लब्ध्यक्षर।

संज्ञाक्षर लिपि को कहते हैं। व्यंजनादि का उच्चार होता है। शब्द और अर्थ की प्रतीति के ज्ञान को लब्ध्यक्षर कहते हैं। इन तिनों से ज्ञान होता है।

२. **अनक्षर श्रुत** – जिसमें अक्षरों का उपयोग न किया जाय और चुटकी बजाना, छिंकना, सिर हिलाना इत्यादि संकेतों से होने वाले ज्ञान को अनक्षर श्रुत कहते हैं।

३. **संज्ञि श्रुत** – जो मन वाले संज्ञि पंचेन्द्रिय जीव है उनको होने वाला ज्ञान यह संज्ञि श्रुत है। (१) दीर्घकालिकी (२) हेतुवादोपदेशिकि और (३) दृष्टिवादोपदेशिकी ये ३ संज्ञाएं है।

४. **असंज्ञी श्रुत** – जिन जीवों को मन ही नहीं है। एकेन्द्रिय से विकलेन्द्रिय तक के जीवों का श्रुत यह असंज्ञी श्रुत कहलाता है।

५. **सम्यक् श्रुत** – देव-गुरु-धर्म की श्रध्दा तथा जीवादि नौं तत्त्वों की श्रध्दा वाले सम्यक् दृष्टि जीवों का जो श्रुतज्ञान होता है उसे सम्यक् श्रुत कहते हैं।

६. **मिथ्यादृष्टि श्रुत** – जीवादि नौं तत्त्वों की श्रध्दा हों, सही ज्ञान न हो, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों का ज्ञान मिथ्यादृष्टि श्रुत कहलाता है।

७. **सादि श्रुत**– जिस ज्ञान की क्रमशः शुरुआत-आदि या प्रारम्भ हो वह सादि श्रुत कहलाता है।

८.**अनादि श्रुत**–जिसकी आदि न हो, आदि का पता ही न हो वैसा ज्ञान अनादि श्रुत कहलाता है।

९. **सपर्यवसित श्रुत** – जिसका अंत हो वह सपर्यवसित श्रुत है।

१०.**अपर्यवसित श्रुत** – जिसका अंत न हो वह अपर्यवसित श्रुत है।

११. **गमिक श्रुत**–जिसमें गम=अर्थात् पाठ एक सरिखे हो उसे गमिक श्रुत कहते हैं।जैसे-दृष्टिवाद।

१२.**अगमिक श्रुत**–जिसमें एक सरिखे पाठ न हों, उसे अगमिक श्रुत कहते हैं,जैसे-कालिक श्रुत।

१३ **अंगप्रविष्ट श्रुत** – आचारांग आदि १२ अंगो के ज्ञान को अंगप्रविष्ट श्रुत कहते हैं।

१४. **अंगबाह्य श्रुत** – आचारांगादि सूत्रों से बाहरी-अलग ज्ञान को अंगबाह्य श्रुत कहते हैं। जैसे-दशवैशालिक, उत्तराध्ययन, प्रकरणादि ज्ञान अंगबाह्य कहा जाता है।

प्रकारान्त से श्रुतज्ञान के २० भेद इस प्रकार बताए हैं।

पज्जय अक्खर पय संघाया पडिवत्ति तहय अणुओगे।
पाहुड पाहुडपाहुड वत्थु पुव्वा य ससमासा ।।७।।

इस गाथा में १० नाम बताकर दूसरे दस नाम बताने के लिए समास शब्द दिया है। जो पहले दस नाम है उन्हीं के साथ समास शब्द जाड़ने से दूसरे दस नाम

बनते हैं।

१. पर्याय श्रुत – उत्पत्ति के प्रथम समय में, लब्धि अपर्याप्त, सूक्ष्म निगोद के जीव को जो कुश्रुत का अंश होता है, उससे दूसरे समय में ज्ञान के अंश की जो पर्याय बढ़ती है वह पर्याय श्रुत है।

२. पर्याय समास श्रुत – उक्त पर्याय श्रुत के समुदाय को अर्थात् दो, तीन आदि संख्याओं को पर्याय समास श्रुत कहते हैं।

३. अक्षर श्रुत – अकार से हकारादि तक के लब्ध्यक्षरों से किसी एक अक्षर के ज्ञान को अक्षर श्रुत कहते हैं।

४. अक्षर समास श्रुत – लब्ध्यक्षरों के समुदाय को अर्थात् २, ३ आदि संख्याओं को अक्षर समास श्रुत कहते हैं।

५. पद श्रुत – जिस अक्षर समुदाय से पूरा अर्थ मालुम हो वह पद (A Sentence is group of Words) कहा जाता है, पद के ज्ञान को पदश्रुत कहते हैं।

६. पद समास श्रुत – अनेक पदों के समुदाय का ज्ञान पद समास श्रुत कहलाता है।

७. संघात श्रुत – गति आदि चौदह मार्गणाओं में से किसी एक मार्गणा के एक देस के ज्ञान को संघात श्रुत कहते हैं।

८. संघात समास श्रुत – चौदह मार्गणाओं में से कीसी भी एक मार्गणा के अनेक अवयवों का ज्ञान संघात समास श्रुत कहलाता है।

९. प्रणिपत्ति श्रुत – गति, इन्द्रिय, व्दारों में से किसी एक व्दार के जरिए समस्त संसार के जीवों को जानना प्रतिपत्ति श्रुत है।

१०. प्रतिपत्ति समास श्रुत – गति आदि दो–चार व्दारों के जरिए जीवों का ज्ञान प्रतिपत्ति समास श्रुत कहलाता है।

११. अनुयोग श्रुत – "सत् पय परुवणया दव्व पमाणं च" इस गाथा में कहे हुए अनुयोग व्दारों में से किसी एक के व्दारा जीवादि पदार्थो को जानना यह अनुयोग श्रुत है।

१२. अनुयोग समास श्रुत – उन्हीं अनुयोग व्दारों मे से अधिक २–४ व्दारों का ज्ञान अनुयोग समास श्रुत कहलाता है।

१३. प्राभृत–प्राभृत श्रुत – दृष्टिवाद के अंदर प्राभृत–प्राभृत नामक अधिकार है, उनमें से किसी एक का ज्ञान प्राभृत–प्राभृत श्रुत है।

१४. प्राभृत–प्राभृत समास श्रुत – उन्हीं अधिकारों में से दो–चार प्राभृत–प्राभृत अधिकारों का ज्यादा ज्ञान प्राभृत–प्राभृत समास श्रुत ज्ञान है।

१५. प्राभृत श्रुत – जिस प्रकार कई उद्देश्यों का एक अध्ययन होता हैं उसी तरह कई प्राभृत-प्राभृतों का एक प्राभृत होता है, उसमें से एक का ज्ञान प्राभृत श्रुत है ।

१६. प्राभृत समास श्रुत – एक से अधिक प्राभृतों का ज्ञान प्राभृत समास श्रुत है।

१७. वस्तु श्रुत – कई प्राभृतों का एक वस्तु नामक अधिकार होता है। उसका एक अधिकार का ज्ञान वस्तु श्रुत है।

१८. वस्तु समास श्रुत – २-४ आदि वस्तु अधिकारों का ज्ञान वस्तु समास श्रुत ज्ञान है।

१९. पूर्व श्रुत – अनेक अधिकारात्मक वस्तुओं का एक पूर्व होता है उनमें से एक पूर्व का ज्ञान पूर्व श्रुत कहलाता है।

२०. पूर्व समास श्रुत – ऐसे २ पूर्व या ४ पूर्व या १० पूर्व या १४ पूर्वों का ज्ञान यह पूर्व समास श्रुत ज्ञान है।

उपरोक्त बीसों भेदों मे क्रमशः ज्ञान का विस्तार होता जाता है। प्रमाण बढ़ता ही जाता है। श्रुत ज्ञान में सबसे बड़ा प्रमाण पूर्व का है। ऐसे १४ पूर्व हैं। उनके नाम इस तरह बताए हैं-

(१) उत्पादपूर्व, (२) आग्रायणीय पूर्व, (३) वीर्यप्रवाद पूर्व, (४) अस्ति-नास्ति प्रवाद पूर्व, (५) ज्ञान प्रवाद पूर्व, (६) सत्य प्रवाद पूर्व, (७) आत्म प्रवाद पूर्व, (८) कर्म प्रवाद पूर्व, (९) प्रत्याख्यान प्रवाद पूर्व, (१०) विद्याप्रवाद पूर्व, (११) कल्याण पूर्व, (१२) प्राणवाद पूर्व, (१३) क्रिया विशाल पूर्व और (१४) लोकबिन्दुसार पूर्व। ये १४ पूर्व हैं।

उपरोक्त १४ पूर्वो का प्रमाण बताते हुए कल्पसूत्र सुबोधिका टीका में हाथी की कल्पना करके उसे एक हौज में डुबाया जाय और जितनी स्याही बाहर निकले उससे जितना शास्त्र लिखा जाय वह पूर्व कहलाता है। चौदह पूर्वो के लिए भिन्न-भिन्न हाथीयों की संख्या इस प्रकार बताई गई हैः-

(१) पहला	पूर्व	१	हाथी प्रमाण स्याही से लिखा गया है।
(२) दूसरा	पूर्व	२	हाथी प्रमाण स्याही से लिखा गया है।
(३) तीसरा	पूर्व	४	हाथी प्रमाण स्याही से लिखा गया है।
(४) चौथा	पूर्व	८	हाथी प्रमाण स्याही से लिखा गया है।
(५) पांचवा	पूर्व	१६	हाथी प्रमाण स्याही से लिखा गया है।
(६) छट्ठा	पूर्व	३२	हाथी प्रमाण स्याही से लिखा गया है।
(७) सातवां	पूर्व	६४	हाथी प्रमाण स्याही से लिखा गया है।
(८) आठवां	पूर्व	१२८	हाथी प्रमाण स्याही से लिखा गया है।
(९) नौवां	पूर्व	२५६	हाथी प्रमाण स्याही से लिखा गया है।

(१०) दसवां	पूर्व	५१२	हाथी प्रमाण स्याही से लिखा गया है।
(११) ग्यारहवां	पूर्व	१०२४	हाथी प्रमाण स्याही से लिखा गया है।
(१२) बारहवां	पूर्व	२०४८	हाथी प्रमाण स्याही से लिखा गया है।
(१३) तेरहवां	पूर्व	४०९६	हाथी प्रमाण स्याही से लिखा गया है।
(१४) चौदहवां	पूर्व	८१९२	हाथी प्रमाण स्याही से लिखा गया है।

१४ पूर्व कुल१६३८३ हाथी प्रमाण स्याही पुंज से लिखे गए हैं।

इन पूर्वो के रचयिता गणधर महाराज होते हैं। इन १४ पूर्वो में से नौवां जो प्रत्याख्यान प्रवाद नामक पूर्व है जो २५६ हाथी प्रमाण स्याही पुंज से लिखा गया है, उसमें से उद्धृत करके दशाश्रुत स्कंध शास्त्र बनाया गया है। इस दशाश्रुत स्कंध शास्त्र के १० अध्ययन है उन दश अध्ययनों में से आठवां अध्ययन 'पज्जोसणा कप्पो' नामक है। यह मूल नाम है। इसीको 'पर्युषणा कल्प' कहा जाता है, और आगे चलकर संक्षिप्त नाम से 'कल्पसूत्र' व्यवहार हो गया है। अतः आज जो कल्पसूत्र कहा जाता है वह दशाश्रुत स्कंध शास्त्र का आठवां अध्ययन है, और दशाश्रुत स्कंध मूल नौवा प्रत्याख्यान प्रवाद पूर्व का एक विभाग है। इस तरह यह श्रुतज्ञानअगाध समुद्र रूप है। चौदह पूर्वी भद्रबाहुस्वामी महाराज ने यह कल्पसूत्र नौवे पूर्व में से उद्धृत करके बनाया है। भद्रबाहूस्वामी आदि मुख्य ६ श्रुतकेवली चौदहपूर्वी थे। अभिधान चिन्तामणि कोष में हेमचन्द्राचार्य महाराज ने इस प्रकार नाम दिये हैं –

अथ प्रभवप्रभुः।

शय्यंभवोयशोभद्रः सम्भूतविजयस्ततः ।।३३।।

भद्रबाहुः स्थूलभद्रः श्रुतकेवलिनो हि षट्।।

महागिरि सुहस्त्याद्या वज्रान्तादशपूर्विणः ।।३४।।

(१) प्रभवस्वामी (जम्बुस्वामी के शिष्य) (२) शय्यंभवसूरि म. (३) यशोभद्रसूरि म., (४) सम्भूतविजयजी म. (५) भद्रबाहुस्वामी म. (६) स्थूलभद्रस्वामी म. ये छह श्रुतकेवली चौदह पूर्वधारी थे। इनको चौदह पूर्वो का संपूर्ण ज्ञान था। अतः वे केवलज्ञानी न होते हुए भी उनके समान श्रुतज्ञान के बल से कहने वाले श्रुत केवली थे। तथा आर्यमहागिरिस्वामी म., आर्यसुहस्तीस्वामी म., आर्यवज्रस्वामी म. ये महापुरुष दशपूर्वधर ज्ञानी कहलाते थे। इसके बाद दशपूर्वीयों में किसी का नाम नहीं आता। यहां तक अर्थात् इन महापुरुषों तक ही दश पूर्वीयों का नाम आता है। तत्पश्चात् पूर्वो में इतने ज्यादा १४-१० पूर्वो के ज्ञानवाले नहीं हुए। पूर्वो का ज्ञान विच्छेद गया। नष्ट हुआ। अंत में पूर्वधर वाचक मुख्य श्री उमास्वाति महाराज कहे जाते हैं। इस तरह श्रुत ज्ञान अर्थात् शास्त्र ज्ञान एक अगाध समुद्र से भी

अनेक गुना विशाल है–कहते हैं कि समुद्र का, महासागर का पार पाना आसान है परन्तु श्रुतज्ञान रुपी शास्त्र सागर का अन्त पाना या पार पाना अत्यन्त कठिन है। अत्यंत सार रूप से संक्षेप में यहां पर वर्णन किया है। विशेष विस्तार से ज्ञान का स्वरूप समझने वाले जिज्ञासुओं को विशेषावश्यक भाष्य, नन्दिसूत्र आदि शास्त्रों के अध्ययन से संतोष प्राप्त होगा।

प्रत्यक्ष ज्ञानका स्वरूप :–

पांच ज्ञानों में से जो दो परोक्ष ज्ञान थे – मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उनका वर्णन किया। अब जो परोक्ष नहीं है प्रत्यक्ष ज्ञान है उसका वर्णन किया जाता है। प्रत्यक्ष–परोक्ष शब्दों की चर्चा पहले कर चुके हैं। नन्दिसूत्र में प्रत्यक्ष – परोक्ष ज्ञानों के भेद इस तरह किये हैं –

नंदि सूत्र – **तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा–पच्चक्खं च परोक्खं च। से किं तं पच्चक्खं ? पच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा इन्दियपच्चक्खं च णोइंदिय पच्चक्खं च। से किं तं इंदियपच्चक्खं? इंदियपच्चक्खं पंचविहं पण्णतं, तं जहा (१) रसोइंदियपच्चक्खं (२) चक्खिंदिय पच्चक्खं (३) घाणिंदियपच्चक्खं (४) रसणेन्दिय पच्चक्खं (५) फासिंदिय पच्चक्खं। से तं इन्दिय पच्चक्खं।**

से किं तं णोइन्दिय पच्चक्खं ? णोइन्दिय पच्चक्खं तिविहं पण्णत्तं, तं जहा– (१) ओहिणाण पच्चक्खं, (२) मणपज्जवणाण पच्चक्खं (३) केवलणाण पच्चक्खं।

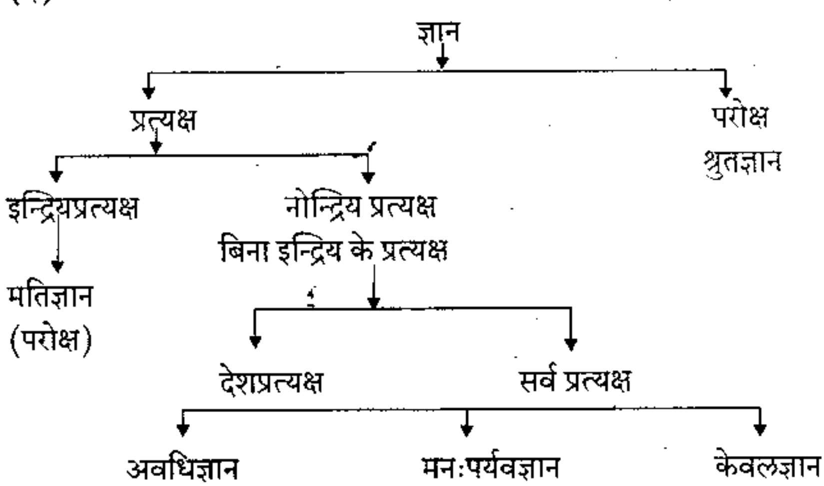

इस तरह नन्दिसूत्र में पांच ज्ञान के भेदों को प्रत्यक्ष और परोक्ष के दो भेदों

मे विभक्त करके प्रत्यक्ष के भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं। पांच इन्द्रियों के माध्यम से जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान होता है इसे मतिज्ञान कहते हैं। मन भी अतीन्द्रिय के रूप में गिना है। इन्द्रियों के द्वारा होने के कारण इन्द्रिय प्रत्यक्ष नाम रखा, परंतु आत्म प्रत्यक्ष नहीं कहा। इसीलिए ये परोक्ष गिने जाते हैं। श्रुतज्ञान भी मतिज्ञान पूर्वक ही होता है अतः यह भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष या परोक्ष ही गिना जाता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहिए या परोक्ष कहिए दोनों एक ही बात है। सीधे आत्म प्रत्यक्ष से होने वाले ज्ञान ३ है। अवधि, मनःपर्यव तथा केवलज्ञान। इनमें भी अवधिज्ञान तथा मनःपर्यवज्ञान ये दोनों देश नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष है। बिना इन्द्रिय के सीधे आत्मा से प्रकट होने वाले ये तीनों ज्ञान हैं। इसमें भी अवधि ज्ञान तथा मनः पर्यवज्ञान ये दोनों लोक-अलोक के समस्त द्रव्यों को ग्रहण करनेवाले न होने से इन्हें देश प्रत्यक्ष कहा जाता है। तथा अनंत लोक अलोक के अनंत द्रव्य-गुण-पर्यायों को तीनों काल के पदार्थों का एक ज्ञान करने वाले सर्व प्रत्यक्ष के भेद में केवलज्ञान लिया जाता है। इन्हें इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं रहती।

अवधिज्ञान का स्वरूप :-

अवधि ज्ञान मर्यादा-सीमा के अर्थ में प्रयुक्त है। काल की तथा क्षेत्र की दोनों प्रकार की अवधि होती है। यहां क्षेत्रावधि से संबंध है। नियत क्षेत्र तक के पदार्थ इन्द्रियों तथा मन की मदद के बिना भी सीधे स्पष्ट ज्ञान के विषय बनें यह अवधिज्ञान कहलाता है। यह तथाप्रकार के अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होता है। द्रव्य-क्षेत्रादि से मर्यादित रूपी द्रव्य का ज्ञान अवधिज्ञान कहा जाता है। नन्दिसूत्रादि में यह दो प्रकार का मुख्य बताया गया है।

अवधिज्ञान

भव प्रत्ययिक — देवता तथा नारकी को

क्षयोपशम (गुण) प्रत्ययिक — अनुगामी अननुगामी वर्धमान हीयमान प्रतिपाती अप्रतिपाती — मनुष्य तथा तिर्यंच को

से किं तं ओहिणाण पच्चक्खं? ओहिणाण पच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-भवपच्चतियं च, खयोवसमियं च। दोन्हं भवपच्चतियं, तं जहादेवाणं च णेरतियाणं च। दोन्हं खयोवसमियं, तं जहा-मणुस्साणं च पंचेंदिय तिरिक्खजोणियाणं च।।)

नंदि सूत्र के आधार पर-प्रत्यक्ष अवधिज्ञान कैसा है? अवधिज्ञान प्रत्यक्ष

दो प्रकार का है। (१) भव प्रत्ययिक और (२) क्षायोपशमिक । भव प्रत्ययिक अवधिज्ञान–दो को होता है – एक देव गति के देवताओं को तथा दूसरा नरक गति के नारकी जीवों को। तत्त्वार्थ का सूत्र यही कहता है –''**भव प्रत्ययोनारक – देवानाम्**'' ।।१–२१।। भव अर्थात् आयु–जन्म, आयुष्य और नाम कर्म के उदय से प्राप्त होने वाली पर्याय, प्रत्यय अर्थात् निमित्त। भव का निमित्त लेकर जो अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जन्म के साथ ही उत्पन्न होता है वह भव प्रत्ययिक अवधिज्ञान कहा जाता है। जैसे पक्षी के उड़ने में आकाश निमित्त है वैसे देवता तथा नारकी जीवों का भव–जन्म ही इस भव प्रत्ययिक अवधिज्ञान के लिए निमित्त है। अतः स्वर्ग–देवलोक के देवताओं को स्वर्ग में जन्म लेते ही अवधिज्ञान प्राप्त हो जाता है उसी तरह नरक गति के नारकी जीवों को वहां जन्म लेते ही अवधिज्ञान प्राप्त हो जाता है, परंतु सभी का एक सरीखा समान नहीं होता है। उसमें भी तरतमता होती है, क्योंकि भव अवधिज्ञान की प्राप्ति में निमित्त कारण है परंतु समानता में नहीं। समानता इसलिए नहीं है कि सबका अपना अपना क्षयोपशम भिन्न भिन्न है। क्षयोपशम कम ज्यादा होने के कारण सभी को ज्ञान भी कम ज्यादा होता है। इसीलिए स्वर्ग (देवलोक) में ज्यों ज्यों ऊपर के देवलोक में जाय त्यों त्यों अवधिज्ञान का प्रमाण बढ़ता जाता है। स्वर्ग तथा नरक के जीवों में जो सम्यक् दृष्टि जीव होते हैं उनका अवधिज्ञान सम्यक् कहा जाता है, तथा जो मिथ्यादृष्टि जीव होते हैं उनका अवधिज्ञान मिथ्या अवधिज्ञान या विभंगज्ञान के रूप में कहलाता है। इस चित्र में देवलोक का देवता अपने अवधिज्ञान से नीचे तक कुछ नरक पृथ्वी तक स्पष्ट जान सकता है, देख सकता है। सभी नरक पृथ्वी के नारकी जीवों का अवधिज्ञान ऊपर की ओर अपने नरक बिलों के ऊपरी भाग तक है और तिरछे असंख्यात कोडाकोड़ी योजन तक रहता है। तथा नीचे सीमित भिन्न–भिन्न नरक पृथ्वीयों तक रहता है। उसी तरह देवलोक के देवताओं का अवधिज्ञान उपर की ओर अपने अपने विमान के ऊपरी भाग तक–अर्थात् ध्वजा तक रहता है। जबकि नीचे में किसी को पहली नरक पृथ्वी तक, किसी का २री, ३री, ४थी, ५वी, छट्ठी, ७वीं नरक पृथ्वी तक अवधिज्ञान रहता है। तथा तिर्च्छा असंख्यात कोड़ाकोड़ी योजन तक दिखाई देने वाला अवधिज्ञान होता है इतने क्षेत्र तक के रूपी पुद्गल द्रव्यों को देख सकते हैं। जान सकते हैं।

इन्द्रादि देवता का अवधिज्ञान :–

स्वर्गस्थ–देवलोक में रहे हुए इन्द्रादि देवता गण अपने अपने अवधिज्ञान के बल पर जानते हैं। यहां भरत क्षेत्र की पृथ्वी पर तीर्थंकर भगवंतों का च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान तथा निर्वाणादि कल्याणक होने पर सर्व प्रथम देवलोक के

देवता इन्द्रादि को पता चलता है। इन्द्र का सिंहासन चलायमान होता है। जिससे इंद्र विचार में पड़ता है, सोचने लगता है, फिर अपने ज्ञान का उपयोग रखने से उसे पता चलता है, ओहो! तीन लोक के नाथ तीर्थंकर भगवान का जन्म हुआ है। अतः भगवान का जन्मोत्सव करने चलें। फिर इंद्र हरिणेगमेषी देव को बुलाकर सुघोषा घंट बजाकर सभी देवलोक के देवताओं को संदेश भेजता है। इन्द्र की सूचना से अनेक देवी-देवता जन्माभिषेक महोत्सव के लिए आते हैं-प्रभु को मेरू पर्वत पर ले जाते हैं और वहां भगवंत का जन्माभिषेक करते हैं। इसी तरह इन्द्रादि देवता भगवान के दीक्षा, केवलज्ञान तथा निर्वाण आदि कल्याणक प्रसंगों को अवधिज्ञान के बल पर जानकर उन उन प्रसंगों पर आते हैं,कल्याणक मनाते हैं। इसी तरह अवधिज्ञान के बल पर जानकर अन्य कई प्रसंगों पर देवता गण आते-जाते हैं। वे प्रवृत्त होते हैं। परंतु नरक गति के नारकी जीव नहीं आ सकते। वे दुःख-त्रास-पीड़ा से संतप्त है। देवता आकर समवसरण में बैठकर देशना श्रवण करते हैं। नंदीश्वर द्वीप में जाकर अष्टान्हिका महोत्सव करते हैं। इस तरह अवधिज्ञान देवताओं के लिए जन्मतः ही उपयोगी होता है।

क्षायोपशमिक अवधिज्ञान :-

यह अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम विशेष के आधार पर होता है, अथवा तथा-प्रकार के अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से आत्मा के अवधिज्ञान गुण की उत्पत्ति के आधार पर इसी का दूसरा नाम 'गुण प्रत्ययिक' भी है। गुण निमित्त से जगने वाला ज्ञान। यह भव प्रत्ययिक की तरह जन्म से ही नहीं होता है, तथा किसी भी गति में जन्मजात होने वाला नहीं है। हां, यह अवधिज्ञान सिर्फ मनुष्य गति तथा तिर्यंच गति में ही होता है। परंतु वह भी अवधिज्ञानारणीय कर्म का जितना क्षयोपशम होता है उतना अवधिज्ञान प्राप्त होता है। उसी तरह तिर्यंच गति के पशु-पक्षीयों को भी होता है। पशु-पक्षी भले ही तिर्यंच गति के हों, परंतु वे भी जीव तो है, संज्ञि समनस्क पांच इन्द्रिय वाले पंचेन्द्रिय जीव है। हमारी और उनकी आत्मा समान ही है। कर्म संयोग वश उन्हें पशु-पक्षी का जन्म मिला है। तिर्यंच गति मिली है। संभव है मनुष्य की ही आत्मा या देवता की आत्मा तथाप्रकार के कर्म बांधकर तिर्यंच गति में गई हो। आत्मा वही है। कर्मानुसार देह पर्याय बदलती रही है। अतः ज्ञान आत्मगुण है। न कि देह गुण है, अतः देह को नहीं होता। आत्मा को होता है। और जबकि ज्ञान आत्मा को होता है तो जो भी कोई आत्मा तथाप्रकार के अवधिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम जितने प्रमाण में करेगी उसे उतने प्रमाण में अवधिज्ञान प्राप्त होगा। इस ज्ञान वाला वह जीव अवधिज्ञानी कहलाएगा। चाहे मनुष्य या पशु-पक्षी का जिस किसी का भी शरीर हो।

अवधिज्ञान के ६ भेद

(१) अनुगामि – एक जगह से दूसरी जगह जाने पर भी जो अवधिज्ञान आंखों की तरह साथ ही रहे उसे अनुगामि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस जगह जिस जीव को यह अवधिज्ञान प्राप्त होता है वह जीव यदि उस जगह को छोड़कर अन्यत्र भी जावे तो भी अवधिज्ञान साथ ही रहता है। उतना ही रहता है। किसी भी क्षेत्र से समान रूप से संख्यात–असंख्यात योजन तक देख सकता है, जान सकता है।

(२) अननुगामि – उपरोक्त अनुगामि से उल्टा अर्थ अननुगामि का है। अर्थात् जिस प्रदेश में, क्षेत्र में, जगह में अवधिज्ञान प्रकट हुआ हो उस क्षेत्र को छोड़कर यदि वह जीव अन्य स्थान पर जाता है तो वह अवधिज्ञान साथ नहीं रहता, चला जाता है। वह अननुगामी अवधिज्ञान कहलाता है।

(३) वर्धमान – वर्धमान का अर्थ है वृध्दिगत, बढ़ता हुआ। जो अवधिज्ञान एक बार होने के बाद भी परिणाम विशुध्दि के साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा के लिए दिन दिन बढ़ता रहे उसे वर्धमान प्रकार का अवधिज्ञान कहते हैं।

(४) हीयमान – यह उपरोक्त वर्धमान का उल्टा है। एक बार अवधिज्ञान हो जाने के बाद परिणामों–अध्यवसायों की अशुध्दि के कारण दिन–प्रतिदिन घटता जाय वह हीयमान प्रकार का अवधिज्ञान कहलाता है।

(५) प्रतिपाति – प्रतिपाति का अर्थ है गिरना, नष्ट होना। जो अवधिज्ञान प्रकट होकर, जैसे–दीपक एकाएक हवा के झोंके से बुझ जाय उस तरह–एका–एक गायब हो जाय, चला जाय या नष्ट हो जाय उसे प्रतिपाति अवधिज्ञान कहते हैं।

(६) अप्रतिपाति– यह उपरोक्त पांचवे प्रकार से बिल्कुल उल्टा है। अप्रतिपाति = नष्ट न होने वाला। जो अवधिज्ञान एक बार प्रकट होकर कभी भी नष्ट न हो, वह अप्रतिपाति अवधिज्ञान कहा जाता है। यह केवलज्ञान के प्रकट होने के अंतर्मुहुर्त पहले प्रकट होता है,उसके बाद केवलज्ञान हो जाता है तो यह उसमें समा जाता है। अतः इसके नष्ट होने का प्रश्न ही नहीं आता। अतः अप्रतिपाति अवधिज्ञान को ही परमावधि अवधिज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञानी कम से कम अनंत रूपी द्रव्यों को जानते–देखते हैं। उत्कृष्ट से संपूर्ण रूपी द्रव्यों को भी जान–देख सकते हैं। असंख्य योजन तक लोक जान सकते हैं। अलोक भी जान सकते हैं। काल की दृष्टि से असंख्य उत्सर्पिणी–अवसर्पिणी अतीत–अनागत काल के रूपी पदार्थों को जान सकते हैं। इसमें इन्द्रियां तथा मन की आवश्यकता नहीं रहती है। आत्मा स्वयं आत्म प्रत्यक्ष से जानती–देखती है।

चौथा मन:पर्यव ज्ञान :-

तीसरे अवधिज्ञान के बाद चौथा क्रम मनःपर्यवज्ञान का आता है।

मणपवज्जवनाणं पुण, जणमणपरिचिंतियत्थपागडणं।
माणुस खेत्त निबध्दं, गुणपच्चइयं चरित्त्वओ ।।८१०।।

जीवों के व्दारा मन में चिंतित अर्थ को प्रकट करने वाला ज्ञान मनःपर्यवज्ञान कहलाता है। वह मनःपर्यवज्ञान मनुष्य क्षेत्र प्रमाण विषयवाला है। तथा गुण प्रत्ययिक चरित्रवान् साधु महात्मा को ही होता है। मनःपर्यवज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर यह मनःपर्यवज्ञान प्रकट होता है। इससे संज्ञि-समनस्क-मन वाले पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भाव को जान सकते हैं। किसी ने मन में क्या सोचा हैं? किस वस्तु का विचार किया है? उसे मनःपर्यवज्ञानी जानकर शिघ्र ही बता सकते हैं। मनःयर्पवज्ञान यह आत्म प्रत्यक्ष ज्ञान है। अतः मनःपर्यवज्ञानी को अपने मन से ज्ञान करने की आवश्यकता नहीं है। मन और इन्द्रियां तो मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान में उपयोग में आती है। आत्म प्रत्यक्ष ज्ञान में मन और इन्द्रियों का कोई उपयोग नहीं है। सीधे आत्मा से ही उत्पन्न होता है। अतः इसे मतिज्ञान या श्रुतज्ञान किसी में भी समाविष्ट नहीं कर सकते हैं। यह स्वतंत्र ज्ञान है। यदि स्वतंत्र नहीं होता और किसी ज्ञान का ही भेद होता तो अलग से स्वतंत्र नहीं बताते। फिर पांच ज्ञान कहां से होते? ज्ञान पांच है। मनःपर्यवज्ञान भी स्वतंत्र है। इसका कार्य सिर्फ मन वाले संज्ञि पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को मन की विचारी हुई बातों को जानना मात्र है। जगत में जिन जीवों को मन मिला ही नहीं है, जो बिना मन वाले हैं वे एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रियवाले कीड़े-मकोड़े, मक्खी, मच्छर-भंवरे आदि जीवों को मन मिला ही नहीं है, अतः वे असंज्ञि-अमनस्क गिने जाते हैं। उसी तरह पंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य में भी बिना मन वाले असंज्ञि समुर्छिम जीव होते हैं। असंज्ञि जीवों को तो विचार करने का सवाल ही खड़ा नहीं होता अतः उनके मनोगत विचारों को जानने की आवश्यकता ही नहीं रहती। जो संज्ञि समनस्क अर्थात् मनवाले जीव हैं अर्थात् हमारे जैसे मनवाले मनुष्य तथा हाथी, घोड़ा, बैल, बकरी, गाय, भैंस, ऊंट आदि पशु तथा कौआ, मैना, तोता, कबुतर, चिड़ीया आदि पक्षी ये सभी मनवाले संज्ञि जीव है अतः इनके मनोगत भावों को जो जान सके कि इन्हो ने अपने मन में क्या सोचा है? किस वस्तु के बारे में विचार किया है यह मनःपर्यवज्ञानी अपने मनःपर्यवज्ञान के बल पर बता सकते हैं। बताने में मनःपर्यवज्ञानी को अनुमान नहीं करना पड़ता है। मति-श्रुत की मदद नहीं लेनी पड़ती और इन्द्रियां तथा मन का भी उपयोग नहीं करना पड़ता। अतः यह स्वयं स्वतंत्र रूप से आत्म प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट दिखाई देता है कि इसने अपने मन में क्या सोचा है? किस वस्तु का विचार

किया है? यह जानकर सीधे ही बता देते हैं। अधिक स्पष्टता की दृष्टि से इसके २ प्रकार बताएं हैं **ऋजु-विपुलमती मनःपर्यायः।।२५।।**

मनः पर्यवज्ञान

ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान — विपुलमति मनः पर्यवज्ञान

इस तरह चौथे मनःपर्यवज्ञान के सिर्फ दो ही भेद होते हैं। पहले से दूसरे में विशुध्दि ज्यादा है।

(१) ऋजुमति मनः पर्यवज्ञान– दूसरे किसी ने मन में सोचे हुए पदार्थ-घट-पट आदि के सामान्य स्वरूप को जानना अर्थात् इसने घडे लाने का विचार किया है, घड़ा यहाँ रखने का विचार किया है। इस तरह साधारण रूप से मनोगत चिंतीत वस्तु को बताना यह ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान में विपुलमति वाले की अपेक्षा स्पष्टता कम रहती है। यह ज्ञान आकर नष्ट भी हो जाता है। नहीं भी टिकता है। अतः प्रतिपाती है।

(२) विपुलमति मनः पर्यवज्ञान – यह विपुलमति वाला है। **विपुला मतिरस्य स विपुलमतिः।** ऋजुमति वाले ने जितना जाना है उससे काफी ज्यादा विस्तार से और गहराई में जाकर यह विपुजमति मनःपर्यवज्ञानवाले जानते हैं। दूसरे के मन में स्थित अनेक पर्यायों को जानना यह विपुलमति मनःपर्यवज्ञान है। जैसे-किसी व्यक्ति ने घडे का विचार किया है। विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी साफ-साफ़ बताकर कह देते हैं कि – इसने घडे का विचार किया है। उसमें भी इसने धातु के घडे का विचार किया है। धातु में भी सोने की धातु का घडा सोचा है। वह भी अमुक जगह का (जयपुर का) बना हुआ हो ऐसा सोचा है। वह भी अमुक रंग का, पीले रंग डिजाइन चित्रादि किये हुए हो ऐसा ऐसा सोचा है,इतने विस्तार से विशेष स्वरूप को बताए यह विपुलमति मनःपर्यवज्ञान कहलाता है। ऋजुमति वाले इतने विस्तार से इतना स्पष्ट नहीं बता सकते हैं। वह सिर्फ इतना ही कह सकते हैं कि इसने घडे का विचार किया है परंतु और गहराई में जाकर विस्तृत जानकारी नहीं दे सकते। अतः विपुलमति ज्यादा साफ स्वच्छ और स्पष्ट जानता है। यह कुटिल मनवाले की टेढी-मेढी बात को भी जान लेते हैं। किसी के द्वारा व्यक्त मन से या अव्यक्त मन से चिंतित या अर्ध चिंतित सभी प्रकार से साफ जान सकते हैं। किसी ने सुख-दुःख, जीने की, मरने की इच्छा, लाभ या नुकसानादि की विचारणाकी हो उसे भी विपुलमति स्पष्ट जान लेते हैं। विपुलमति ज्ञानी जघन्य से सात-आठ भव तथा उत्कृष्ट से गति-आगति की दृष्टि से असंख्य भवों को जान लेते हैं। उत्कृष्ट से मानुषोत्तर पर्वत तक के समस्त ढाई द्वीप के सभी संज्ञि जीवों के मनोगत भावों को

स्पष्ट रूप से जान सकते हैं। विपुलमति मनःपर्यवज्ञान अप्रतिपाती है। आकर वापिस नहीं जाता। केवलज्ञान की प्राप्ति तक टिकता है। अतः विपुलमति मनःपर्यवज्ञान जिस किसी को भी हो गया उसे केवलज्ञान निश्चित होगा। इसमें संदेह नहीं है, अतः यह ज्यादा विशुद्धता है। **विशुद्धि क्षेत्र स्वामि विषयेक्योऽवधि मनः-पर्याययोः ।।२७।।** विशुद्धि अर्थात् निर्मलता, क्षेत्र अर्थात् जहां के पदार्थों को जानना है, स्वामी अर्थात् उस ज्ञानवाले, और विषय अर्थात् ज्ञेय पदार्थ इन चारों बातों की दृष्टि से अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान सभी के एक सरीखे नहीं होते हैं। एक दूसरे की अपेक्षा सभी के ज्ञान में न्यूनाधिक की तरतमता होती है। कम ज्यादा रहता है। क्योंकि किसी की निर्मलता ज्यादा है तो किसी की निर्मलता कम है। इस तरह विशुद्धि के आधार पर न्यूनाधिकता रहती है। मनःपर्यवज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा सूक्ष्मग्राही तथा विशुद्धतर है। मनःपर्यवज्ञान की अपेक्षा अवधिज्ञान का क्षेत्र जरूर बड़ा है। अवधिज्ञानी लोक-अलोक के रूपी द्रव्यों को देखते-जानते हैं। जबकि मनःपर्यवज्ञानी सिर्फ ढाई द्विप प्रमाण मनुष्य क्षेत्र के ही संज्ञि जीवों के मनोगत भाव जानते हैं। ढाई-द्वीप-अर्थात् (१) जंबुद्विप पुरा, दूसरा घातकी खंड भी पुरा, तीसरा पुष्कर द्विप आधा ही। क्योंकि पुष्कर द्विप जो १६ लाख योजन विस्तार वाला है उसके ठीक बीचोबीच पूरा गोल मानुषोत्तर पर्वत है। यही मनःपर्यवज्ञानी की अंतिम सीमा है। अतः ढाई द्वीप के ४५ लाख योजन का विस्तार अर्थात् ८ + ८ + ४ + २ + १ + २ + ४ + ८ + ८ = ४५। इस तरह ढाई द्वीप के मनुष्य क्षेत्र का प्रमाण है। इतने ढाई द्वीप रूप ४५ लाख योजन विस्तार वाले मनुष्य क्षेत्र के संज्ञि पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों का मनःपर्यवज्ञानी जानते हैं।

विमला तमा दिशा रे, जाणे ज्योतिष व्यंतर ठाण;
तिर्छालोक मां रे, भाख्यु एह प्रमाण ।।२।।
अधोलोकमां रे, योजन सो अधिकेरा जाण।
संज्ञिजीवना रे, जाणे मन चिंतन मंडाण ।। ३ ।।

मनः पर्यवज्ञानी निर्मल ऐसी उर्ध्वदिशा में ज्योतिष्क मंडल तक जानते हैं। क्योंकि ज्योतिष्क मंडल के सूर्य-चंद्र-ग्रह-नक्षत्र-तारा आदि तीर्छालोक के प्रमाण में ही गिने जाते हैं। तथा तमा अर्थात् अंधकारवाली अधोदिशा में (नीचे) व्यंतरों के स्थान तक जानते हैं। अर्थात् उपर ९०० योजन तथा नीचे भी ९०० योजन तक जो तिर्छालोक का प्रमाण है उतना ही मनःपर्यवज्ञानी का क्षेत्र है। कुल ऊपर-नीचे मिलाकर १८०० योजन तथा तिर्छा ४५ लाख योजन परिमित क्षेत्र में अधो में १०० योजन ज्यादा इसलिए कि महाविदेह के नीचे १००० योजन नीचा क्षेत्र है। अतः नीचे १०० योजन ज्यादा। वहां तक के जीवों के मन के पर्यायों अर्थात् विचारों

को मनःपर्यवज्ञानी जानते हैं।

यह मनःपर्यवज्ञान सिर्फ मनुष्य गति में ही होता है। देव-नरक तथा तिर्यंच गति के जीवों को सर्वथा नहीं होता हैं। मनुष्य गति में भी सिर्फ गर्भज संज्ञि पंचेन्द्रिय पर्याप्ता कर्मभूमिज मनुष्यों में भी सिर्फ छट्ठे-सातवें गुणस्थान वाले विशुद्ध चारित्रधारी साधु-मुनि-महात्मा को ही होता है। छट्ठे से बारहवें गुणस्थान तक ही यह रहता है। तीर्थंकर भगवंतो को जन्म से मति-श्रुत और अवधि तीन ही ज्ञान होते हैं। चौथा ज्ञान जन्म से नहीं होता हैं, परंतु जब तीर्थंकर दीक्षा लेकर साधु बनते हैं कि उसी समय उनको चौथा मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है। तब तक नहीं जब तक साधु नहीं बनते हैं, यह गृहस्थ संसारी को नहीं होता है। सिर्फ संयमी साधु को ही होता है। साधु में भी विशुद्ध-निर्मल चारित्र की विशुद्धता वाले को ही होता है सभी को नहीं। यह विच्छेद गया हुआ होने के कारण वर्तमान में मनःपर्यवज्ञान किसी को नहीं है और किसी को होगा भी नहीं।

केवलज्ञान :-

अह सव्व दव्व परिणाम, भाव विन्नति कारणमणंतं।
सासयमप्पडिवाई, एगविहं केवलनाणं ॥ ८२३ ॥

सर्व द्रव्यादि के परणाम की सत्ता को विशेष रूप में जानने वाला (जानने के कारण भूत) अनंत शाश्वत और अप्रतिपाती ऐसा केवलज्ञान है। यह एक प्रकार से ही है। इसके कोई प्रकार या भेद नहीं है। वर्णन किये गए चार ज्ञानों के बाद कोई ज्ञान का भेद नहीं है। यही अंतिम ज्ञान है। अंतिम प्रकार का ज्ञान है। ज्ञान की चरम सीमा केवलज्ञान है। केवलज्ञान में केवल शब्द का अर्थ है - '**बाह्याभ्यन्तर क्रिया-विशेषान् यदर्थं केवन्ते तत्केवलम्**' तत्त्वार्थ वार्तिककार कहते हैं कि-जिसके लिए बाह्य और आभ्यन्तर विविध प्रकार के तप तपे जाते हैं। वह लक्ष्य भूत केवलज्ञान है। केव धातु से केवन्ते अर्थात् सेवन्ते '**केवन्ते सेवन्ते तत्केवलम्**' जो तपादि सेवे जाते हैं उससे उत्पन्न सिर्फ ज्ञान ही ज्ञान वह केवलज्ञान है। '**अध्युत्पन्नो वाऽसहायार्थः केवल शब्दः**' जैसे केवल अन्न ही खाता है। यहां केवल शब्द असहाय अर्थ में है। अर्थात् दूसरे किसी की सहायता नहीं है। सिर्फ अन्न ही खाता है, शाक रहित असहाय अन्न खाता है। उसी तरह - '**क्षायोपशमिक ज्ञानासंपृक्तम् असहायं केवलं इत्यव्युत्पन्नोऽयं शब्दो द्रष्टव्यः**' अर्थात् क्षायोपशमिक आदि पहले के चार ज्ञानों की सहायता के बिना असहाय केवलज्ञान है। केवल ज्ञान ही ज्ञान है। केवल अर्थात् सिर्फ-पूर्ण संपूर्ण ज्ञान ही ज्ञान है। Only शब्द सिर्फ या केवल अर्थ में है। चेक या ड्राफ्ट पर जब Only शब्द लिखते हैं तब

यह अर्थ निकलता है कि एक हजार रुपए से कम भी नहीं और अधिक भी नहीं। पूरे एक हजार। उसी तरह यह केवलज्ञान में सिर्फ ज्ञान ही ज्ञान है, पूर्ण-संपूर्ण अनंत ज्ञान ही ज्ञान है। अनंत से कम भी नहीं और अनंत से ज्यादा भी नहीं। अनंत से ज्यादा तो संभव भी नहीं है। अतः ऐसे केवल ज्ञानी का विषय अनंत द्रव्य है। अनंत जगत है। अनंत लोक-अलोक है।तत्त्वार्थ में सूत्र है- '**सर्व द्रव्य पर्यायेषु केवलस्य ।।३१ ।।** सभी द्रव्य तथा सभी द्रव्यों की सभी पर्याय केवलज्ञान के विषय हैं। समस्त जगत् में द्रव्य कितने हैं? अनंत हैं। जगत् अनंत द्रव्यों-वस्तुओं से भरा पड़ा है। द्रव्य मुख्य रूप से दो हैं एक जीव और दुसरा अजीव। जगत् में निगोद से लगाकर सिद्धों तक अनंतानंत जीव हैं। उसी तरह अजीव है (१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) काल तथा (५) पुद्‌गलास्तिकाय ये मुख्य पांच भेद हैं। धर्मास्तिकाय जो गति सहायक असंख्य प्रदेशी द्रव्य समस्त चौदह राजलोक में फैला हुआ है वह अरूपी होते हुए भी केवलज्ञान का विषय बनता है। उसी तरह अधर्मास्तिकाय जो स्थिति सहायक गुणवाला, असंख्य प्रदेशी, लोकव्यापी, अरूपी द्रव्य है उसे भी केवलज्ञानी प्रत्यक्ष जानते हैं। आकाशास्तिकाय जो अवकाश देने के स्वभाववाला द्रव्य है। यह भी अरूपी अनंत प्रदेशी द्रव्य है। यह लोक अलोक सर्वत्र व्यापी है। यह क्षेत्र हैं। इसमें रहने वाले सभी अन्य द्रव्य क्षेत्री है। इसे भी केवली अच्छी तरह जानते हैं। देखते हैं। लोकाकाश कितना बड़ा है। कितना लम्बा चौड़ा है? यह भी केवली ने ही बताया है कि लोक १४ राजलोक परिमित क्षेत्र है। लोक व्यापी आकाश को लोकाकाश कहते हैं, तथा अलोक अनंत है। अलोक अर्थात् लोक के बाहरी आकाश को अलोकाकाश कहते हैं। उसकी कोई सीमा नहीं है। दोनों के आकाश प्रदेश अखंड रूप से एक दूसरे से जुड़े हुए एक स्वरूप है। अतः संपूर्ण आकाश एक अखंड द्रव्य है। घटाकाश-मठाकाश आदि उपाधि भेद से जैसे आकाश के भेद बनते हैं वैसे ही एक अखंड आकाश के लोक के उपाधि भेद से लोकाकाश तथा अलोकाकाश भेद पड़े हैं। परंतु दोनों के अंतर्गत आकाशास्तिकाय अखंड द्रव्य है। सब जो भी कुछ जीव तथा जड़ पुद्‌गलादि द्रव्य हैं वे सिर्फ लोक में ही है। अलोक में कुछ भी नहीं है। अलोक में पुद्‌गल का एक परमाणु भी नहीं हैं। सर्वथा संपूर्ण खाली-रिक्त प्रदेश हैं। वहां कुछ भी नहीं है। यह भी किसने बताया? कोई छद्मस्थ अल्पज्ञ या अज्ञानी तो नहीं बता सकते हैं। अतः सर्वज्ञ केवलज्ञानी ने ही यह सब कुछ बताया है'।

केवलज्ञान से केवली लोकालोक व्यापी :-

ईश्वर को सर्वव्यापी और घट-घट व्यापी कहने वाले वैदिक दर्शन में कई दोष आते हैं। ईश्वर स्वदेह से सर्व व्यापी हो सके यह संभव नहीं है। सैकड़ों दोष आते

हैं इसकी चर्चा दूसरे प्रवचन में कर चुके हैं। अतः जैन दर्शन सर्वज्ञ परमात्मा को केवलज्ञान से सर्वव्यापी मानता है। जिसे केवलज्ञान हो जाता है ऐसे केवली सर्वज्ञ कहलाते हैं। 'सर्व जानातीति सर्वज्ञः' जो जगत् के अनंत द्रव्यों को तथा एक एक द्रव्य की अनंत पर्यायों को जानते हैं वे सर्वज्ञ है। चाहें सर्वज्ञ कहें या अनंतज्ञ कहें या केवली कहें सभी समानार्थक शब्द हैं। अतः बात एक ही है। केवलज्ञानी जो तिर्छालोक के मध्य जम्बुद्वीप में बिराजमान है वे अपने स्थान पर बैठे बैठे अनंत लोकालोक प्रत्यक्ष देख रहे हैं। जान रहे हैं। उसी तरह सिद्धशिला पर बिराजमान सिद्ध केवली भी अपने अनंत ज्ञान से अनंत लोकालोक देखते हैं जानते हैं। सूर्य जैसे स्वप्रकाश किरणों से व्याप्त होता है वैसे ही केवली भी अपने अनंत ज्ञान से लोकोलोक व्यापी हो जाते हैं। अतः वे ज्ञानव्यापी कहे जाते हैं। इसलिए सर्वज्ञ के ज्ञान के बाहर लोक या अलोक का एक परमाणु भी रह नहीं सकता। एक परमाणु भी उनके अनंतज्ञान से अछूता नहीं रह सकता। अनंत असीम अलोक का एक परमाणु भी रह नहीं सकता। अनंत असीम अलोकाकाश का एक आकाश प्रदेश भी उनके ज्ञान के बाहर अछूता नहीं रह सकता। इसीलिए जबकि केवली ने यह कहा कि अलोक में जीव या जड़ पुद्गल कुछ भी नहीं है। एक परमाणु भी अलोक में नहीं है। यह कब कहा? देखकर जानकर फिर कहा। निगोद में अनंतानंत जीव है, असंख्य गोले हैं, और एक एक गोले में अनंत जीव है यह कब कहा? जब अनंत केवलज्ञान से जाना तथा केवलदर्शन से देखा तब कहा। वे सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय जो निगोद रूप कहलाते हैं और जब वे ही स्थूल (बादर) साधारण वनस्पतिकाय बन जाते है तब स्थूल आकार से दृष्टिगोचर होते हैं वे आलु, प्याज, लहसुन, गाजर, अदरक, शकरकंदादि के रूप में सामने आते हैं। वे अनंतकाय है। अनंत + काय = अनंतकाय कहलाते हैं। जीवों की संख्या उनमें अनंत है और रहने के लिए काया-शरीर एक है। अतः उन अनंतकाय पदार्थों में अनंत जीव रहते हैं जो खाद्य नहीं है, वर्ज्य है। यह तीर्थंकर सर्वज्ञों ने कहा है। अनंतदर्शन से देखा तब कहा।

अतः अलोक में या लोक में कुछ भी है यह कहने के लिए भी जानना और देखना आवश्यक है तभी है 'है' यह कहा जा सकता है। उसी तरह अलोक में कुछ भी नहीं है सिवाय एकमात्र आकाश के। यह भी कहने के लिए अनंत केवलज्ञान की ही संपूर्ण आवश्यकता है। जाने-देखे बिना कहना संभव नहीं है। यदि कह दे तो गलत सिद्ध हो सकता है। अतः सर्वज्ञों के सिद्धांत आज दिन तक अकाट्य रहे हैं क्यों? क्योंकि अनंत केवल दर्शन से जैसा देखा है, अनंत ज्ञान से जैसा जाना है वैसा ही प्रभु ने वीतरागता से जगत् के समक्ष कहा है। बताया है। अतः असत्य के रत्तीभर अंश की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

त्रिकालज्ञानी सर्वज्ञ :-

केवलज्ञानी सर्वज्ञ भगवंत त्रिकालज्ञानी होते हैं। भूत-वर्तमान तथा भविष्य के तीनों काल का ज्ञान केवली को एक समय एक साथ होता है। अतः एक ही व्यक्ति के भूतकाल के अनंतभवों को भी जानते हैं। देखते है। कहना क्रमभावि है। चूंकि शब्दोत्पत्ति क्रमभावि है। शब्द से कहने में क्रम की अपेक्षा अवश्य रहती है। हम भी एक हॉल में बैठे हुए ५-१० हजार लोगों को एक साथ देख सकते हैं जान सकते हैं परंतु यदि कहना होगा तो शब्द के माध्यम से ही सबके नाम कह सकेंगे, और शब्दोत्पत्ति मुंह से क्रमशः होती है। अ के बाद ब, फिर क, फिर ड, फिर उसके बाद ट, फिर उसके बाद म इस तरह कहने में क्रम की अपेक्षा होने से काल (समय) जरूर लगता है। परंतु केवलज्ञानी एक एक जीव के सबके भूतकाल के अनंत भव अच्छी तरह जानते हैं। वर्तमान अच्छी तरह जानते हैं, तथा भविष्य क्या है कैसा होने वाला है उसके घटक मूल द्रव्य को जानते हैं। यह वस्तु वर्तमान में जो है इसके पहले भूतकाल में कैसी थी? क्या थी? इस तरह इस मूल द्रव्य की भूतकाल में कितनी पर्यायें हो चुकी है? तथा भविष्य में इसी द्रव्य की और कितनी पर्याएं होगी? इत्यादि सब अच्छी तरह जानते हैं। सारा ज्ञान एक साथ होता है। उदाहरणार्थ सोना एक द्रव्य है। सोने की वर्तमान पर्याय अंगूठी है। इसके पहले क्या थी? हार था, कंगन था। या जो जो भी पर्याएं -अवस्थाएं-आकृतियां थी वे सब सर्वज्ञ जानते हैं। तथा अब भविष्य में आगे क्या क्या पर्यायें बनेगी? सब जानते हैं। अतः केवलज्ञान-केवलदर्शन त्रैकालिक है। तीनों काल का अनंतानंत ज्ञान इसमें भरा पड़ा है।

'हस्तामलकवत् प्रत्यक्षं ज्ञानं केवलज्ञानम्'। हस्त = हाथ, आमलक = आंवला। हाथ में आंवला या गेंद जो भी हो उसे हम चारों तरफ से रंग-आकार-साइज आदि एक साथ जिस तरह देख सकते हैं उससे भी अनंत गुना ज्यादा ज्ञान सर्वज्ञ केवलज्ञानी को होता है। केवली को मानों हाथ में अनंत ब्रह्मांड हो और चारों तरफ से अनेक अपेक्षाओं से, अनेक दृष्टिकोण से स्पष्ट दिखाई देता है, अच्छी तरह जानते हैं। ऐसा केवलज्ञान का स्वरूप है।

'अनंत ज्ञान' क्यों कहा ?

केवलज्ञान को अनंत ज्ञान क्यों कहा है? यहां अनंत शब्द का प्रयोग करके 'अनंतज्ञान' क्यों कहा है? आकाश अनंत है। लोक-अलोक अनंत है। सारा ब्रह्मांड अनंत है। इस समस्त लोक के अंदर जीव अनंत है। पुद्‌गल द्रव्य के पौद्‌गलिक पदार्थ अनंत है। उसी तरह एक एक पदार्थ के अनंत-अनंत धर्म है। 'अनंत धर्मात्मकं वस्तु' अनंत होती है। तथा एक एक द्रव्य की अनंत पर्यायें होती है। अतः केवलज्ञान से जो केवली भगवंत अनंत द्रव्यों के अनंत पर्यायों को जानते हैं

अतः ज्ञान भी अनंत है। जगत् में वस्तुएं अनंत है अतः सर्वज्ञ का ज्ञान अनंत होता है। अनंत ज्ञान से ही जगत् के अनंत पदार्थों का, एक एक पदार्थ की अनंत अनंत पर्यायों का ज्ञान होता है। जानते हैं देखते हैं। अतः केवलज्ञान को 'अनंतज्ञान' कहा है।

केवलज्ञान अभेद है। केवलज्ञान एकमेव अव्दितीय शुध्द पूर्ण सम्पूर्ण अनंतज्ञान है। यह सर्वथा क्षायिक भाव से प्रगट होता है। क्षयोपशम से नहीं। अतः केवलज्ञान में न्यूनाधिकता का सवाल ही खड़ा नहीं होता। इसलिए केवलज्ञान के भेद प्रभेद नहीं होते हैं। जहां भी होगा, जिस किसी को भी होगा, या जितनों को भी होगा सभी के केवलज्ञान में एकसी सादृश्यता रहेगी। कोई भेद नहीं होगा। रत्तीभर भी कम ज्यादापन एक दूसरे में नहीं होगा। सभी में केवलज्ञान एक सरीखा अनंत स्वरूप में ही होता है। ऐसा नहीं कि तीर्थंकर में ज्यादा और सामान्य केवली में कम, या गणधर में ज्यादा और मुनि केवली में कम ऐसा कभी भी नहीं होता है। सभी का केवलज्ञान एक सरीखा होता है सूर्य के उदित होने से तारा-चंद्रादि का प्रकाश नहीं रहता सभी का प्रकाश सूर्यवत् तेजस्वी-प्रतापी होता है। अन्य चारों ज्ञान केवलज्ञान में मिल जाते हैं। केवलज्ञान हो जाने के बाद अन्य मति आदि चारों ज्ञानों का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहता। सभी केवलज्ञान में सम्मिलित हो जाते हैं। अतः केवलज्ञान एक स्वतंत्र निर्भेद होता है।

ऐसा अनंत वस्तु विषयक अनुपम अव्दितीय केवलज्ञान हम सब प्राप्त करें, सभी केवली सर्वज्ञ बनें ऐसी अनंतज्ञानी सर्वज्ञ भगवंतो के चरणारविंद में अनंतानंत बार प्रार्थना करते हैं।

।। सर्वेऽपि सन्तु ज्ञानिनः ।।

ACHARYA SRI KAILASSAGARSURI GYANMANDIR
SRI MAHAVIR JAIN ARADHANA KENDRA
Koba, Gandhinagar-382 009
Phone : (079) 23276252, 23276204-0

थाणा के जैन संघ का स्वर्णिम इतिहास

आर्यावर्त भारतदेश के दक्षिण में महाराष्ट्र राज्य के सह्याद्री की पर्वतमाला तथा अरबी समुद्र की खाडी के किनारे, कोंकण प्रदेश में, थाणा एक ऐतिहासिक नगरी है। श्रीपाल रास में जिसका ऐतिहासिक वर्णन प्राप्त होता है कि...धवल शेठ के द्वारा समुद्र में फेंके गए श्रीपाल राजा मगरमच्छ की पीठ पर बैठकर थाणा नगरी के समुद्री किनारे आए थे। थाणा के वसुपाल राजा ने श्रीपाल का स्वागत किया और अपनी राजकुमारी मदनमंजरी ब्याही, अपने दामाद बनाकर थाणा का राज्य उन्हें सोंपा था। इस तरह थाणा श्रीपाल का ससुराल तथा राज्य रहा हुआ था। थाणा नगरी में श्रीपाल राजा ने नवपद - सिद्धचक्र की आराधना की थी। इस इतिहास को करीब ग्यारह लाख वर्ष बीत चूके हैं।

थाणा बंदरगाह के रुप में विकसित हुआ। समीपस्थ मुंबई के साथ बडे पुलो द्वारा रेल्वे एवं रास्ते से जुडे हुए थाणा शहर का काफी विकास हुआ। कच्छी-गुजराती-रजस्थानी जैन प्रजा व्यापार-व्यवसायार्थे काफी अच्छी संख्यामें यहां आकर बसे। धर्मिष्ठ जैनों ने टेंभी नाका परिसर में सर्व प्रथम आदीश्वर प्रभु का भव्य जिनालय बनाया था। जिसे करीब १५० वर्ष व्यतीत हुए हैं। यद्यपि जीर्णोद्धार होकर पुनः प्रतिष्ठा भी हो चूकी है।

पू. आत्मारामजी म. के शिष्य पू. शान्तिविजयजी म. थाणा पधारे और स्वरोदय-प्रश्न तंत्र से मुनिसुव्रतस्वामी भ. का मंदिर बनाने की प्रेरणा दी। परिणाम स्वरुप बडी विशाल जगह लेकर केन्द्र में मुनिसुव्रतस्वामी भ. का विशाल मंदिर निर्माण किया। रंगमंडप में नवपद-सिद्धचक्र यंत्र का मंडलाकार मंदिर बनाया तथा दिवालों पर श्रीपाल रासादि अन्य चरित्र तथा तीर्थादि के पाषाण शिल्प की रंगीन कलाकृति उत्कीर्ण की गई है, जो दर्शनीय है।

पांच मंजिल का विशाल उपाश्रय-आराधना भवन है। आयंबिल शाला है। माणिभद्र प्रवचन हॉल है। श्री मुनिसुव्रतस्वामी जैन लायब्रेरी है। सामने साध्वीजी म. का उपाश्रय है। श्री विजय वल्लभ विद्यालय यहां चलती है। केसरीयाजी भवन धर्मशाला है। बहुत बडा कबूतर खाना-जीवदया का केन्द्र है। माणिभद्रवीर की देरी है। इस तरह **श्री ऋषभदेवजी महाराज जैन धर्म टेम्पल एंड ज्ञाति ट्रस्ट - श्री राजस्थानी श्वे.मू. जैन संघ** का विशाल संकुल है। कोंकण के शत्रुंजय तीर्थ के रुप में इसकी प्रसिद्धि है। खास करके शनिवार को यहां कई भक्तगण दर्शनार्थ आते हैं। सबके लिए भाता की व्यवस्था रखी है। श्री संघ द्वारा मानव क्षुधा तृप्ति केन्द्र कई वर्षो से चलाया जाता है। अनुकंपा के इस कार्य में गरीबों को खिचडी आदि का भोजन प्रतिदिन दिया जाता है।

यहां वर्षों से अनेक पू. आचार्य भगवंतो, पदस्थों, पू. साधु, साध्वीजी म.सा. के चातुर्मास होते ही रहते हैं। नियमित प्रवचन श्रवण, धर्मध्यान आराधना आदि चलती रहती है। सुंदर पाठशाला यहां चलती है। कई बच्चे धार्मिक अभ्यास करते हैं। थाणा नगरी में प्रतिवर्ष जैनों की आबादी बढती ही जा रही है। यह थाणा में जैनों के स्वर्णिम इतिहास की प्रगति का चितार है।

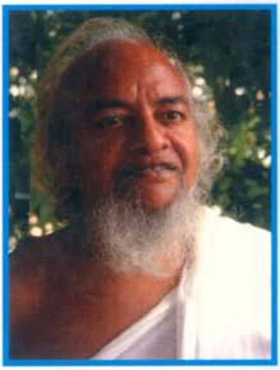

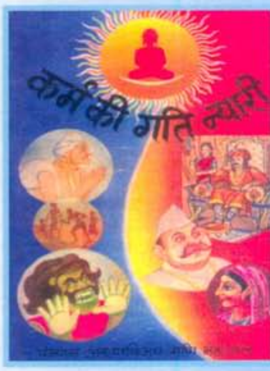
कर्म की गति न्यारी

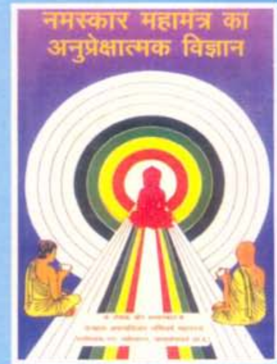
नमस्कार महामंत्र का
अनुप्रेक्षात्मक विज्ञान

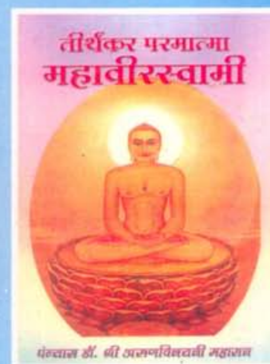
तीर्थंकर परमात्मा
महावीरस्वामी
पंन्यास डॉ. श्री अरुणविजयजी महाराज

નવકાર જાપ – ધ્યાન – સાધના

કર્મ તણી ગતિ ન્યારી...

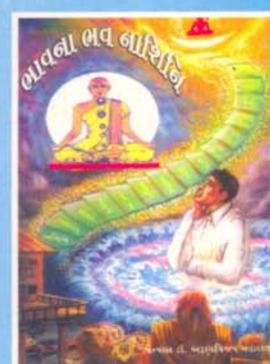
ભાવના ભવ નાશિની

आध्यात्मिक
विकास यात्रा

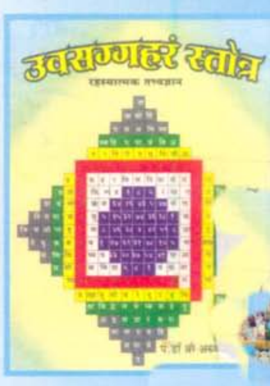
उवसग्गहरं स्तोत्र
रहस्यात्मक तत्त्वज्ञान